संयोग की छाया

र समय हँसने लगता, लोग लोटन कबू-
र, कभी-कभी जब वह वेदना की
लम्बी आह खींच लेता, उस
र क्या बीतने लगती थी !
नी रहती थी। कभी
रीवों का वह छोटा सा इस तरह पड़ा रहता
खेतों और बगीचों से घिर
कारण बड़ा ही सुहावना ल इस अवस्था-परि-
मानो वैभव के प्रकाश में दी क आदमी जानता
छवि लहरा रही थी। वहीं ता, पर उसी का
प्रणय रोज कॉलेज आय ही पढ़ता था, पर
। कभी अपने दो-चार साथियों के साथ ने की राह दूसरो
: कभी बच्चों की तरह खुले दिल से
र गाता हुआ, कभी करुणा से भरी ह
डूब कर; कभी सङ्गीत का साकार वैभ नी के बदले आग
वेदना का बिखरा हुआ उच्छ्वास ! पे अकेला ही आ
पने साथियों का दुलारा पागल था। कुछ पास न आता
पागलपन से जलते भी थे—वही, जो प्रेम र, वह सिर
लसा की लार टपकाया करते हैं; स्नेह के पर्दे रास्ता तय
पूजा किया करते हैं; जिनकी आँखें केवल ती में डूबा हुआ
पीना जानती हैं—हृदय का छिपा हुआ ा, जैसे सवेरे की
पातीं। मगर ऐसे लोगों की संख्या कम

हवा खाने निकला हो। धूप और गर्मी की कोई परवाह नहीं। वेदना से पके हुए जीव को शायद सन्ताप की ज्वाला भी शीतल ही मालूम पड़ती है!

तन्मयता की उन्हीं लहरों से टकराता हुआ वह सुन्दरपुर की ठण्ढी गली में आ पहुँचा। गली एक दरवाज़े के पास जाकर कुछ चौड़ी हो गई थी। वहाँ एक नीम का वृक्ष भी था। प्रणय कभी-कभी उसी वृक्ष की छाया में कुछ देर सुस्ता कर तब आगे बढ़ता था। उसके नीचे खेलने वाले बच्चों को एक बार खिलखिला कर हँसाए बिना वहाँ से जाने का उसका मन ही नहीं करता। ग़रीबों के बच्चे चाहे सुन्दर न हों, पर सरल होते हैं; वे सुकुमार नहीं होते—सहृदय होते हैं; चालाक नहीं होते—भोले होते हैं। प्रणय उन्हीं देहाती बच्चों के बीच अपना स्वर्ग बसाया करता था।

उस दिन उस वृक्ष के नीचे पहुँचते ही उसने देखा, धरती पर चाँद उतर आया है—साल-डेढ़ साल का एक बड़ा ही सुन्दर बालक खेल रहा है। उसके पास ही एक अधेड़ औरत भी बैठी हुई थी। गाँव के और-और बच्चे भी वहाँ मौजूद थे। प्रणय को देखते ही सब चिल्ला उठे—पढुआ बाबू! पढुआ बाबू!!

प्रणय भी सिर झुका-झुका कर उन्हीं की भाषा में कुछ बड़बड़ाने लगा। मगर आज उन बच्चों के साथ खेलने

में उसने वैसी दिलचस्पी नहीं दिखाई। धीरे से जाकर उस नए बालक के समीप बैठ गया। वह औरत अपने दरवाजे पर से रोज़ ही प्रणय को आते-जाते और उन बच्चों के साथ चुहल करते देखती थी। वह अपने सिर का वस्त्र सँभालती हुई उठ बैठी।

उसके इस शील-सङ्कोच से घबड़ा कर प्रणय बोल उठा—नहीं-नहीं, आप उठती क्यों हैं? बैठिए न, मैं तो इसी तरह रोज़ खेलता-कूदता चला जाता हूँ।

इतना कह कर वह उठ खड़ा हुआ। मगर यह क्या? उसके तो पैर ही नहीं बढ़ रहे थे! न जाने उनमें कौन सी बेड़ी पड़ गई!

वह पागलों की तरह धीरे-धीरे बड़बड़ाता हुआ फिर जहाँ का तहाँ ही बैठ गया—ना, इस भोलेपन की पूजा किए बिना, एक बार इस बच्चे को जी भर प्यार किए बिना, मुझसे टला न जायगा। न जाऊँगा—हर्गिज़ नहीं जाऊँगा, कोई लाठी मार कर भी भगाए तो न जा सकूँगा। इसकी इस सौन्दर्य-छाया मे घड़ी भर बैठे बिना मैं कहीं नहीं जाऊँगा।

उसकी नस-नस में अमृत की धारा उमड़ पड़ी। उसकी उस बड़बड़ाहट को सुन कर वह औरत चुपचाप गाछ से सट कर खड़ी हो गई। वह अबोध बालक टुकुर-टुकुर

उसकी ओर ताकने लगा। प्रणय की आँखों में आँसू थे, बालक के अधरों पर चकित भोलापन था; और थी उस औरत के मुरझाए हुए मुख-मण्डल पर विषाद की गहरी छाया!

प्रणय ने चटपट अपनी जेब से लाल रङ्ग की एक पेन्सिल निकाल ली और उसे बालक के हाथों तक पहुँचा कर कहा—बच्चा, यह लोगे!

बच्चों के आगे कोई भी चीज़ रख दी जाय, उसे लेने को वे अवश्य टूट पड़ते हैं। अगर चीज़ कहीं रँगी हुई हो, तब तो पूछना ही क्या?

बालक के अधरों पर मुस्कराहट नाच उठी। उसने हुलास-भरे हृदय से उस पेन्सिल को लेने के लिए ज्योंही हाथ बढ़ाया, त्योंही प्रणय ने अपना हाथ खींच लिया। पेन्सिल उसने अपनी जेब में रख ली। वहाँ जितने बच्चे थे, सभी खिलखिला उठे। प्रणय भी बच्चों की तरह ताली पीट-पीट कर हँसने लगा, पर उस बच्चे का चेहरा उतर आया। अभी-अभी जहाँ उषा की लालिमा नाच रही थी, वहीं सन्ध्या की श्याम छाया घिर आई! उसने प्रणय की ओर से अपना मुँह फेर लिया। लाख चेष्टा करने पर भी प्रणय उसे अपनी ओर न फिरा सका। उसका हृदय भर आया। वह जानता था कि हाथ फैलाने पर भी अगर कुछ

न मिले तो कितनी निराशा, कितनी ग्लानि और कितनी मार्मिक पीड़ा हुआ करती है। एकाएक वह रो पड़ा—इस तरह, जैसे बिच्छू की डङ्क खाकर बच्चे रो पड़ते हैं।

उसने झपट कर बालक को उठा लिया—उसे अपनी गोद से चिपका लिया। जेब से फिर पेन्सिल निकाल कर उसके हाथों पर रख दी, मगर बच्चे ने उसे स्वीकार नहीं किया। पेन्सिल ज़मीन पर गिर पड़ी। बच्चा मचल कर नीचे उतर पड़ा। वह न रोता था, न हँसता था; सिर्फ़ टुकुर-टुकुर प्रणय का मुँह ताक रहा था।

उसी समय प्रणय के कानों में आवाज़ आई—देकर जो चीज़ छीन ली जाती है, उसे फिर कोई कैसे ले, बाबू जी?

प्रत्येक शब्द में कलेजे की चीख थी—जीवन का दारुण सत्य बेहोश होकर इस मर्म-भरी वाणी के भीतर तड़प रहा था!

प्रणय ने आँखें ऊपर उठाईं। देखा, गाछ की छाया में उस अधेड़ औरत के साथ कोई और खड़ी थी। उसकी आँखें झुक गईं। वह कुछ जवाब न दे सका। एक लम्बी साँस खींच कर खड़ा हो गया। एक बार उसने फिर उस बालक को सजल नेत्रों से देखा और अपनी राह नापी।

२

दूसरे दिन जब वह कॉलेज चला, तो उसका हृदय भरा

हुआ था। साथियों को चिन्ता हुई कि आज रास्ता बुरी तरह कटेगा। हँसने-बोलने का सामान ही नहीं रह गया। उस दिन धूप भी बड़ी तेज़ थी। कुछ ऐसा मसाला आवश्यक था, जिससे चलना न अखरे। प्रणय की वह मुहर्रमी सूरत आज साथियों को अच्छी न लगी। वे लोग मन ही मन झुँझला रहे थे। मगर कोई उसे हँसा नहीं सकता था। सभी चुपचाप चले जा रहे थे। प्रणय सबके पीछे था। सुन्दरपुर पहुँचते ही उसने अपनी चाल और भी धीमी कर ली। सब लोग आगे बढ़ गए। प्रणय उसी नीम की छाया में जाकर बैठ गया। धीरे-धीरे हवा चल रही थी। वह अलसा-सा गया। धोती का एक छोर फैला कर वहीं लेट रहा—कॉलेज नहीं गया।

आँखें खुलीं तो देखा, वही बालक उसके पास बैठ कर उस अधेड़ औरत के साथ खेल रहा था। पूर्व की ओर आकाश में काले बादल लटक आए थे। हवा खूब ठण्ढी-ठण्ढी बह रही थी। बालक को देखते ही वह उठ बैठा, उसकी आँखें कुछ और खोजने लगीं। इसी समय उस औरत ने पूछा—आज पढ़ने क्यों नहीं गए, बाबू जी ?

प्रणय ने मुस्कराते हुए जवाब दिया—सोचा, थोड़ी देर सुस्ता लूँ, सो नींद आ गई।

"हाँ, इस गाछ के नीचे हवा खूब ठण्ढी चलती है"—उस

औरत ने अपने सिर का वस्त्र सँभालते हुए कहा—"ऐसा जानती तो एक खाट रख देती। आप तो इसी तरह नङ्गी ज़मीन पर सो गए, बाबू जी ?"

"नहीं, खाट की क्या ज़रूरत थी ?"—नम्रता दिखाते हुए प्रणय ने कहा—"यह छाया ही काफ़ी है।"

इसके बाद कुछ इधर-उधर की बातें करता हुआ वह बोला—इस बच्चे को तो मैं यहाँ पहले ही पहल देख रहा हूँ, मालूम होता है, किसी दूसरे गाँव से आया है; क्यों ?

औरत का चेहरा उतर आया। वेदना-भरे स्वर में बोली—हाँ, बेटा ! यह मेरी बिटिया का बच्चा है। बड़ी बुरी घड़ी में इसका जनम हुआ। आते ही बाप को चट कर गया। अब इसके घर पर कोई नहीं है, इसीसे यहाँ बुलवा लिया है। यहीं रहेगा, जो साग-सत्तू जुरेगा, इसे भी खिलाऊँगी, अपने भी खाऊँगी। भगवान् किसी तरह बेड़ा पार कर ही देंगे।

इसके आगे वह कुछ नहीं बोल सकी, उसकी आँखें डबडबा आईं। प्रणय भी कुछ तय न कर सका कि इसके उत्तर में क्या कहे।

आज वह बच्चा न जाने उससे क्यों इतना हिल-मिल गया था। उसकी मीठी किलकारियाँ प्रणय का दिल गुद-गुदा रही थीं। वह हर्ष और विषाद की संयोग-सीमा पर,

एक तरह से बेहोश होकर, इस स्वर्गीय सुख का आनन्द लूट रहा था। स्नेह-विह्वल होकर उसने बालक को अपनी छाती से लगा लिया। उसे यह देखने की भी सुध न रही कि बच्चे के दोनों हाथ कीचड़ से भरे हुए थे। प्रणय के कुरते में कीचड़ लग गया, मगर उसको होश कहाँ?

इसी समय पास बैठी हुई वह औरत चिल्ला उठी—"उतार दो, उतार दो! यह देखो, सारा कपड़ा खराब हो गया। पाजी ने पेशाब करके हाथों में कीचड़ लगा लिया था। मैंने देखा भी नहीं।" इतना कह कर वह उसकी गोद से बच्चे को छीनने लगी।

प्रणय उसे गोद से उतारते हुए बोला—तो कौन सी ऐसी बड़ी बात हो गई? बच्चों का तो यह काम ही है। कौन लाख दो लाख के कपड़े ख़राब हो गए, जो इस तरह चिल्लाने की ज़रूरत आ पड़ी?

यह कह कर वह धीरे-धीरे हँसने लगा। औरत भी अपनी हँसी न रोक सकी। उसी तरह हँसती हुई ज़रा ज़ोर से बोली—सुग्गो! एक लोटा पानी ले आओ। देखो, बेटा ने क्या किया?

सुग्गो पानी लेकर आ पहुँची। उसके हृदय में आँधी चल रही थी, अधरों पर हँसी मँडरा रही थी, आँखों में अमृत उमड़ रहा था। वह आई और बैठ कर चुपचाप

प्रणय का कुरता धोने लगी। दोनों में से कोई किसी की ओर आँख उठा कर नहीं देखता था। दोनों ही चुप थे। प्रणय सङ्कोच के मारे मरा जा रहा था। वह लाज में गड़ी जा रही थी।

कुरता साफ हो चुका था, मगर सुग्गो का धोना खतम नही हुआ था। वह धीरे-धीरे उसी तरह पानी डाल-डाल कर कपड़े को रगड़ रही थी। एक वार बड़ी मुश्किल से प्रणय ने उसे नजर भर देखने की चेष्टा की। उफ़! चेहरे पर तपस्या की ज्योति नाच रही थी। ललाट क्या था, साधना की जीती-जागती तस्वीर था। अधरों से अपनेपन का अमृत टपक रहा था। आँखें बार-बार झुक कर अपनी वेदना की परिभाषा बतला रही थीं।

अब वह मौन न रह सका—उसकी साधना का सारा वैभव बिखर गया। कातरता से वह उसका हाथ पकड़ता हुआ बोला—बस करो, हो गया।

सुग्गो के सारे शरीर में, नस-नस में, बिजली की धारा दौड़ पड़ी! उसके पैर के नीचे की ज़मीन हट गई! ऊपर का आकाश अलग हो गया! "अभी कहाँ?" कह कर वह और भी तत्परता से कपड़े का दाग़ छुड़ाने लगी। यहाँ तक कि कपड़ा फट गया, मगर उसका धोना खतम नहीं हुआ। नहीं हुआ, नहीं हुआ—हाँ, तब तक खतम नहीं

हुआ, जब तक प्रणय ने आँखों में आँसू भर कर यह न कह दिया—"ग़रीब को इस तरह पामाल न करो !"

इस बार सुग्गो को होश हुआ। उसे अपनी इस बेहोशी पर बड़ी दया आई। नारी-हृदय का वह प्रलयकारी तूफ़ान एकदम बैठ गया। ग्लानि और धिक्कार की चोट खाकर वह व्यथित हो उठी।

बालक अपनी नानी के साथ खेलने मे मस्त था; सुग्गो अपने असहाय हृदय के साथ संग्राम कर रही थी; और हमारा कवि, उस अधखिली कली की दर्दनाक हालत पर मन ही मन रो रहा था—आह! जीवन में कैसे-कैसे दारुण प्रसङ्ग आ जाते हैं! हमारे अस्तित्व में न जाने कितनी यातनाएँ लिपटी हुई हैं, मगर कोई किसी की ओर नज़र उठा कर नहीं देखता। तड़पने वाले तड़पते हैं, हँसने वाले उनकी ओर देख कर अट्टहास करते हैं। इस विधवा के जीवन में कितनी निराशा, कितनी वेदना और कितनी तड़प है, इसे स्वार्थी संसार कैसे जान सकेगा? प्रणय उसकी वेदना के अन्तस्तल में घुस गया। वहीं उसने अपनी साधना की धुनी रमा दी—वह उस करुणा-भरे हृदय में तपस्वी बन कर बैठ गया।

यह लीला हो ही रही थी कि कॉलेज से लौटते हुए उसके साथी भी वहीं आ पहुँचे। उनका ख़्याल था कि

प्रणय तबीयत ठीक न होने के कारण घर लौट गया होगा। मगर नीम की छाया में इस तरह का व्यापार देखते ही सब के सब कुछ चकित-से हो गए। उनमें से कुछ लोगों की धारणा भी बदल गई। एक ने ताना मारते हुए कह ही तो दिया—आज की रात भी यहीं कटेगी क्या कवि जी?

प्रणय ने इस व्यङ्ग पर ध्यान नहीं दिया; मगर सुग्गो के दिल पर यह कटारी का काम कर गया। वह घायल होकर घर के भीतर चली गई। पता नहीं, वहाँ पहुँच कर वह कितनी देर तक रोती रही।

किसी ने फिर ताना दिया—मौज करो यार! यहीं रहा करो; कॉलेज भी नज़दीक पड़ेगा।

उस दल में ऐसे लोगों की कमी नहीं थी, जो प्रणय के भक्त कहे जा सकते हैं। व्यङ्ग की ये बातें उन्हें बहुत बुरी लगीं। इसका नतीजा यह हुआ कि वे लोग आपस में लड़ पड़े।

प्रणय ने झगड़ा शान्त करते हुए ज़रा हँस कर कहा—देखता हूँ, मेरे कारण तुम लोग एक दिन आपस में मार-पीट भी कर बैठोगे।

भक्तों की टोली आनन्द से गद्गद हो उठी। उनमें से एक ने मीठी आवाज़ में कहा—अब चलो न, शायद पानी

बरसने लगे तो भीग जाने का डर है। बादल उमड़े आ रहे हैं।

प्रणय कुछ न बोला। उसने बच्चे को गोद में उठा लिया। उसे बार-बार चूमा और उसके कलङ्क-हीन मुखड़े पर आँसुओं के असंख्य मोती जड़ दिए। जेब से वही लाल पेन्सिल निकाली और बच्चे के हाथों पर रख दी। इस बार पेन्सिल नीचे नहीं गिरी। बच्चा खिलखिला कर हँस पड़ा। प्रणय को थोड़ी-सी शान्ति मिली। अपनी इस विजय पर उसे गर्व हुआ। मगर इससे भी बढ़ कर दुःख हुआ इस बात का कि उसके पास उस समय उस लाल लकड़ी के सिवाय बच्चे को देने योग्य और कोई चीज़ नहीं थी। अपनी दीनता की सबसे दारुण चोट हमें उस समय लगती है, जब हम किसी को बहुत-कुछ देने की लालसा रखते हुए भी कुछ दे नहीं सकते। प्रणय का भी यही हाल हुआ।

४

सुन्दरपुर में अचानक हैज़े की बीमारी आ गई। सुग्गो और उसके एकलौते बेटे—दोनों को इसने धर दबाया। प्रणय ने उनकी सेवा-शुश्रूषा मे रात-दिन एक कर डाले। तब तक दम न लिया, जब तक वह स्वयं हैज़े की बीमारी से बेहोश होकर गिर न पड़ा।

जब उसकी आँखें खुली तो उसने देखा, वह हृदय की चारपाई पर सोया है। एक-एक कर उसे सारी बातें याद हो आईं। उस बच्चे को देखने के लिए वह अधीर हो उठा। उसकी बीमारी तो दूर हो चुकी थी, पर कमजोरी इतनी थी कि बिस्तरे से उठते ही फिर बेहोश होकर गिर पड़ा।

सात-आठ दिनों के बाद उसकी हालत कुछ अच्छी हुई। वह जीवन, जो निराशा के अपार पारावार में डूबता हुआ दिखाई दे रहा था, अब आशा के दुर्बल तट पर आ लगा। हृदय ने शान्ति और सन्तोष की एक हलकी सी साँस ली। यह उसकी तपस्या का सबसे मीठा वरदान था—उसकी कष्ट-सहिष्णुता का सबसे बड़ा पुरस्कार था। प्रणय जिस अवस्था में सुन्दरपुर से लाया गया था, उसे देखते ही हृदय इस तरह रो पड़ा था, जैसे उसके जीवन का सर्वस्व लुट गया हो। उसी क्षण से उसने प्रणय की सेवा-शुश्रूषा में अपनी जान लड़ा दी। दिन-रात वह परमात्मा का भजन करते हुए उसीके पास बैठा रहता। उसकी यह सेवा कितनी सुन्दर और त्यागमय थी! वैभव का वह दुलारा सम्राट भिखारी के आश्रय-हीन चरणों पर लोट रहा था। क्या इस दुनिया में सभी ऐसा कर सकते हैं?

प्यारपूर्वक उसके कपोलों पर हाथ फेरते हुए, हृदय ने कहा—प्राणो!

"क्या है हीरो ?"—कह कर प्रणय ने बड़ी करुणा-भरी दृष्टि से अपने उस तपस्वी हृदय की ओर देखा। हाय ! वह कितना कुम्हला गया था ! उसकी आँखों में वेदना थी, ओठों पर मलिनता थी, चेहरे पर पीलापन था ; मगर फिर भी मुख-मण्डल से एक अनुपम ज्योति फूटी पड़ती थी। वह ज्योति उस अनुराग-दीपक की थी, जिसमें एक त्यागमय जीवन स्नेह बन कर जल रहा था।

प्रणय थोड़ी देर के लिए सब कुछ भूल गया। अपनी बीमारी भूल गया ; सुन्दरपुर गाँव भूल गया ; नीम का वह गाछ भूल गया ; सुग्गो का कपड़ा धोना भूल गया ; उस बालक को भूल गया—हाँ, वह जो कुछ जानता था, सब भूल गया। उसकी आँखों के सामने केवल उसका हृदय रह गया—हृदय भी नहीं, उसका वह मुखड़ा, जिस पर आज अगाध वेदना की छाया मँडरा रही थी। वह पागलों की तरह उठ बैठा और दोनों दुर्बल बाँहों से हृदय को जकड़ता हुआ बोला—हीरो ! सच बताओ, यह क्या देख रहा हूँ ?

"मैं ही तो हूँ, पानो ! और तो यहाँ कोई नहीं है।"—कह कर हृदय ने उसके कन्धे पर अपना मस्तक रख दिया। उसकी गीली आँखों से उसके जीवन का सबसे बड़ा सुख पिघल-पिघल कर टपकने लगा।

प्रणय ने रुँधे हुए स्वर में पूछा—क्या तुम भी बीमार थे ?

"नहीं तो !"

"फिर ?"

"फिर क्या ?"

"इतने क्षीण क्यों हो गए हो ? इतना मुरझा क्या गए हो ?"

हृदय इसका क्या उत्तर देता ? वह कुछ नहीं कह सका। इस कोलाहल-भरी नीरवता से प्रणय की विह्वलता नाच उठी।

हृदय बच्चों की तरह चुपचाप सिसक रहा था। प्यार की ऐसी सुहाग-भरी घड़ी में कोई दुखिया और कर ही क्या सकता है ? वह कैसे बताता कि इतने दिनों के भीतर उस पर क्या बीती थी ! इस बीच में न उसने भरपेट खाया था, न कभी नींद भर सोने का ही अवसर पाया था। तिस पर भी उसे आशा नहीं थी कि उसका पानो खाट से उठ कर एक बार फिर उसे गले भी लगा सकेगा। बीमारी की भयङ्करता ने उसे कायर बना दिया था। अविश्वास और आशङ्का ने उसकी सारी शक्ति छीन ली थी। मगर उसे इन बातों का जैसे कुछ पता ही नहीं था। अपने कष्टों की न उसे जानकारी थी, न परवाह। फिर वह अपनी क्षीणता का कारण ही क्या बताता ?

प्रणय ने स्नेह-विह्वल होकर कहा—समझ गया हीरो

मेरे ही कारण तुम्हें अपना सोने-जैसा शरीर गलाना पड़ा है। मैं ही अभागा तुम्हारे जीवन को अभिशाप बन कर जलाए जा रहा हूँ।

हृदय ने चटपट उसके मुँह पर अपना हाथ रख दिया। वह रुँधे हुए स्वर में बोला—इस तरह की बातें क्यों करते हो पानो ? दुःख पड़ने पर किसका चेहरा नहीं उतर जाता है ? वैसा ही कुछ मुझे भी होगया होगा। तुम इतने अधीर क्यों हो रहे हो ? पागलों की तरह जो जी में आता है, वही बकने लगते हो। तुम्हें क्या मालूम कि तुम मेरे जीवन के अभिशाप हो या वरदान ?

प्रणय की अश्रु-धारा और भी तेज़ी से बहने लगी ; मगर वाणी मूक थी !

हृदय ने उसके आँसू पोंछते हुए कहा—देखो भाई ! इस तरह अगर तुम रोते रहोगे, तो फिर बीमारी बढ़ जायगी। बड़ी मुश्किल से तुम्हें लौटा सका हूँ। तुम तो निर्मोही की तरह मुझे अकेला छोड़ कर यहाँ से भागे जा रहे थे। अब फिर उसी की तैयारी मत करो।

प्रणय की प्रत्येक नस का प्याला गर्व, उल्लास, स्नेह, करुणा और कातरता से छलक पड़ा। हृदय को छाती से लगाते हुए उसने कहना शुरू किया—मेरे प्राणों के प्राण ! तुम्हें छोड़ कर मैं कहीं भाग न सकूँगा। भाग सकता तो

आज मुझे तुम इस निष्ठुर संसार के पञ्जों में जकड़ा हुआ नहीं पाते। तुम्हीं मेरे स्वर्ग हो। तुमसे अलग होकर मैं कहाँ सुखी रह सकूँगा। तुम्हारी छाया के बाहर तो चारों ओर आग ही आग नजर आती है। जहाँ जाता हूँ, वहीं बुरी तरह जलना पड़ता है। शान्ति और शीतलता के एकान्त अधिवास तो तुम्हीं हो। फिर तुम्हें छोड़ कर मैं भागने की तैयारी कैसे कर सकता हूँ ?

हृदय चुपचाप कुछ देर तक उसी तरह उसकी छाती से चिपका रहा। उसे मालूम हो रहा था, जैसे स्वर्ग का सारा सौन्दर्य, सारा सुख और समस्त वैभव उसी बिस्तरे पर लोट-पोट हो रहा है। धीरे-धीरे वह उठा और बोला—पथ्य तैयार हो गया होगा, उसे ले आऊँ।

५

प्रणय बिलकुल अच्छा हो गया। मगर अभी तक पहले वाली ताक़त नहीं आई। चेहरे पर कुछ न कुछ उदासी जरूर छाई रहती है, मगर हृदय के सामने नहीं। उसको देखते ही उसके मुखड़े पर एक निराली रौनक़ छा जाती है—वह लुभावनी लाली दौड़ जाती है, जो सुन्दरता की सबसे बड़ी सम्पत्ति है। मगर यह क्या ? आज तो बिलकुल उलटी ही बात ! कॉलेज से आते ही हृदय को क्या हो गया ? उसका चेहरा आज इतना उतरा हुआ क्यों है ?

प्रणय · रोग-मुक्त होते ही वह गुलाब का फूल बन गया था। सौन्दर्य और सुगन्ध की उस सुहावनी सृष्टि में आज फिर कौन सी आग लग गई? प्रणय अस्थिर हो उठा। हृदय के पास पहुँच कर बोला—तुम्हारी तबीयत तो ठीक है?

हृदय ने सिर झुका लिया। उसकी आँखों से पानी बरसने लगा।

प्रणय और भी कातर हो उठा। बोला—तुम्हें मेरे सिर की क़सम भाई, बोलो क्या हुआ?

हृदय ने बड़ी कातरता से उसकी ओर देखा और कहा—कॉलेज भर में तुम्हारी बदनामी फैलाई जा रही है। प्रिन्सिपल के नाम रोज़ गुमनाम पत्र भेजे जा रहे हैं।

"क्यों? किस बात के लिए?"—प्रणय आश्चर्य से सिहर उठा।

"जो लोग तुम्हारे साथ कॉलेज आया-जाया करते हैं"—हृदय ने व्यथित भाव से कहना शुरू किया—"उन्हीं में से कुछ लोग आजकल वहाँ जाकर यही काम किया करते हैं। कहते हैं, सुन्दरपुर तुम्हारे व्यभिचार का अड्डा है। उस विधवा के साथ तुम्हारा बुरा सम्बन्ध है। तुम्हारी इस अनुपस्थिति से वे लोग और भी अनाप-शनाप अर्थ निकाल रहे हैं। क्या जाने प्रिन्सिपल के मन में भी कुछ शक हो गया

है या नहीं। मैं छाती को पत्थर बना कर उन लोगों की गन्दी-गन्दी बातें सुना करता हूँ।

प्रणय क्रोध से काँपने लगा। यह क्रोध उस संसार के प्रति था, जहाँ पद-पद पर लोग दूसरों की नीयत पर शङ्का किया करते हैं; जहाँ एक को झूठ-मूठ चरित्र-हीन सिद्ध करके दूसरे लोग चरित्रवान् बनना चाहते हैं; जहाँ प्रेम भी पाप है, करुणा भी माया है, सहृदयता भी ढोंग है, सेवा भी स्वार्थ है! उस संसार के प्रति, जहाँ देवता दानव समझे जाते हैं और दानवों को लोग देवता समझ कर पूजते हैं।

वह उसी जगह बैठ गया और हृदय को भी अपने पास ही बैठाते हुए बोला—तो इतनी ही बात के लिए तुम इस तरह रो क्यों रहे हो? यही न होगा, प्रिन्सिपल मेरे चरित्र की निर्मलता पर शङ्का करके मुझे कॉलेज से निकाल देंगे; या और कुछ? लोग और चाहे जहाँ से मुझे निकाल दें, परन्तु तुम्हारी इस स्नेह-सीमा से तो मुझे कोई नहीं निकाल सकता।

प्रणय की यह दृढ़ता और गम्भीरता देख कर हृदय दङ्ग रह गया। उसने बहुत ही व्यथित होकर कहा—इस तरह कॉलेज छोड़ने में कितना बड़ा कलङ्क मिला हुआ है, यही सोच कर मैं मरा जा रहा हूँ। लोग क्या समझेंगे?

प्रणय ने फिर उसी दृढ़ता से कहा—लोग चाहे जो समझें, तुम तो मुझे जानते हो न? तुम्हें तो मेरे ऊपर विश्वास

है न? या उनकी बातों ने तुम्हारे दिल में भी शक का घर बना दिया?

इतना सुनते ही हृदय उसके गले से लिपट कर बोला—आपत्ति के समय रो-रोकर मैं और भी तुम्हारा दिल दुखा रहा हूँ, पानो! इसके लिए माफ करना। मगर मुँह से फिर कभी ऐसी बात न निकालना, जिसे सुनने के पहले ही मैं धरती में समा जाना पसन्द करूँगा। समूची दुनिया ज़बरदस्ती तुम्हारे मुँह पर कालिख पोत दे, तुम्हें झूठ-मूठ मलिन बना दे; मगर मैं अपने विश्वास की ज्योति में तुम्हारे उसी निर्मल स्वरूप का दर्शन करता रहूँगा, जो आज तक मेरे जीवन की मीठी साधनाओं का केन्द्र बन कर मेरे अस्तित्व को सुदृढ़ बनाए हुए है। तुम्हारे ऊपर अविश्वास करके मैं अपने विश्वास का कौन सा व्यवसाय करूँगा? उस पर तो केवल तुम्हारा ही अधिकार है।

प्रणय ने गद्गद होकर कहा—जाने दो, इन बातों पर विशेष ध्यान नहीं देना चाहिए।

हृदय ने कहा—उन दुष्टों की बातें इतनी चोट पहुँचाने वाली होती हैं कि क्रोध के मारे मैं तिलमिला उठता हूँ।

प्रणय ने गम्भीरता से कहा—इस तरह की बातें सुन कर भी नहीं सुनना चाहिए। हृदय को पत्थर बना कर रखने में भी एक सुख मिलता है, और यह सुख बहुत ही मँहगा है।

६

हैजे की बीमारी ने सुन्दरपुर का सत्यानाश कर डाला। कुल दस-बारह घरों का तो वह गाँव था ही; उनमें से कुछ तो श्मशान बन गए और कुछ केवल उजड़ भर गए। जो लोग उस बीमारी से बचे, वे वहाँ से प्राण लेकर भाग गए—फिर लौटे नहीं। अब न वहाँ बच्चों की चहल-पहल थी, न उसकी गली में वह तरावट। नीम का वह वृक्ष अब भी अपनी सूनी छाया पर रोज़ प्रातःकाल उठ कर आँसू का अर्घ्य ढाला करता था। दोपहर में उसकी पत्तियाँ हिलतीं, मगर उनकी साँसों से अब वह शीतलता नहीं, आग बरसती थी।

प्रणय ज्योंही उस गाँव में घुसा, उसका कलेजा बैठ गया, मुख-मण्डल विवर्ण हो उठा। उसने विध्वंस की इतनी दारुण कल्पना नहीं की थी। आकुलता से हृदय की ओर देख कर वह चिल्ला उठा—हाय! सुग्गो भी मर गई, वह बच्चा भी मर गया!!

हृदय उससे कुछ कहना ही चाहता था कि तब तक प्रणय दौड़ कर उस वृक्ष की छाया में पहुँच गया। वह पागलों की तरह ताली पीट-पीट कर चिल्लाने लगा—पढ़ुआ बाबू! पढ़ुआ बाबू!!

उन उजड़े हुए घरों से टकरा कर प्रतिध्वनि रो उठी—पढ़ुआ बाबू! पढ़ुआ बाबू!!

प्रणय और भी ज़ोर-ज़ोर से चिल्लाने लगा—पढ़ुआ बाबू! पढ़ुआ बाबू!!

हृदय के चेहरे पर हवाइयाँ उड़ने लगीं। त्रस्त-भाव से चकित होकर वह प्रणय के उस पागलपन पर आँसू बहाने लगा। प्रणय की वह करुण-दशा देख कर वह खड़ा नहीं रह सका—थरथरा कर बैठ गया।

"हीरो! लो, अब मैं तुम्हें छोड़ कर जा रहा हूँ"—प्रणय ने पागलों की भाषा में चिल्लाते हुए कहना शुरू किया—"मगर तुम कहीं मत जाना। इसी जगह बैठे रहो। मैं फिर आऊँगा। कहीं जाना मत, नहीं तो मुझे पा नहीं सकोगे। इसी जगह बैठे रहो। ख़बरदार! हटना मत!"—इतना कह कर बड़ी तेज़ी के साथ वह उत्तर दिशा की ओर दौड़ पड़ा। कहाँ गया, क्या हुआ, इसका पता नहीं।

हृदय हक्का-बक्का सा हो गया था। उसे उसकी कोई बात समझ में नहीं आई। सन्ध्या-समय जब लड़के कॉलेज से लौटे तो देखा, वह उसी नीम की छाया में मुर्दे की तरह पड़ा था। लोग बड़ी मुश्किल से उसे उठा कर घर पहुँचा आए।

७

पूरे पाँच वर्ष बीत गए। सुन्दरपुर का पुराना अस्तित्व एकदम लोप हो गया। वह गाँव हृदय की ही ज़मींदारी में

पड़ता था। एक बार उजड़ जाने पर वह फिर नहीं बसाया जा सका। हृदय ने आस-पास के बग़ीचे सजा दिए, इधर-उधर फुलवारियाँ लगवा दीं, और उसी नीम के पास एक सुन्दर महल खड़ा करवा दिया।

वही सावन का महीना था। आकाश में काले बादल मँडरा रहे थे। धूप नहीं थी। समय सुहावना था। शहर का जल-वाष्प बिगड़ जाने के कारण इधर महीने भर से हृदय के परिवार के सभी लोग सुन्दरपुर वाले घर में ही रहते थे। उस दिन, उस सुहावने समय में हृदय की स्त्री 'हुलासी' अपने दुमञ्जिले कमरे में, झरोखे के पास बैठी-बैठी कुछ पढ़ रही थी। सहसा उसने सुना—मेरी जगह पर इतना सुन्दर महल!

हुलासी के हाथों से किताब नीचे गिर पड़ी। उसे जैसे धक्का मार कर किसी ने हिला दिया। उसने झरोखे से झाँक कर नीचे की ओर देखा, नीम की छाया में एक मुरझाई हुई युवती खड़ी थी। वह एकटक से उस महल की ओर ताक रही थी। उसके वस्त्र छिन्न-भिन्न हो रहे थे, केश बिखरे हुए थे। मगर चेहरे से एक तरह की ज्वाला निकल रही थी—वह ज्वाला, जो किसी को जलाती नहीं, अपनी ही चिता में चुपचाप धधकती रहती है! वेदना की आग में पका हुआ यौवन-स्वर्ण अपनी दमक दिखा रहा था।

हुलासी उस दुर्बल छवि को देख कर उस पर रीझ गई। उसकी करुणा फूट-फूट कर रोने लगी—ममता के उस पागल सोते में उसका सारा अस्तित्व बह चला! उसने अपनी दासी से कहा—नीचे जाकर चुपचाप उसे मेरे पास ले आओ।

वह ऊपर आ गई। हुलासी ने सबसे पहले उसे एक साफ़ कपड़ा पहना दिया। वह पहनती ही नहीं थी, जबर-दस्ती पहनाया। उसके बाद उसने कहा—अपना मुँह-हाथ धो लो, फिर चलो तुम्हें खिला-पिला कर तब बातें करूँगी।

उस भिखारिणी को जीवन में इतना आदर और प्यार कभी नहीं मिला था। यद्यपि दो दिनों से उसके पेट में एक दाना भी नहीं गया था, फिर भी उस समय न जाने उसकी भूख कहाँ भाग गई। हुलासी की बातों से ही उसका पेट भर गया था। विह्वल होकर वह उसके पैरों पर गिर पड़ी और रोती हुई बोली—बहिन! अब मुझे खाने-पीने को न कहो। आज ऐसा पदारथ (पदार्थ) खा लिया, जैसा आज तक कभी खाया ही नहीं था। अब मुझे भूख ही नहीं रह गई, खाऊँ कैसे?

"न, बहिन! ऐसी क्या बात है! यह तो न होगा।"—कह कर हुलासी ने उसे छाती से लगा कर फिर कहा—"न खाओगी तो मैं अपने हाथ से ज़बरदस्ती खिलाऊँगी, तुम्हारी एक भी न सुनूँगी।"

इसी समय भोजन की थाली आ पहुँची। कौर बाँध कर हुलासी ज़बरदस्ती उसके मुँह में डालना ही चाहती थी कि नीचे से आवाज़ आई—पढ़ुआ बाबू! पढ़ुआ बाबू!!

भिखारिणी हुलासी को झकझोर कर अलग हो गई। एक बार आँखें फाड़ कर उसने नीचे की ओर देखा और वायु-वेग से सीढ़ी की ओर दौड़ पड़ी। जब तक हुलासी उसे पकड़ने को दौड़ी, तब तक वह नीम की छाया में पहुँच चुकी थी।

पागल हथेली पीट-पीट कर चिल्लाने लगा—सुग्गो रानी! सुग्गो रानी!!

भिखारिणी ने दौड़ कर उसे अपनी छाती से लगा लिया और पूछा—मुझे छोड़ कर कहाँ भाग गए थे? खोजते-खोजते हैरान हो गई।

पागल बेहोश होकर धड़ाम से गिर पड़ा। फिर वह उठा नहीं।

आवाज़ सुन कर हृदय भी वहाँ आ पहुँचा और पागल को पहचान कर उस भिखारिन की ओर देखते हुए, स्वयं पागलों की तरह चिल्ला उठा—ख़बरदार! उसे लेकर फिर भाग मत जाना। यह मेरा पानो है।

मगर कुछ उत्तर पाने के पहले ही उसने देखा कि वह भिखारिन भी उसी लाश पर अचेत पड़ी है।

हृदय, पानो की लाश पकड़े हुए, सिर पटक-पटक कर चिल्लाने लगा—मैं यहाँ बैठा-बैठा तेरी राह देखता रहा निर्मोही ! मगर तू न आया । आया भी तो उस समय, जब मुझे छोड़ कर भागने की सारी तैयारो कर ली । आह ! इस 'संयोग की छाया में' मेरे लिए तू वह वियोग छोड़ गया, जिसका कभी अन्त ही नहीं होगा......!

इसके आगे उसकी वाणी मूक हो गई । लोग बल-पूर्वक खींच कर उसे वहाँ से हटा ले गए ।

पगली चिड़िया

पगली बिटिया

वह पार्क ख़ास कर बच्चों ही के लिए बनाया गया था। जगह बड़ी ही सुहावनी थी, इसलिए बड़े लोग भी वहाँ हवा खाने जाया करते थे। स्कूल और कॉलेज के लड़कों का भी ख़ासा जमाव होता था। किसी प्रकार की रोक-टोक न थी। जो कोई भी चाहे, वहाँ जाकर स्वच्छ वायु का सेवन कर सकता था। पार्क काफी लम्बा-चौड़ा था; कई सुन्दर-सुन्दर सड़कें बना दी गई थीं; फुलवारियाँ सजा दी गई थीं; और बीच-बीच में हरे-हरे लॉन भी छोड़ दिए गए थे। सन्ध्या-समय वहाँ की छटा मन को मोहे लेती थी। छोटे-छोटे बच्चों की चहल-पहल देखते ही बनती थी। उनके भोलेपन में कितनी अदा थी, कितना सलोनापन था!

बूढ़े की उम्र पचास साल से कम न होगी; मगर उसके चेहरे से जिन्दा-दिली टपक रही थी। मालूम होता था, नस-नस में जवानी की लहर उमड़ रही है। वह एक सात-आठ बरस की बालिका के साथ लॉन पर बैठा खेल रहा

था। बालिका कभी उसे घोड़ा बनाती, कभी हाथी—कभी कुत्ते और स्यार की तरह, बोलने को कहती, कभी बिल्ली की तरह "म्याऊँ-म्याऊँ" करने को! बूढ़ा हुलास-भरे हृदय से उसकी एक-एक बात मानता जाता था। उसके रोम-रोम में उल्लास भरा हुआ था। मालूम होता था, जैसे स्वर्ग की निधि पा गया हो। बालिका भी इस खेल में सब कुछ भूल बैठी थी। अब जाने का समय हो गया था, मगर वह खेल का अन्त ही नहीं कर रही थी। सहसा बूढ़े ने उसका मुँह चूम कर कहा—अब घर न चलोगी मेरी पगली बिटिया?

बालिका इतना सुनते ही मचल गई—उसका मुँह लटक आया। बात यह थी कि बूढ़ा कभी-कभी आनन्द लूटने के लिए और कभी-कभी खेल से थक कर उसे थोड़ा सा नाराज़ करने के लिए, बालिका को 'पगली बिटिया' कह दिया करता था। वह इस पर रूठ जाती थी और खेल खतम हो जाता था।

बालिका ने मुँह फुला कर कहा—मैं पगली बिटिया नहीं हूँ...ऊँ!...ऊँ!!...ऊँ!!!

"तब तू क्या है मेरी पगली बिटिया?"

"मेरा नाम कुसुम है। मैं पगली बिटिया नहीं हूँ—ऊँ!...ऊँ!!...ऊँ!!!

"न, न, तू तो मेरी पगली बिटिया है; तेरा नाम कुसुम किसने रक्खा?"—कह कर बूढ़ा उसे और भी चिढ़ाने लगा।

इस बार बालिका दौड़ कर सड़क पर पहुँच गई, और उस पर टहलते हुए दस-बारह वरस के एक लड़के से चिपक कर कहने लगी—भोला मुझको पगली बिटिया कहता है। मेरा नाम है कुसुम, ऊँ!...ऊँ...!! ऊँ !!!

वह बालक पहले कुछ नहीं समझ सका, उसे पकड़ कर चुपचाप खड़ा हो गया। उसका नौकर भी साथ था। उसकी ओर देख कर बड़े कोमल स्वर में उसने पूछा—यह कौन है, सोनूँ ?

सोनूँ ने एक बार इधर उधर नजर दौड़ा कर कहा—क्या जानें भैया, इसका कोई नौकर-चाकर भी तो नजर नहीं आ रहा है। इसी समय भोला भी वहाँ आ पहुँचा और हँस कर बोला—यह मेरी पगली बिटिया है।

इस बार बालिका की आँखें छलछला आईं। उस बालक के मुँख की ओर देख कर वह बोली—भोला झूठ कहता है, मैं पगली बिटिया नहीं हूँ। मेरा नाम कुसुम है।

भोला उस भोली-भाली बालिका की बातें सुन कर लोट-पोट हो रहा था। बालक ने कहा—क्यों भोला, इसे पगली बिटिया क्यों कहते हो ?

भोला ने कुसुम की ओर देखते हुए कहा—पगली तो यह है ही, नहीं तो घर न चलती ?

बालक ने कुसुम के सिर पर हाथ फेरते हुए कहा—

हाँ, ठीक तो है। घर क्यों नहीं जाती हो कुसुम ? देखो, मैं भी अब जा रहा हूँ ।

कुसुम खिल उठी—तुम भी मेरे घर चलोगे यही तो है मेरा घर यह कह कर वह उँगली से पार्क के कोने वाला एक दुमञ्जिला मकान उसे बताने लगी।

बालक ने अपने नौकर की ओर अरमान-भरी आँखों से देखा। मानो वह नीरव भाषा में पूछ रहा था—जाऊँ ?

भोला लड़के की बात समझ गया। सोनूँ का हाथ पकड़ कर बोला—चलो यार, एकाध चिलम तमाखू चढ़ा कर घड़ी भर में लौट आना। यही तो है घर। चलो, नहीं तो यह लड़की मेरा नाकों दम कर देगी। हर्गिज़ नहीं जायगी, अगर तुम्हारे मालिक बाबू न चलेंगे।

सोनूँ ने कहा—चलना है राजा भैया ?

"हाँ" कह कर बालक कुसुम का हाथ पकड़ कर चल पड़ा।

२

गायत्री देवी एक कन्या-पाठशाला की प्रधान अध्यापिका थीं। उन्हें कुसुम बेटी के सिवा और कुछ नहीं था। भरी जवानी में उनके पति क्षय-रोग से मर गए थे। उनके पास कोई सम्पत्ति भी नहीं थी। वे बी० ए० पास थीं; विदुषी थीं; उनके चरित्र और स्वभाव पर लोगों को अभिमान था।

तपस्विनी की तरह सादा जीवन बितातीं थीं। दिन-रात अपने लिखने-पढ़ने के काम में लगी रहतीं—बाहरी दुनिया से उनका हेल-मेल कम था। स्कूल छोड़ कर वे और कहीं जाती-आती भी न थीं। यों हीं कोई ख़ास काम आ पड़े, तब दूसरी बात थी।

भोला उनका विश्वासी नौकर था। उनके पति को भी उसने बचपन में खेलाया था। आज उनकी बेटी को खेला रहा है। ऐसा ईमानदार, दिलेर और दबे स्वभाव का नौकर कहीं और देखने में नहीं आया। माँ और बेटी दोनों को वह अपने प्राणों से बढ़ कर प्यार करता। उन्हीं के दुख में दुखी और सुख में सुखी रहता था।

अभी गायत्रीदेवी अपनी सायङ्काल की पूजा समाप्त करके उठी ही थीं कि कुसुम अपने अपरिचित साथी को लिए हुए सामने आ खड़ी हुई, और बड़े तपाक से बोली—देखो माँ! किसको ले आई हूँ?

गायत्री ने बालक का मुखड़ा देखा, तो गद्गद हो उठीं। छाती छेद कर उनके हृदय से अमृत की बूँदें टपकने लगीं। उन्होंने झटपट कर लड़के को गोद में उठा लिया, और उसे चूमते हुए बोलीं—तू कहाँ से आया बेटा?

"कुसुम के साथ ही तो आया हूँ। मैं नहीं आता था,

वही तो हाथ पकड़ कर ले आई है। अपने नौकर से कहला दू तो ?"

बालक की इस सरलता पर गायत्री की आँखें भर आईं। उनके मन में आया—मुझे अनजान समझ कर बच्चा सोच रहा है कि इसके यहाँ आने पर मैं नाराज़ हूँ। उसके चाँद-जैसे मुखड़े को फिर से चूमते हुए बोलीं—अच्छा किया बेटा! तुम यहाँ रोज़ आया करो, और कुसुम के साथ खेला करो। अच्छा ? आया करोगे न ?

बालक की बाछें खिल उठीं। बोला—हाँ!

"रोज़ आओगे न ?"

"हाँ!"

"तुम्हारा नाम क्या है बेटा ?"

"मेरा नाम ? मेरा नाम है मनोहर।"

"और तुम्हारे बाबू जी का नाम क्या है ?"

"मेरे बाबू जी का नाम ? मेरे बाबू जी का नाम है पण्डित हरिदेव शास्त्री।"

गायत्रीदेवी का चेहरा उतर गया। वह एकाएक काँप उठीं; फिर बोलीं—तुम किस ज़ात के हो बेटा ?

"ब्राह्मण हूँ"—बालक ने बड़े गर्व से उत्तर दिया।

बालक का उत्तर सुन कर उनका दिल बैठ गया। उसकी बुद्धिमानी और जानकारी पर वे लट्टू हो गईं; उसका

रूप उनकी आँखो में समा गया; उसके भोलेपन की तरावट से वे तर हो गईं। मगर सब कुछ होते हुए भी वह न जाने क्यों मुरझा गईं।

एक लम्बी साँस खींच कर उन्होंने एक बार फिर मनोहर को चूम लिया और कुसुम को भी उठा कर अपनी दूसरी गोद में कस लिया। उनकी दोनों गोदियाँ इस समय भरी हुई थीं। बार-बार वह दोनों के प्यार-भरे मुखड़ो को देखती, उन्हें चूमतीं और उन पर बीच-बीच में गर्म-गर्म उसासें बिखेर देती थी। न जाने कौन सा अरमान आग बन कर उन्हे बेतरह जला रहा था।

दोनों बच्चे मन्त्र-मुग्ध होकर स्नेह का अमृत पी रहे थे, इतने में भोला ने आकर कहा—बहू जी, इस मालिक बबुआ का नौकर घबड़ा रहा है। कहता है, देर हो गई—घर पर मालिक बिगड़ते होंगे।

गायत्री ने दोनों को गोद से उतार दिया। फिर मनोहर का हाथ पकड़ कर बरामदे में निकल आईं। सोनूँ वहाँ बैठा तमाखू का दम लगा रहा था, देखते ही चिलम रख कर उठ बैठा और बड़े अदब से दोनों हाथ जोड़ कर उन्हें प्रणाम किया।

गायत्री ने बड़े स्नेह से पूछा—भोला ने कुछ खिलाया-पिलाया भी या ख़ाली धुएँ से ही सत्कार किया?

सोनूँ लजाते हुए बोला—यही क्या कम है सरकार ? क्या करें, एक लत पड़ गई है, अब छूटती ही नहीं।

"कोई हर्ज नहीं"—कह कर गायत्री आगे बढ़ गई और सोनूँ के हाथ पर एक रुपया रखती हुई बोलीं—"लो, मैं अपनी ओर से भी तुम्हें तमाखू पीने को देती हूँ।"

सोनूँ कृतज्ञता-भरे आनन्द से विह्वल हो उठा। मनोहर को गोद में उठाया और चलता बना।

कुसुम दौड़ती हुई आई और बोली—मैं भी जाऊँगी माँ!

माँ ने प्यार से बेटी को छाती से लगा लिया, और कहा—चलो बेटी, वह फिर आएगा।

२

उसी दिन से मनोहर और कुसुम दो शरीर एक प्राण हो गए। दोनों का घर पार्क ही के पास था। पार्क में भी खेलते और घर में भी। स्कूल की पढ़ाई समाप्त कर दोनो एक ही कॉलेज में पहुँचे। मनोहर ने उसे छोड़ कर और किसी से दोस्ती न की—किसी को अपना हृदय न दिया, मानो संसार में और किसी के साथ उसका कोई नाता ही नहीं था। कुसुम का भी वही सब कुछ था—सब से पहले उसी के साथ उसका परिचय हुआ था, उसी के साथ उसके बचपन के दिन बीते थे।

अब दोनों ही यौवन की बेहोश लहरों में बह रहे थे। शैशव की उस निर्लिप्त क्रीड़ा का अन्त हो चुका था। कॉलेज में कोई एक-दूसरे से नहीं बोलते—इस तरह रहते, जैसे किसी का कोई परिचय न हो। मनोहर इस कला में बड़ा दक्ष था। उसके चरित्र में एक प्रकार की खास दृढ़ता थी; संयम में वह बड़ा कठोर था। वह अपनी इच्छाओं और भावनाओं का स्वामी था—जिस तरह चाहता, उन्हें दबा देता। ऐसा करते उसे कष्ट होता था जरूर; मगर वह उस कष्ट की परवा नहीं करता था।

कुसुम अधीरता की पुतली थी—अपनी विह्वल भावनाओं को वह क्षण भर भी नहीं दबा सकती थी। उसकी साधना की एक सीमा थी—उसके आगे वह नहीं बढ़ सकती थी।

उस घण्टे में छुट्टी थी। कॉलेज के एक कमरे में किसी सहपाठी के साथ मनोहर लिखने-पढ़ने की बातचीत कर रहा था, इतने ही में कुसुम घबराई हुई आई और उसके पास पहुँच कर बोली—मेरे सिर में बड़ी तेज़ पीड़ा हो रही है!

मनोहर ने बड़ी उदासीनता से उत्तर दिया—तो मैं क्या करूँ?

कुसुम का कलेजा छिद गया। कातर होकर बोली—घर चली जाऊँ?

उसने फिर उसी लापरवाही से कहा—तो मुझसे क्या मतलब ? आपको जाना हो जाइए और न जाना हो मत जाइए।

कुसुम पर क्या बीती, वही जाने। वह बेचारी चुपचाप वहाँ से चली आई।

उसके चले जाने पर मनोहर के साथी ने कहा—तुम तो बड़े निठुर हो यार !

"ऊँह, हटाइए ये सब खुराफात बातें। मुझसे क्या मतलब ? मैंने क्या दुनिया भर का ठेका ले रक्खा है ?"—कह कर वह फिर पढ़ने-लिखने की बातचीत में लग गया।

४

शाम को जब वह कॉलेज से गया, तो उदास था। बिना मुँह-हाथ धोए ही सीधा कुसुम के घर पहुँचा। देखा कि वह सिर झुकाए चुपचाप कोच पर बैठी हुई थी। मनोहर भी चुपचाप उसी के बग़ल में बैठ गया। दोनों देर तक चुप रहे। मनोहर ने पूछा—अब तबीयत कैसी है ?

"आपसे मतलब ?"

"मतलब है तभी तो पूछ रहा हूँ ?"—मनोहर की वाणी में उसका हृदय रो रहा था।

कुसुम ने सजल आँखों से उसकी ओर देखा और बोली—तुम क्या हो, इसे मैं आज तक नहीं समझ सकी हूँ।

"यही तो मेरा दुर्भाग्य है कुसुम !"—एक लम्बी साँस खींच कर मनोहर बोला—"एक बार अगर दुनिया मुझे अच्छी तरह से पहचान ले, तो मेरी बदक़िस्मती बहुत-कुछ कम हो जाय। मुझे न पहचान सकने के कारण ही तो आज तुम इस तरह बातें कर रही हो।"

"हाँ भाई ! सब मेरा ही दोष है। कॉलेज की बात याद नहीं है ?"

"नहीं, वे बाते याद रखने की नहीं हैं।"

"फिर कही क्यों जाती हैं ?"

"क्योंकि मेरे लिए वे कभी-कभी आवश्यक हैं।"

"आवश्यक होगी क्यो नहीं ? मैं खूब समझती हूँ।"

"क्या समझती हो ? ज़रा मुझे भी समझा दो न ?"

"तुम अबोध नहीं हो।"

"फिर भी ?"

"फिर भी क्या ? मुझसे तुम्हारा मन फिर गया है। मैं अब तुम्हे खटकने लगी हूँ। कह नहीं सकती, क़िस्मत में क्या लिखा है ? कभी-कभी तुम्हारे बर्ताव से मुझे बड़ी निराशा होती है। अगर यही बात रही, तो मैं तुम्हारी राह साफ कर दूँगी, उसका काँटा बन कर न रहूँगी।"—कुसुम आवेश में आकर सिसकने लगी।

उसकी एक-एक बात मनोहर का कलेजा फटा जा

रहा था। अपने उमड़े हुए हृदय के समस्त आवेगों को बलपूर्वक दबाता हुआ वह कहने लगा—कुसुम ! तुम चाहती हो कि दिल खोल कर मैं सबके सामने तुम्हें प्यार किया करूँ ? अपने हृदय की सब से बढ़ कर अनमोल निधि को इस तरह बिखेर दूं कि जो चाहे, उसे लूट ले ? जो चीज़ केवल तुम्हारी ही है, उसे औरों की लोलुप आँखों के सामने क्यों पसारूँ ? मैं तुम्हें प्यार करता हूँ या नहीं, इसे जितना तुम जान सकती हो, उतना मैं भी नहीं जानता ; मुझे न इसकी सुध है, न इसके लिए मैं कोई प्रमाण ही पेश कर सकता हूँ। मेरी झूठी उदासीनता का मर्म न समझ कर ही तुम अपने को आज मेरी राह का काँटा समझ रही हो। इससे बढ़ कर मेरा और क्या दुर्भाग्य होगा ? क्या तुम्हें मेरे ऊपर विश्वास नहीं है, कुसुम ?

"तुम्हें छोड़ कर मुझे और किसका भरोसा है ?"

"फिर बिना समझे-बूझे ही तुम इतनी अधीर क्यों हो जाती हो ?"

"प्रायः तुम इसी तरह मुझे फटकार दिया करते हो। औरों के सामने मुझे लज्जा से मर जाना पड़ता है। फिर मैं क्या करूँ ?"

तो अब से सावधान हो जाओ। फिर तो मुझे फटकारने का मौका नहीं मिलेगा ?"

"नहीं।"

"अच्छा, कान पकड़ो।"

कुसुम ने चटपट मनोहर के दोनों कान पकड़ लिए, वह लजा गया। उसके गालों पर धीरे-धीरे दो-तीन चपतें जमा कर हँसता हुआ वह खड़ा हो गया, और बोला—"बड़ी दुष्ट हो गई हो अब तुम कुसुम! लो, मैं जाता हूँ।"

इसी समय एक थाली में कुछ फल और मिठाई लेकर बूढ़ा भोला आ पहुँचा, और मेज़ पर थाली रखता हुआ बोला—बहू जी घर पर नहीं हैं, तो क्या मेरे मालिक बबुआ आज यहाँ से भूखे ही चले जायँगे। मेरी 'पगली बिटिया' तो सचमुच पगली ही है, इसको कभी शऊर भी आवेगा या नहीं, कह नहीं सकता।

कुसुम हँस कर बोली—अब मैं 'पगली बिटिया' कहने से चिढ़ूँगी थोड़े ही?

भोला थाली रख कर तुरन्त कमरे से निकल गया। मनोहर ने कहा—अब कैसे चिढ़ोगी? अपने पागलपन का ज्ञान जो हो गया!

"जी हाँ, हो गया तो हो जाने दीजिए। आप तशरीफ़ रखिए, अभी जाने न दूँगी। माँ आएँगी तो जाइएगा। तब तक अपनी मिठाई की तश्तरी साफ़ कीजिए।" इतना कह कर उसने मनोहर को हाथ पकड़ कर बैठा लिया।

५

"मानो !"

"आया बाबू जी !"

परिडत हरिदेव शास्त्री का चेहरा तमतमा रहा था। बाहर से आकर उन्होंने आज अपने कपड़े भी नहीं उतारे थे। आते ही न जाने उन्हें मानो (मनोहर) की कौन सी ज़रूरत पड़ गई ? मनोहर बाप का चेहरा देख कर सहम उठा। बेटा कितना भी जवान हो जाय, अगर बदतमीज़ न हो, तो बाप के सामने कुछ सिकुड़ ज़रूर जाता है। शास्त्री जी ने डपट कर पूछा—कहाँ की तैयारी है ?

मनोहर सकपका गया। बोला—यों ही ज़रा घूमने जा रहा हूँ। कोई हुकुम होता है ?

"हाँ, यही हुकुम होता है कि आप उस छोकरी का साथ बिलकुल छोड़ दीजिए। आज तक आप भी बच्चे थे, वह भी बच्ची थी। अब आप भी जवान हो गए और उसनें तो पूरी बेहयाई अख्तियार कर ली है। उसकी जात-पाँत का भी कोई ठिकाना नहीं, बिलकुल मेम हो गई है, ससुरी मेम ! मैं अब तुमको उसकी छाया में भी नहीं देखना चाहता—उसे भी कह दूँगा, इधर न आया-जाया करे। चारों ओर मेरी बदनामी हो रही है...... ।"

बाप की इस हृदय-हीनता, असभ्यता और निर्लज्जता

पर मनोहर दङ्ग रह गया। इस अनहोनी घटना की उसे कोई आशा भी न थी। उसकी नस-नस में आग लग गई—जवानी का रक्त उबल पड़ा। क्रोध मे काँपते हुए बड़ी दृढ़ता से उसने पूछा—बदनामी कैसी बाबू जी ?

शास्त्री जी गला फाड़ कर चिल्ला उठे—अब भी पूछते हो बदनामी कैसी ? मेरा तो तुमने मुँह काला करा दिया। चारों ओर हल्ला मच गया कि शास्त्री के बेटे ने जात दे दी—वह भ्रष्ट हो गया। अब अपनी बिरादरी वाले तुम्हें बेटी भी देंगे या नहीं, इसमें भी मुझे शक है, और तुम दिल्लगी समझे बैठे हो ?

मनोहर सिर झुका कर सारी बातें सुन रहा था। इस बार बड़ी गम्भीरता से बोला—मैं तो किसी से बेटी माँगने नहीं जाता, न कभी जाऊँगा। कोई देने भी आएगा, तो मुँह फेर लूँगा।

"क्यों नहीं ? और उस कलमुँही कुतिया के पीछे-पीछे फिरा करोगे, यही न ?"—शास्त्री जी के होंठ फड़क रहे थे।

"आपके मुँह से ये बातें और भी बुरी मालूम होती हैं।"—मनोहर ने बड़े ही करुण स्वर में कहा।

"तो क्या तुम जात-धरम से हाथ धोकर ही दम लोगे ?"

"अवसर आने पर देखा जायगा।"

"इसके माने यह हैं कि तुम्हारी दृष्टि में ये सब चीजें व्यर्थ ही हैं।"

"प्रत्येक वस्तु की उपयोगिता परिस्थिति के अनुसार हुआ करती है।"

"और तुम्हारी ऐसी परिस्थिति आ पड़ी है कि अब तुम्हारे लिए धर्म की कोई उपयोगिता ही नहीं रह गई?"

"धर्म के सम्बन्ध में मेरी ऐसी धारणा नहीं है—अगर वह हमें जीवन-सत्य से विमुख न बनाता हो।"

"ख़ैर, मुझे तुमसे बहस नहीं करना आता। साफ़-साफ़ पूछता हूँ कि मैं जो कहूँगा, वह करोगे या नहीं?"

"कह नहीं सकता। सम्भव है, कभी नम्रतापूर्वक आज्ञा की अवहेलना भी करनी पड़े; क्योंकि मेरे और आपके बीच युग-धर्म का अन्तर है......।"

"तब तो ठीक ही है। इसका अर्थ यह है कि तुम अब विवाह-उवाह कुछ नहीं करोगे।"

"शायद कभी मन होने पर कर भी लूँ। अभी तो मुझे विवाह करना नहीं है।"

"और मन होने पर भी करोगे, तो उसी मेम साहब के साथ, क्यों?"

अब मनोहर अपने को सँभाल न सका। तीव्र स्वर में बोला—बस बाबू जी, अब आप इस सम्बन्ध में कुछ नहीं

बोल सकते। एक भले घर की लड़की का यह अपमान मैं नहीं सह सकूँगा। आप घण्टे भर से उसे व्यर्थ ही गालियाँ दे रहे हैं। मैं आपका बेटा हूँ, इसलिए नहीं कि आप मेरे हृदय का सौदा किया करें, इसलिए नहीं कि आप ही की तरह मैं भी जाति और धर्म के नाम पर प्रेम और सत्य की हत्या किया करूँ। इन बातों की आशा आप मुझसे न करें। इस घर से मुझे कोई सरोकार नहीं—इस पर मेरा प्रेम नहीं, अधिकार नहीं। एक माँ थीं, उन्हे भी आपने घुला-घुला कर मार डाला—उनके सिर पर एक सौत लाकर बैठा दी। मेरी माँ का जितना आपने निरादर किया है, उसे जितनी नरक-यातनाएँ दी हैं, वह मैं कभी भूलने का नहीं। आज तक मैं बिना माँ के घर में किस तरह रहता आया हूँ, मेरे साथ कैसे-कैसे अत्याचार होते आए हैं—ये बातें तो आप जान कर भी न जानते होंगे। मैं खूब जानता हूँ, मेरे ऊपर आपकी भी कैसी ममता है! आज आपके कान भर दिए गए हैं, तब आपको मेरे विवाह और जाति-धर्म की चिन्ता आ पड़ी है। रहने दीजिए, धर्म के नाम पर सहृदयता का खून न कीजिए। मैं आप ही इस घर से ऊब उठा हूँ।

शास्त्री जी के मुँह से क्रोध के मारे एक शब्द नहीं निकला। उन्हें मनोहर के इस स्वभाव का पता नहीं था। वह सदा का विनयी, मितभाषी और आज्ञाकारी था। आज

एकाएक उसका यह तेज देख कर वे चकित रह गए। बहुत देर बाद, बड़ी मुश्किल से क्रोध-कम्पित स्वर में बोले—ऊब उठे हो ?

"जी हाँ, ऊब उठा हूँ। ऐसा ऊब उठा हूँ कि अब घड़ी भर यहाँ रहना नहीं भाता।"

"तब जाओगे कहाँ ? चूल्हे में ?"

"चूल्हे में जगह न मिलेगी, तो श्मशान की गोद में।"

इसी समय भोला हाँफता हुआ आया और बोला—जल्दी चलिए बाबू !

मनोहर का सारा शरीर सिहर उठा। पूछा—कुशल तो है ?

बूढ़ा रोता हुआ बोला—जल्दी चलो भैया ! बहू जी सीढ़ी से गिर पड़ी हैं—छाती की हड्डियाँ चूर-चूर हो गईं। क्या जाने अब तक जी भी रही होंगी या नहीं ! डॉक्टर भी नहीं बुलाया जा सका।

मनोहर ने जूते तक नहीं पहने—नङ्गे पाँव दौड़ पड़ा। वहाँ पहुँचा तो देखा कि गायत्रीदेवी सीढ़ी के नीचे खून में बेहोश पड़ी हैं। कुसुम भी उसी खून से लतपथ हो, माँ का सिर अपनी जङ्घा पर रख कर बैठी आँसू बहा रही है।'

इसी समय भोला डॉक्टर के साथ आ पहुँचा। डॉक्टर ने एक शीशी सुँघा कर उनकी आँखें खोल दीं। आँखें खुलते

ही उन्होंने मनोहर को अपने पास बुलाया और उसका हाथ पकड़ कर बोली—अपनी कुसुम तुम्हें ही......! इसके आगे बोली न निकली। उनकी आँखें सदा के लिए बन्द हो गईं !!

६

सन्ध्या का समय है। पण्डित हरिदेव शास्त्री अपने छोटे से उद्यान में एक हृष्ट-पुष्ट जवान के साथ धीरे-धीरे घूमते हुए कुछ गुप्त परामर्श कर रहे हैं। वह जवान शहर का एक नामी गुण्डा जगजीतसिंह है। क्रूरता की सजीव प्रतिमा, पाप का साक्षात् नरक, वह मनुष्य की खाल में ढँका हुआ पिशाच, देखने में भी कितना भयङ्कर मालूम पड़ता है! शास्त्री जी ने उससे कहा—उस ससुरी को ऐसी जगह छिपाओ कि कभी निकल न सके ?

"इसकी फ़िक्र आप मत कीजिए सरकार, आज ही रात में सब काम हो जायगा। मगर मुश्किल तो यह है कि वह रहती है बड़ी हिफाजत से। ख़ैर, देखा जायगा। इतनी बड़ी उमर तक और किया ही क्या है? आज उसे आप गई ही समझिए।"

"बड़ा एहसान मानूँगा भाई! मेरे बेटे को ख़राब कर दिया उस कलूटी ने। किसी तरह उसे तुम खिसका दो, तो मेरा रास्ता साफ हो जाय। झख मार कर व्याह करना पड़ेगा उस छोकड़े को—जायगा कहाँ ?"

"हाँ सरकार, करिहैं न तो जैहैं किधर ? सो तो आप ठीक कह रहे हैं कि आपका बेटा खराब हो गया ।"

"याने तुम्हीं कहो भाई ! अभी अगर वह विवाह करने पर राज़ी हो जाय, तो कम से कम मुझे दस हज़ार रुपए तो मिल ही जायँ । कितने लोगों की कोशिशें हो रही हैं ; मगर वह तो उसके पीछे कुछ ऐसा पागल-सा हो गया है कि उस दिन मुझे भी फटकार दिया ।"

"अच्छा, तो अब आप चैन की नींद सोइए । भगवान चाहेंगे तो कल सुबह आप इस घर को सूना पाएँगे ।"

शास्त्री जी की प्रसन्नता का ठिकाना न रहा । जगजीत-सिंह के हाथों पर दस रुपए का एक नोट रखते हुए बोले—यह पान खाने को है ।

जगजीत उन्हें प्रणाम करके चला गया ।

७

मनोहर जगजीत को जानता था । अपने पिता के साथ बातें करते देख, वह किसी अज्ञात आशङ्का से काँप उठा । किसलिए वह इस तरह घुट-घुट कर बातें कर रहे थे, इसका कोई रहस्य उसकी समझ में नहीं आया । अपने पिता को नारकीय नीचता का उसे पता ही नहीं था ।

शास्त्री जी जगजीत को विदा करके द्वार पर लौटे तो बड़े प्रसन्न थे । मनोहर के पास जाकर धीरे से उसके कन्धे

र हाथ रख दिया और बड़े ही स्निग्ध स्वर में बोले—तुम सचमुच मुझसे नाराज़ हो गए बेटा ?

मनोहर इस आकस्मिक प्यार का धक्का न सह सका। उसके मुँह से एक शब्द न निकला। वह बाप के चरणों पर गेर पड़ा, और लगा फूट-फूट कर रोने।

शास्त्री जी के पास भी उस समय कहीं से हृदय आ गया—उनकी आँखों में भी जल भर आया। मनोहर को उठा कर छाती से लगाते हुए बोले—अब तो नाराज़ नहीं हो बेटा ?

"बाप से बेटा रूठ सकता है, मचल सकता है; नाराज़ होना तो उसका काम नहीं है बाबू जी !"—कहते हुए मनोहर ने बड़ी कातरता से उनकी ओर देख कर सिर झुका लिया।

शास्त्री जी को इस समय अपने ऊपर अभिमान हो रहा था; मगर वह अभिमान कितना नीचतापूर्ण, नारकीय और अमानुषिक था !

मनोहर का हाथ पकड़ कर वे कहने लगे—चलो बेटा ! आज मेरे साथ भोजन करना और मेरे ही साथ सोना। तुम मेरे प्राण हो, धन हो—सब कुछ हो।

मनोहर को जो चीज़ कभी नहीं मिली थी, वही आज बिना माँगे ही मिल रही है। जब से उसने होश सँभाला,

और जिस दिन से वह मातृ-विहीन हुआ, तब से आज तक कभी उसे घर में किसी ने प्यार नहीं किया था। बाप कभी उसकी खोज-खबर भी नहीं करते थे। मगर आज जैसे सारी बातें ही बदल गई थीं—वह प्यार की धारा में बेतरह बहा जा रहा था। उसे क्या मालूम कि यह प्यार कितना अस्थिर, कितना क्षणिक, कितना कृत्रिम और कितना अमङ्गलकारी था। बाप की बातों से उसके ऊपर नशा सा छा गया। उसी बेहोशी में उसने एक बार फिर भी अपने को उनके चरणों पर चढ़ा दिया। शास्त्री जी उसे लेकर हवेली के भीतर चले गए।

८

रात दो पहर से भी अधिक हो गई थी। मनोहर गहरी नींद में सो गया था; मगर शास्त्री जी की आँखें ज्यों की त्यों खुली थीं। सहसा मनोहर खाट पर से उछल पड़ा और चिल्लाया—ठहरो, आता हूँ!

"कहाँ जाते हो बेटा? सपने में डर गए हो क्या?"—कह कर शास्त्री जी ने उसे बिस्तरे पर बैठा दिया।

वह फिर उठा और "ठहरो, अभी आया" कह कर बड़ी तेजी से दौड़ पड़ा। शास्त्री जी भी दौड़े, मगर जब तक वे पार्क में घुसे, तब तक वह कुसुम के बरामदे पर पहुँच चुका था। वह वहाँ जाकर बड़े जोर से किवाड़ में धक्के दे ही

रहा था कि शास्त्री जी भी पहुँच गए। इसी समय पकड़े जाने की आशङ्का से पिशाचों का दल भी हड़बड़ा कर निकला और निकलते ही एक ने मनोहर की छाती में छुरा भोक दिया। वह तड़प कर उसी जगह अपने बाप के पैरों पर गिर पड़ा, चोर भाग गए। भोला को उन दुष्टों ने बाँध कर, उसके मुँह में कपड़े ठूँस कर, उसे अधमरा करके बग़ल की कोठरी में बन्द कर दिया था। ऊपर जिस कमरे में कुसुम रहती थी, उसमें वे लोग जल्दी घुस न सके। अभी किवाड़ तोड़ ही रहे थे कि नीचे से उन्हें आदमियों के आने की आहट मिली। यह समझ कर कि पुलिस के लोग हैं— वे लोग तुरन्त हड़बड़ा कर भाग निकले और उसी हड़बड़ी में पापी पिता के चरणों पर उसके एकलौते बेटे की लाश तड़पने लगी !

६

रात में कुसुम को नीचे उतरने का साहस नहीं हुआ। उसके किवाड़ क़रीब-क़रीब टूट ही गए थे। नीचे भी घोर नीरवता छाई हुई थी। उसका हृदय आशङ्का और भय से बेतरह अधीर हो रहा था; परन्तु डर के मारे रात भर वह नीचे न उतर सकी। उसे भय था कि कहीं फिर भी उसके ऊपर आक्रमण न हो जाय। रह-रह कर उसका दिल धड़क रहा था

सवेरे वह ज्योंही नीचे उतरी, त्योंही उसने देखा कि उसका तीनों लोक सूना हो गया था—उसके चारों ओर अन्धकार के सिवाय और कुछ रह ही नहीं गया था। सीढ़ी के नीचे अपने प्यारे मनोहर की लाश पड़ी देख कर वह क्या हो गई, कोई कह नहीं सकता।

"उठो न मानो?"—कह कर वह अपने जीवन-सर्वस्व को इस तरह जगाने लगी, जैसे वह नींद का बहाना करके पड़ रहा हो। मगर वह न उँठा। वह बार-बार इसी तरह उसे उठा रही थी—मगर वह उठे तब तो? उसकी आँखों में आँसू नहीं थे—चेहरे पर चिन्ता की छाया नहीं थी। वह तो मस्त होकर अपने प्रियतम को जगा रही थी। जब वह किसी तरह न जाग सका, तब लाचार होकर बड़बड़ाने लगी—"न उठोगे? अच्छी बात है, लो मैं जाती हूँ।"

सचमुच वह बड़े वेग से दौड़ पड़ी। कहाँ चली गई, कोई कह नहीं सकता

१०

इस घटना को बीते पूरा साल भर हो गया। दोपहर की कड़ी धूप में एक पगली शहर के चौक पर खड़ी चिल्ला रही थी—क्या चिल्ला रही थी, कुछ पता नहीं। उसी समय एक युवक वहाँ होकर गुजरा। वह देखने में बड़ा ही सुन्दर था—जैसे नन्दन वन का पारिजात। पगली उसे देखते

ही चुप हो गई और धीरे से उसका कुर्ता पकड़ कर खींचती हुई बोली—देखते हो, भोला मुझे 'पगली बिटिया' कहता है—मेरा नाम है कुसुम, ऊँ ..! ऊँ...!! ऊँ...!!!

युवक को यह अच्छा न लगा। अच्छा न लगा, इतना ही नहीं—उसे इतना बुरा लगा कि उसने उस पगली को झिटक कर दूर गिरा दिया। वह गिर पड़ी। युवक गाली बकता हुआ आगे बढ़ गया। सुन्दरता के आवरण में ढँकी हुई क्रूरता वहाँ से विदा हो गई!

लोगों ने देखा कि थोड़ी ही देर में पगली का सिर एक बूढ़े भिखारी की गोद में था। वह उसे बार-बार हिला कर पूछ रहा था—घर न चलोगी मेरी 'पगली बिटिया'? मगर 'पगली बिटिया' कोई उत्तर नहीं दे रही थी!!

रौरव के द्वार पर

रौरव के द्वार पर

वस्था में विशेष अन्तर नहीं था। मुश्किल से साल-डेढ़ साल की बड़ी होगी, मगर समझ-बूझ और बात-चीत के नाते दोनो दो सिरे पर थे। अरुणा की बातें तुली हुई, अनुभव-पूर्ण और गम्भीर हुआ करती थीं। बोलती कम थी, मगर ख़ूब सोच-समझ कर—तोल-जोख कर। नवल का अनुभव इतना पका हुआ नहीं था; न उसमें गम्भीरता आई थी, न जानकारी। कहने को तो सयाना हो चला था; मगर अब भी चेहरे से, हाव-भाव से, बातचीत से भोलेपन की अदा टपकी पड़ती थी। वह कितनी मीठी होती थी, कितनी सरल और लुभावनी! उसने अभी तक अपनी दुनिया की खिड़की नहीं खोली थी। अरुणा के बारे में ऐसी बातें नहीं कही जा सकती हैं; क्योकि निर्दय झोको का कम्पन धीरे-धीरे अब उसके वातावरण को हिलाने लग गया था। वह अब अलसाई सी नहीं थी—सिहर उठी थी।

मातृत्व

नवल अधिकतर अपनी विधवा मामी के ही घर रहा करता था। खास कर जब से उसकी माँ चल बसी, तब से तो वह अपने घर का नाम ही भूल गया। मामी भी उसे जी-जान से प्यार करती थी। अपनी इकलौती बेटी अरुणा के साथ उस सलोने बालक को हँसते-खेलते, खाते-पीते, रोते-गाते, सोते-जागते देख कर उसका बिंधा हुआ हृदय हुलास से भर जाता। अपने आँगन में उस लुभावनी जोड़ी को किलकते देख वह निहाल हो जाती। जिस समय अपनी प्यार-भरी गोदी में बैठा कर वह दोनों का चूमने लगती, उसके चेहरे पर एक ज्योति चमक उठती थी। मालूम होता, जैसे वह किसी स्वर्ग की रानी है। स्नेह और ममता के उन कोमल चरणों के नीचे उसके सारे अरमान बिखर जाते थे—उसकी सारी लालसाएँ लोट-पोट होने लगती थीं। वह भूल जाती थी कि उसकी दुनिया में निराशा, शोक और सङ्कट का भी कोई अस्तित्व है—वह भूल जाती थी कि वह दुःखिनी है, विधवा है, अनाथिनी है। विपन्नता के झोंकों से उजड़ा हुआ उसका छोटा सा संसार, आशा, उल्लास और वैभव की ज्योति से जगमगा उठता था। उसकी सूनी झोंपड़ी सोने का महल बन जाती थी। प्यार की कातरता में मनुष्य जिस पूर्णता का अनुभव करता है, वही उसकी सारी अभाव-चिन्ता का मुक्ति-साधन है।

—मालिका—

सायङ्काल का समय था। अरुणा की माँ अनमनी सी होकर बैठी न जानें क्या सोच रही थी। इसी समय पं० भोलानाथ जी आ पहुँचे। उनके आते ही विधवा सँभल कर उठ खड़ी हुई। पण्डित जी को खाट पर बैठा कर, उनके सामने एक लोटा पानी और एक जोड़ा खड़ाऊँ रखती हुई वह बोली—मालूम होता है, बहुत थक गए हैं; क्यों?

"हाँ, थक तो जरूर गया हूँ, मगर यों ही नहीं।"

"क्या मतलब?"

"मतलब यही कि जिस लिए थका हूँ, वह काम भी कर आया।"

विधवा का चेहरा खिल उठा। वह बोली—सब बात पक्की हो गई क्या?

"वाह, अब भी पूछना है? मैं जाऊँ और बात न पक्की हो? आखिर उमर भर करता क्या आया हूँ? बस, अब देरी नहीं करनी चाहिए। इसी दुतिया को लगन है। सब बातें तय कर आया हूँ। ऐसा न हो कि कहीं अवसर चूक जाय।"

"तो कुछ लेन-देन की भी बात हुई थी? लड़का कैसा है?"

"लड़का? लड़का तो ऐसा होनहार है कि, भगवान्

करें, सबकी बेटी को वैसा ही वर मिले। इन्ट्रैन्स में पढ़ता है, देखने-सुनने में तो बस, अपनी बच्ची है कि नहीं? इससे भी सुन्दर, सुडौल और आकर्षक। रही लेन-देन की बात, सो मैंने अपनी बिटिया के ऐसे-ऐसे गुण बखान किए कि उनसे एक पैसा भी माँगते नहीं बना। जात में भी कह दिया, आप से कुछ ऊँचे ही हैं। फिर तो समधी साहब, समझो कि बिलकुल रीझ ही गए।"

विधवा ने कृतज्ञता-भरी आँखों से एक बार अपने उपकारी पुरोहित की ओर देखा और नम्रता से कहा—मुझे तो आप ही का भरोसा है—जैसे भी हो, इज्जत की डोंगी पार लगाइए। कुछ जल-पान लाऊँ?

"जल-पान? इच्छा तो नहीं है। अच्छा, जब आप आग्रह करती हैं तो थोड़ा सा ले आइए, पानी पी लूँ तब चलूँ। ,और इज्जत की डोंगी? उसकी अब क्या चिन्ता? भगवान् सब मनोकामना पूरी कर देंगे। मगर एक बात कहे देता हूँ, विवाह-शादी का मामला होता है बड़ा टेढ़ा। दुनिया में सब तरह के लोग होते हैं कि नहीं? कुछ लोग ऐसे भी होते हैं, जो ऐसे समय में सब-कुछ किया-कराया मिट्टी कर देते हैं, और कुछ नहीं हो सका, तो बेटी-पक्ष के लोगों को बेटे का ऐब बता दिया और बेटे-पक्ष वाले लोगों को बेटी का। बस लो, सब मामला ही ख़तम हो गया।

सो भाई, इसका पूरा ध्यान रहे कि ऐरे-ग़ैरे की बातों पर कान न दिया जाय। ऐसा न हो कि कहीं मेरे ही मुँह में कालिख लगे।"

विधवा ने भी कई बार देखा था कि झूठी बातों में आकर कितने विवाह नष्ट हो गए थे। उसके मन में इस बात ने घर कर लिया कि बिगाड़ने वाले बहुत होते हैं, सँभालने वाले कोई-कोई। विश्वास-भरी आँखों में अपने हृदय की सारी सचाई समेट कर वह दृढ़तापूर्वक बोली—पुरोहित जी, मैं इसके आगे और कुछ नहीं जानती कि आप ही मेरी अरुणा के बाप हैं, आप जो करेंगे वही होगा।

पुरोहित जी विश्वास के इस सरल सौन्दर्य पर रीझ कर एक बार सिर से पैर तक काँप उठे। उनके लिए वहाँ अधिक देर तक ठहरना भार हो गया। दबी ज़बान से यह कह कर चलते बने—भगवान् मेरी अरुणा का सुहाग सदैव जगाए रहें।

मगर क़साई के आशीर्वाद से कहीं गाय बचती है?

२

"क्यों दीदी! परसों तुम ससुराल चली जाओगी?"

"हाँ भैया!"

"तो तुम वहाँ जाकर क्या करोगी दीदी? यहाँ तुम्हारा मन नहीं लगता?"

"तुम इतने बड़े हो गए नवल, फिर भी न जानें भगवान् ने तुम्हें सोचने-समझने की बुद्धि क्यों नहीं दी ? अरे मेरे पगले ! ससुराल नहीं जाऊँगी तो क्या तेरे साथ सारी उमर यहीं पड़ी रहूँगी ? गुड़ियों के खेल में ही तो सारी जिन्दगी नहीं बिताई जा सकती । मेरे अबोध भाई ! अगर खेलते ही खेलते जीवन का अन्त हो जाता, तब फिर क्या कहना था ?"—यह कह कर अरुणा भाई के गले से लिपट गई ।

"खेलते-खेलते नहीं तो और क्या करना पड़ता है दीदी ?"—नवल की विस्मय-भरी वाणी से सरलता और भोलेपन का रस टपकता था ।

"खेल के बाद ही लड़ाई के मैदान में उतरना पड़ता है ।"

"सबको ?"

"हाँ, सबको । तुम्हे भी उतरना पड़ेगा ।"

"मगर मैं लड़ूँगा कैसे ? मुझे तो लड़ना आता ही नहीं ।"

अपने भाई के इस भोलेपन पर न जाने अरुणा कितनी बार निसार हो चुकी थी । उसकी ठुड्डी हिलाती हुई वह स्नेह-कातर होकर बोली—ये सारी बातें तो अपने आप आ जाती है, सीखने की ज़रूरत ही नहीं पड़ती ।

"अपने आप आ जाती हैं ? कोई सिखाता नहीं ?"

"नहीं !"

"अच्छा, जब तुम चली जाओगी तो मैं रहूँगा अकेले ही ?"—इस बार नवल की वाणी कुछ काँप रही थी।

अरुणा की सारी सुकुमार भावनाएँ विह्वल होकर रो उठीं ! हृदय के इस भोलेपन मे वेदना की कैसी चीख है ! वह उस पागल को कैसे समझाए कि बहिन भाई के जीवन की सब कुछ हो सकती है, मगर फिर भी वह उसकी नौका नहीं खे सकती। उसके जीवन में वह पूर्णता की सृष्टि कर सकती है, मगर स्वयं उसके लिए पूर्णता का रूप धारण नहीं कर सकती। अपने समस्त आवेगों को बलपूर्वक दबाती हुई वह बोली—नहीं, अकेले क्यों रहोगे ? अब बहू को बुला लेना।

"बहू को ?"—नवल चौंक उठा।

"हाँ, बहू को ! चौंकते क्यों हो ? वहीं तो तुम्हारा विवाह हुआ है, जहाँ मैं जा रही हूँ।"

नवल इस पहेली को कुछ समझ न सका। आज तक उसे किसी ने नहीं बताया था कि उसका विवाह हो चुका है। वह जानता था कि उसके जीवन में अरुणा के सिवा और कोई चीज नहीं है। बात भी कुछ ऐसी ही थी। बचपन से लेकर अब तक की क़रीब-क़रीब सारी घड़ियाँ उसने अरुणा के ही साथ बिताई थी। उसके लिए सारी दुनिया एक ओर थी और अरुणा एक ओर। कुछ-कुछ जवान होकर भी जो

वह इतना भोला-भाला, अबोध बालक बना हुआ था, उसका एकमात्र कारण यही था कि उसे अरुणा की दुनिया से बाहर जाने का मौक़ा ही नही मिला था। वह समझता था कि अरुणा दीदी के सिवाय मैं और किसी का हूँ ही नहीं। दीदी के मुँह से अपनी बहू की बात सुन कर वह सन्नाटे में आ गया उसकी सारी शैशव-सरलता उसी तरह भाग गई, जैसे कायरों को छोड़ कर हिम्मत भाग जाती है। अकचका कर उसने फिर पूछा—तुम कह क्या रही हो दीदी ?

अरुणा ने अविचल भाव से जवाब दिया—क्या आज तक मैंने कभी तुमसे दिल्लगी की है नवल ?

"नहीं ; मगर इस समय क्यों कर रही हो ?"

"तुम भूलते हो, मैं दिल्लगी नहीं कर रही हूँ। बात आज की नहीं, उस समय की है, जब हम तुम दोनों निरे बच्चे थे। उसी समय तुम्हारा विवाह कर दिया गया है। मेरी ही ससुराल में तुम्हारी भी ससुराल है। आज तक तुमसे बता नहीं सकी—आज बताए देती हूँ। यह विवाह सिर्फ़ इसलिए हुआ था कि तुम्हारी माँ मरने के पहले अपनी पतोहू का मुख देख लें। इधर वह मर रही थीं, उधर तुम्हारा विवाह हो रहा था।"

नवल का हृदय उद्वेलित हो उठा। उसके सारे हौसले चूर-चूर होकर न जाने कहाँ बिखर गए। उसकी सारी

आकांक्षाएँ टुकड़े-टुकड़े होकर न जाने किधर को उड़ गईं। अभी-अभी जो शान्ति, सरलता और भोलेपन की प्रतिमा बना हुआ था; जो जीवन को संग्राम-शून्य समझ कर निश्चिन्त बैठा हुआ था; वही बेचारा अशान्त, उद्विग्न और घायल होकर बेतरह तड़पने लगा। लड़ाई के मैदान मे कूदने के पहले ही उस पर ऐसा भीषण आक्रमण होगा, यह उसे मालूम नहीं था। वह वार न सह सका। कलेजा थाम कर बैठ गया और बोला—क्या मुझे लड़ाई करना सिखा रही हो दीदी ?

अरुणा अधीर हो उठी। बोली—नहीं नवल ! मैं ऐसा नहीं कर सकती। बहिन भी क्या अपने भाई पर तीर छोड़ सकती है ? विश्वास दिलाती हूँ, जो कह रही हूँ, सब सच है। चाहे माँ से पूछ लो।

अब नवल समझ गया कि बात झूठी नहीं है। वह समझ गया कि अरुणा उसके लिए वह सुरभि है, जिसे वह पकड़ कर अपने पास नहीं रख सकता। उसे मालूम हो गया कि रात-दिन साथ रखने से ही कोई चीज़ अपनी नहीं हो जाती और न अपनी चीज़ हमेशा कोई अपने साथ रख ही सकता है। जिसे हम अपनी समझते हैं, वह दूसरे की भी हो सकती है—होती है और है। फिर हमें क्या अधिकार है उसे जबरदस्ती अपनी ही सीमा में बन्द कर रखने का ?

नवल का भोलापन भाग गया। अब वह गम्भीरता की गोद में बैठा हुआ अपनी क़िस्मत का इतिहास पढ़ रहा था। बार-बार पढ़ता और भूल जाता। सहसा वह पागल की तरह चिल्ला उठा—क्यों दीदी! यही तो जीवन की लड़ाई नहीं है?.

बहिन ने भाई को गले से लगा लिया और कहा—हाँ, यहीं से जीवन का संग्राम प्रारम्भ होता है नवल! खूब समझ कर लड़ना। आशीर्वाद देती हूँ, तुम विजयी बनो।

३

ऐन मौके पर—विवाह-मुहूर्त के ठीक चार-पाँच घण्टे पहले वर-पक्ष की ओर से यह ख़बर आई कि लड़के की तबीयत ख़राब हो गई, वह यहाँ नहीं आ सकता। अगर विवाह करना हो, तो पुरोहित जी के साथ कन्या यहीं भेज दी जाय।

बेचारी विधवा के प्राण नहों में समा गए। वह सहम उठी। अब क्या होगा? आज अगर विवाह नहीं हुआ, तो फिर पूरे तीन साल तक दिन नहीं है। लड़की जवान हो गई है—तीन साल तक इसे कैसे रोके रहूँगी? लोग क्या कहेंगे? तो क्या बेटी को योंही पानी में बहा दूँ? अपनी आँखों से इसका विवाह भी नहीं देखना बदा है। विवाह

के लिए भी क्या जीवन में इतनी बड़ी-बड़ी मुसीबतें उठानी पड़ती हैं! बेचारी कुछ तय नहीं कर पाती थी। इसी उधेड़-बुन में बैठी थी कि क्या करें, क्या न करे। इतने ही में पं० भोलानाथ जी पालकी लेकर आँगन में आ धमके और लगे मीठी-मीठी बातों से अरुणा की माँ को प्रबोधने—किया क्या जाय? भगवान् की यही मर्ज़ी थी। विवाह तो उसी समय हो चुका, जब दोनों ओर के लगन स्वीकृत हो गए। हमारे सनातनधर्म में लिखा है कि नहीं? जहाँ एक बार कन्या के मन में वर का ध्यान आया कि विवाह हो गया। सो अब किया क्या जाय? सुकुमार लड़का है—ज़रा सा सिर में दर्द-वर्द हो गया होगा। बस, अड गया। बड़ी मुश्किल से तो विवाह पर राज़ी हुआ था। गुनवान् है कि नहीं? इसीसे तो इतना आदर माँग रहा है। कवि ने कहा है कि नहीं—"ख़ुदा जब हुस्न देता है, नज़ाकत आ ही जाती है।" मतलब यह कि समय पड़े पर गधे को भी बाप कहना पड़ता है। अगर आगे कोई दिन होता, तो कोई बात नहीं थी। दिन भी आएगा तो तीन बरस बाद। उफ़! तब तक कौन जाने क्या हो जाय?

विधवा बेचारी बड़े सङ्कट से बोली—आख़िर क्या करना चाहते हैं? वही कीजिए न! मैं तो आपको वचन दे ही चुकी हूँ।

"हाँ सो तो ठीक ही है। मैं अपना ही हूँ कि कोई बेगाना, जो आप मुझ पर विश्वास नहीं करेंगी। सब ज़िम्मेदारी मैं अपने ऊपर लेता हूँ। जाने दीजिए बच्ची को मेरे साथ। विवाह कराके मैं आज तो नहीं, कल सवेरे लौटूँगा। फिर दो-चार दिनों बाद बच्ची को आप कहेंगी तो लिवा लाऊँगा। है कि नहीं? कहाँ है रे हजारी! कहो कहार लोग पालकी ठीक करें।"

थोड़ी ही देर में अरुणा पालकी के भीतर बन्द कर दी गई। विधवा चुपचाप आँसू बहा रही थी। उसे ऐसा मालूम हो रहा था कि उसने जान-बूझ कर बेटी को गङ्गा में बहा दिया; मगर कर क्या सकती थी? परवशता से बढ़ कर भी क्या दुनिया में कोई अभिशाप है?

४

विवाह के बाद पता चला कि अरुणा के पति—किशोर बाबू क्षय-रोग से ग्रसित हैं। जिसने सुना वही माथा ठोंक कर रह गया। अरुणा की माँ अपनी नादानी पर रोते भी लजाती थी। उसकी मति क्यों मारी गई? उस धूर्त ब्राह्मण के ऊपर विश्वास करके उसने अपनी बेटी के गले पर अपने ही हाथों से छुरी चलाई। अगर उस समय वह लड़की को न जाने देती—सूनी पालकी अपने आँगन से लौटा देती, तो कोई उसका क्या कर लेता? यही न होता कि

लड़की तीन साल तक कॉरी रह जाती ; लोग उसकी हँसी उड़ाते ; उस पर फब्तियाँ कसते, और क्या होता ? लड़की का सारा जीवन बर्बाद होने से तो बच जाता ! वह बार-बार इन्हीं बातों को सोचती रहती और मन ही मन रोती रहती थी। अपराधियों को खुले-आम आँसू बहाने का भी कहाँ अधिकार होता है ? वह बेचारी रोना चाहती थी, मगर ज्योंही रोने लगती त्योंही उसे मालूम होता कि जैसे समूची दुनिया उसकी अवस्था पर हँस रही है। हृदय के उमड़े हुए आँसू आँखों मे पहुँच कर सूख जाते थे। उपहास के बसेरे में सहृदयता कैसे जी सकती है ? उसकी आँखों के सामने केवल उसी का अपराध नाच रहा था। वह जितना ही सोचती थी, उसे मालूम होता था कि उसीने अपने सर्वनाश का आवाहन किया है। सारा दोष—सारा अपराध—उसी का है अपनी जलाई हुई आग में अब उसे जीवन भर जलते रहना पड़ेगा, दूसरा कोई चारा नहीं।

अरुणा की अवस्था का वर्णन करना व्यर्थ है। विवाह के समय उसकी आँखें मुँदी हुई थी—उन पर सनातनधर्म का पर्दा पड़ा हुआ था। जिनके चरणों पर वह अपना जीवन समर्पित कर रही थी, उनको भर नजर देखने का भी उसे कोई अधिकार नहीं था। उसके सुहाग की रात भी कितनी सूनी और भयावनी थी ! हाय परमात्मा ! तूने

नारी-जाति की सृष्टि क्या इसीलिए की है कि वे जीवन की सारी विवशताओं से जकड़ी रहें ? पुरुष-समाज जिस तरह चाहे इन्हें पकाए, जलाए, झुलसाए, और ये चूँ भी न कर सकें ! यदि यही बात है, तो तपस्या, त्याग और प्रेम की इन देवियों के प्रति तेरा कैसा कठोर अत्याचार है ? अरुणा—वह अरुणा जो कल अपने नन्दन-कानन की कल्पना में विचरण कर रही थी, आज अपनी आशाओं के श्मशान पर बैठी तड़प रही है। मगर इस तड़प का कुछ मूल्य भी है ? इस उत्सर्ग का कोई वरदान भी है ?

५

किशोर की अवस्था बराबर बिगड़ती ही गई। अरुणा सब-कुछ छोड़ कर रात-दिन उसी की सेवा में लगी रहती थी। रोगी का स्वभाव चिड़चिड़ा हो जाता है। उसकी इतनी सेवा पर भी किशोर उसे बार-बार गालियाँ दिया करता। इसी महीने-दिन के भीतर न जाने बेचारी को पतिदेव के हाथों से कई बार मार भी खानी पड़ी। छोटी सी भूल पर खड़ाऊँ छुट जाती थी। वह रोती तो क्या, आँसू पीकर रह जाती थी। इतनी सेवा-टहल करने पर भी यह पुरस्कार ! अरुणा ईश्वर का नाम लेकर चुपचाप सब सहती जाती थी। क्या करती ? सोचती—मेरे भाग्य में यही लिखा था। उसे भोगना ही है तो रोकर क्यों भोगूँ ? जो कुछ बीतता जायगा, भोगती जाऊँगी।

दो पहर रात का समय था। अरुणा धीरे-धीरे अपने स्वामी को पङ्खा झल रही थी। सहसा किशोर के मुँह से खून बलबला पड़ा। मुँह-हाथ धो लेने के बाद उसकी अवस्था और भयानक हो उठी। घर के सभी लोग जाग उठे। रोगी बड़ी बेचैनी से खाट पर तड़पने लगा। तड़पते-तड़पते उसने एक बार पास बैठी हुई अभागिनी अरुणा पर अपनी ममता-भरी निगाहें डालीं और लपक कर उसका हाथ पकड़ लिया। बड़े कष्ट से उसने कहा—मुझे माफ करना—मेरा कोई कुसूर नहीं...... ..।

अरुणा अब अपने को सँभाल न सकी। बुक्काफाड़ कर रो पड़ी—उसका सिर किशोर की हथेली पर था!

रोना सुनते ही किशोर की माँ चिल्ला उठी—कैसी कुलच्छनी है? चुप रहती हो कि नहीं?

किशोर की भावज ने कहा—कुलच्छनी नहीं है तो आते ही यह दशा क्यों हुई? जिस दिन से इसके विवाह की बात चली, उसी दिन से घर में विपत ने पैर रक्खा! चुप रहो, नहीं मेरा बच्चा जाग उठेगा।

इतने ही में किशोर के पिता जी आ पहुँचे। उन्होंने भी कह दिया—मालूम तो हो गया कि बहू जी बड़ी दर्दमन्ती हैं; इस तरह रो-रोकर ही तो मेरे बेटे की बीमारी बढ़ाई है। अब क्या विचार है...........।

किशोर अब तक अपने को सँभाले हुए था। अब आपे से बाहर हो गया। बल न रहते हुए भी जी छोड़ कर चिल्ला उठा—जाओ, हटो तुम लोग मेरे सामने से! माँ और बाप, भाई और भौजाई बन कर तुम लोगों ने मेरे साथ क़साई का काम किया है। इस बेचारी निर्दोष बालिका का सत्यानाश कर दिया—इसकी तो लाज नहीं आती, उलटे चले हो अपनी नीचता का नङ्गा नाच दिखाने। तुम सभी नाबदान के कीड़े हो। हटो, दूर हो जाओ मेरे सामने से। तुम्हारी साँसों से मुझे नरक की दुर्गन्ध आ रही है। तुम्हारे प्रत्येक शब्द में पैशाचिक अट्टहास छिपा हुआ है! हटो-हटो सच कहता हूँ, सामने से भाग जाओ; नहीं तो सबको कच्चा चबा डालूँगा.........।

यह कह कर वह खड़ा हो गया। सब के सब डर के मारे सहम उठे। उस समय उसका रूप विनाश से भी बढ़ कर भयानक हो उठा था! सब के सब अकबका कर वहाँ से दूर हट गए। अरुणा का रोना बन्द हो चुका था। उसने झपट कर पति को पकड़ लिया, और उसे बिस्तरे पर लिटा दिया। उसने फिर सुना—देवी! मरते समय यही भीख माँगता हूँ कि मुझ पापी को क्षमा करना!

अरुणा पति के चरणों पर लोट गई। सुहाग की सेज से भी बढ़ कर शीतल और सुखदायिनी उस प्रणय-वेदी

पर गिरते ही उसको चेतना खो गई। थोड़ी ही देर में वह वहाँ से भी उठा कर दूर फेंक दी गई। सवेरे होश आने पर देखा, उसका संसार सूना पड़ा था !!

३

अरुणा से बिछुड़ते ही नवल सीधे अपने बाप के घर चला गया। धीरे-धीरे उसके स्वभाव में प्रतिक्रिया शुरू हो गई। सङ्गी-साथी भी कुछ रँगीले मिज़ाज के मिल गए ! हृदय में सौन्दर्य की भावना जागृति हो गई—बुतपरस्ती के नशे में यौवन का तूफ़ान मतवाला हो उठा ! साल-दो साल हो गए, मगर वह अरुणा से नहीं मिला। अब उसके सामने जाते उसे लाज आती थी। मलिनता के सम्पर्क से मनुष्य अपनी ही निगाहों में गिर जाता है। वह समझने लगता है कि सारी दुनिया हमारा रङ्ग पहचान जायगी।

आखिर वह दिन भी आ गया। उसके गौने की बात ठहरी। नवल का हृदय अपनी प्रेयसी को देखने के लिए बाँसों उछल रहा था। उसके मन में तरह-तरह के भाव उदय हो रहे थे। देखने में सुन्दर नहीं हुई तो ? तब तो बड़ा बुरा होगा। जीवन जीवन ही नहीं रह जायगा, वह तो गधे का बोझ हो जायगा, जिसे ढोते भी शर्म आएगी ! इसी उधेड़-बुन में वह बेचारा ससुराल पहुँचा।

नवल के सौन्दर्य की परिभाषा इतनी सरल नहीं थी

कि अपनी स्त्री का रूप देख कर वह मोहित हो जाता। उसका रङ्ग गोरा था, चेहरा भरा हुआ था, आँखे बड़ी-बड़ी थीं, केश लम्बे थे—सब कुछ था, मगर वह सुन्दरी नहीं थी। कम से कम चेहरे पर शीतला के दो-चार दाग़ और नाक का कुछ चिपटा होना उसकी असुन्दरता के प्रत्यक्ष और सबल प्रमाण थे। नवल क्षुब्ध हो उठा। इससे कहीं बढ़ कर रूप और यौवन का वैभव उसने देखा था—रोज़ देखता था। उसे आशा थी कि उसका वैभव सब से बढ़ कर होगा, मगर वह हुआ नहीं। उसे अपने माँ-बाप पर क्रोध आया। वह झल्ला उठा। उस बेचारी के प्रति भी उसके मन में अरुचि और घृणा के भाव भर आए। अपने जीवन के इस अभाव पर वह बार-बार पछताने लगा।

सबेरे वह अरुणा से मिला तो इस तरह रोने लगा, जैसे कोई बच्चा अपनी माँ के मर जाने पर रोता है! अरुणा ने समझा—बरसों बाद मिला है, मेरी दशा देख कर आँसू उमड़ आए हैं। वह भी देर तक उसके साथ रोती रही। रोने के बाद दोनों ने दोनों को देखा। कितना अन्तर था? नवल अब वह नवल नहीं था। अरुणा अब वह अरुणा नहीं थी! दोनों बदल गए थे।

रोना समाप्त करते ही नवल बोल उठा—ऐसी ही रूपवती पतोहू देखने को मेरी माँ मरी जा रही थीं?

"क्यों, कोई काली-कलूटी तो नहीं है ?"

"हाँ, यही एक कमी रह गई है।"

"बात क्या है नवल ?"

"कुछ नहीं दीदी ! सब ठीक है।"

यह कह कर वह उठ खड़ा हुआ, और वहाँ से चलता बना। अरुणा खोई सी चुपचाप खड़ी थी !

७

विधवा से बढ़ कर बुरी बला दुनिया मे कोई नहीं ! जिस घर में एक भी विधवा हुई, वहाँ का समस्त वातावरण दूषित हो जाता है। वह बेचारी सबकी आँखों का काँटा बन जाती है। लाखों गुण रहते हुए भी वह किसी काम की नहीं रह जाती। जो चाहता है, उसे दो ठोकरें लगा देता है। अरुणा भी उन्हीं अभागिनियों में से एक थी। घर के किसी प्राणी को उसकी दशा पर दया न आती। दिन-रात काम में जुती रहने पर भी उसे सास, जेठानी और ननद की गालियाँ सहनी पड़तीं। उस पर भी कपड़े और तेल को तरसना पड़ता था। कभी अगर ज़रा साफ़ कपड़े पहन लेती, तो उसके ऊपर ताने पड़ने लगते—अरमान तो सभी हैं, मगर नसीब कहाँ से लाएगी ? वह तो पहले ही फूट गया !

अगर कभी केश को मिट्टी से धोने बैठती, तो कानों में

ये शब्द गूँजने लगते—साबुन के बिना तो केश मुलायम नहीं होते। पर किया क्या जाय, लाचारी है!

कलेजे को पत्थर बना कर वह बेचारी इन बातों को बड़े धैर्य से सुन लिया करती। मगर धैर्य और सहिष्णुता की भी एक सीमा है।

एक दिन कमरे में बैठ कर वह अपने केशों को सँवार रही थी! इसी समय ननद जी आ गईं। देखते ही उनका पारा चढ़ गया। कड़क कर बोल उठीं—इस तरह सिंगार-पटार करके अब किसको रिझाओगी? भोजन बनाने की भी कोई फ़िकर है? देखो तो जरा, शाम हो गई कि नहीं?

उसी समय जेठानी जी भी आईं और कहने लगीं—अरे बाप रे बाप! ये जायँगी खाना पकाने!! न इनके सिङ्गार में बाधा न डालो, नहीं तो बड़ा अनर्थ हो जायगा।

अरुणा अब अधिक ज़ब्त न कर सकी। चोट खाई हुई साँपिनी की नाईं फुँफकार कर बोल उठी—जाइए, आप लोग सामने से हट जाइए। मैं मजदूरिन नहीं हूँ कि दिन-रात आप लोगों की चाकरी मे लगी रहूँ, अगर इसी तरह कुतिया का जीवन बिताना है तो और कहीं बिताऊँगी—यहाँ नहीं।

यह पहली ही फुँफकार थी। दोनों मल्ला कर वहाँ से चली गईं। अरुणा बैठी-बैठी अपनी क़िस्मत पर आँसू

बहाती रही। हाय! उसके जीवन में कितना सन्ताप था!!

८

रात मे सोते समय अरुणा की जेठानी ने अपने पतिदेव के कानों के पास मुँह ले जाकर कहा—कुछ सुना?

"क्या?"

"चुपचाप बैठे रहो, फिर पीछे पता चलेगा।"

"आखिर कुछ कहो भी।"

"अब भी कहने की जरूरत है? आँखें फूट गई हैं क्या?"

"तुम तो पहेली पर पहेली गढ़ती जा रही हो—कोई समझे क्या खाक या पत्थर?"

"जिसकी अक़्ल पर पत्थर पड़ जाता है वह ऐसी ही बातें करता है।"

"अरे भई! कुछ कहो भी।"

"कहूँ क्या? दुलहिन जी अब पगड़ी उतरवाए बिना नहीं रहेंगी।"

"बात क्या हुई?"—बेचारे घबरा कर उठ बैठे!

"और क्या बात होगी—तीसरा महीना तो बीत रहा है!"

"कैसी बातें करती हो तुम भी !"

"हाँ, मैं तो नादान बच्ची हूँ, पड़ोगे फेर में तब मालूम होगा।"

"तो क्या सच कहती हो ? यह कुकाण्ड कैसे हो गया ?"

"कुकाण्ड क्यों नहीं होगा ? जवान नौकर है, उसके साथ घण्टों बातचीत हुआ करती थीं। अगर कुछ कहा जाता था, तो देवी जी उलटे भल्ला उठती थीं, उसी का फल है, और क्या होगा ?"

"तो अब क्या होगा ?"

"होगा क्या ? परसों पूर्णिमा है ही, काशी नहला आओ—सब झञ्झट दूर हो जाय।"

दोनों इसी प्रस्ताव पर राजी होकर सो रहे। सवेरे उठते ही जेठानी जी ने अरुणा से कहा—कल पूर्णिमा है। हम लोग काशी नहाने जा रही हैं। घर में कोई नहीं रहेगा। तुम्हें भी चलना पड़ेगा।

अरुणा ने भी स्वीकृति दे दी। उसे क्या मालूम कि काशी में गङ्गा स्नान करने वाली तरुणी विधवाओं के पुण्य का क्या मूल्य है ?

६

नवल की स्त्री यशोदा अपनी क़िस्मत को अलग रो

रही थी। इसके कष्टों का भी कोई पारावार नहीं था। जब से ससुराल आई, एक दिन भी पति ने उससे जी खोल कर बातचीत नहीं की। वह हर तरह से नवल की सेवा में लगी रहती। कपड़े-लत्ते सजा कर रखना, कमरा धोना-बुहारना, उसे समय पर नहलाना-धुलाना, खिलाना-पिलाना आदि जितने भी उपचार थे, सब में वह लगी रहती, मगर इसकी ओर एक बार नेह की निगाह डाल कर देखने वाला कोई नहीं था! नवल केवल भोजन के समय हवेली में क़दम रखता, फिर उसकी छाया भी यशोदा के लिए अलभ्य हो जाती थी! खाते समय भी उसके मुँह में दही जमा रहता था। वह बेचारी बोलने की लाख चेष्टा करती, मगर सब निष्फल। इसी तपस्या में समूचा साल गुज़र गया, लेकिन वरदान का कहीं पता नहीं था। वरदान देता कौन? देवता ही तो रूठा हुआ था!

*　　　*　　　*

बसन्त की मस्तानी सन्ध्या थी। यार लोगों की मजलिस जमी हुई थी। प्याले पर प्याला उँडेला जा रहा था। क़हक़हे से सारा कमरा सिहर रहा था। नवल बाबू मस्त होकर हारमोनियम पर अपनी उँगलियाँ नचा रहे थे, इतने में किसी यार ने कहा—नवल! चलो आज तुम्हें एक चोखा माल चखाऊँ। तबीयत खुश हो जायगी, खुदा-क़सम।

"कहाँ यार ?"

नवल के मुँह से राल टपक पड़ी। ठीक उसी तरह, जिस तरह जूठी पत्तल को देखते ही कुत्ते के मुँह से टपक पड़ती है!

"अरे यार! कुछ पूछो मत। सारे बनारस में वैसा माल खोजे भी न मिलेगा। खुदा-क़सम सच कहता हूँ।"

"तो चलो, आज की रात कटे उसी के कोठे पर, कितना लगेगा ?"

"अरे, ले लो साथ में चालीस-पचास रुपए और क्या ?"

"बस, इतने से काम चल जायगा ?"

"नहीं चलेगा तो फिर देखा जायगा।"

"अच्छी बात है, मगर चलने का समय बता दो!"

"यहाँ से तुम ठीक साढ़े ग्यारह बजे चल देना।"

"बहुत खूब, अच्छा तो आज की मजलिस ख़तम ?"

"ख़तम!"

यार लोग चल दिए। नवल भी छड़ी उठा कर घूमने निकल गए। जब रात के ग्यारह बज गए, तब आपने भीतर हवेली में क़दम रक्खा। खा-पीकर सीधे अपने ऊपर वाले कमरे में गए। सन्दूक़ से कुछ रुपए निकाले और चल पड़े। द्वार पर यशोदा खड़ी थी। उसने सारी बातें सुन ली

थीं—पहले से भी जानती थी। आज वह तैयार होकर आई थी। आँखों में आँसू भर कर बोली—आखिर मेरा भी आपके ऊपर कोई अधिकार है या नहीं ?

नवल ने झल्ला कर कहा—ये सब .खुराफात बातें मैं नहीं जानता।

"तब कौन जानेगा ?"

"मैं नहीं जानता ; और चाहे जो जाने।"

"आप रोज़ इसी तरह सारी रात ग़ायब रहा करते हैं। आज किसी तरह भी नहीं जाने दूँगी।"

"तुम मेरे पैरों की बेड़ी नहीं बन सकती हो। हटो, मुझे देर हो रही है।"

"नहीं मेरे देवता ! मैं आपके पैरो की वेड़ी नहीं, उसमें लिपटी रहने वाली धूल हूँ। मुझ अभागिनी पर दया करो। एक मात्र तुम्हारी ही दासी हूँ, मेरी दर्दनाक हालत पर कुछ तो रहम करो मेरे स्वामी !"—इतना कह कर यशोदा ने पति के दोनों हाथ पकड़ लिए।

"बस-बस, बहुत नखरे बघार चुकीं। जाओ, उधर जा कर रोओ। मुझे तुम्हारी सूरत से घृणा है।"—यह कह कर उसने यशोदा को दो-तीन धक्के लगा दिए। वह बेचारी दूर जा गिरी। नवल तेजी के साथ सीढ़ी से नीचे उतर गया।

यशोदा का नारी-दर्प सजग हो गया। उसे अपने जीवन

से अरुचि हो गई। ऐसे जीवन से क्या लाभ, जिसमें दिन-रात रोने के सिवाय और कुछ काम ही नहीं रह जाय? अपने रोते हुए यौवन का यह दारुण अपमान सह कर कौन युवती जीवित रहना चाहेगी? धिक्कार की चोटों से मर्माहत होकर यशोदा बड़ी देर तक वहीं पड़ी-पड़ी तड़पती रही। फिर उठी और अपने कमरे में घुस गई। दीवार में एक बड़ी ही सुन्दर चमकती हुई कटारी लटक रही थी। उसे हाथ में लेकर बार-बार चूमने लगी। फिर न जाने क्या सोच कर उसे वहीं रख दिया और चुपके से घर छोड़ कर बाहर की राह ली। रात के उस सन्नाटे में न जाने वह किधर को निकल गई!!

१०

रात के बारह बज गए। नवल बाबू अपने दोस्तों के साथ बाई जी के कोठे पर जा जमे, बाई जी आकर नवल के सामने बैठ गईं। नवल की आँखें उस पर पड़ीं और उसकी नवल पर। नवल के नीचे से ज़मीन खिसक गई, उसे समूचा कमरा घूमता हुआ नजर आने लगा। बाई जी का समूचा शरीर पसीने से तर हो गया—उनके सिर पर एक साथ ही सहस्रों वज्र गिर पड़े!!

सब के सब स्तब्ध थे! इन दोनों के चेहरे पर हवाइयाँ उड़ रही थीं—दोनों का रक्त सूख गया था! नवल को

अपना उज्ज्वल अतीत याद हो आया। वह अब चुपचाप बैठा नहीं रह सका—"दीदी! मेरा उद्धार करो!!" यह कह कर बाई जी के चरणों पर लोटने लगा।

बाई जी उससे लिपट कर बच्चों की तरह रोने लगीं। दोनों को रोते-बिलखते देख, यार लोग धीरे-धीरे वहाँ से खिसकते बने। कमरे में उन दोनों के सिवाय और कोई नहीं रहा। जी भर कर रो लेने के बाद नवल ने पूछा—तुमने यह क्या किया दीदी?

अरुणा के ओठ क्रोध से काँपने लगे। बोली—तुम मर्दों को यह पूछने का कोई हक़ नहीं है। क्या मैं भी पूछ सकती हूँ कि तुम इस नरक के कीड़े क्यों बन गए? मेरी कहानी सुनोगे तो जीने को जी नहीं चाहेगा। मेरी जेठानी जी के पतिदेव मुझे यहाँ गङ्गा-स्नान के लिए ले आए थे, उन्हीं के प्रताप से आज मैं इस रौरव में सड़ रही हूँ। कहानी लम्बी है! चलो—उठो यहाँ से। यदि हिम्मत हो तो मुझे अपनी बहिन बना कर अपने घर लिए चलो। वहीं सब बातें सुन लेना—सुन लेना कि तुम मर्दों की नस-नस में पाप के कैसे-कैसे भयङ्कर कीड़े भरे रहते हैं। चलो, निकलो यहाँ से...!

नवल सिर झुका कर अपराधी की तरह उसके पीछे-पीछे चला। सीढ़ी पर पाँव रखते ही अरुणा ने कड़क कर पूछा—तुम कौन हो? इस तरह द्वार पर क्यों खड़ी हो?

"अपने देवता का अन्तिम दर्शन करने को खड़ी हूँ दीदी ! बस और कोई साध नहीं है।"

"बस-बस, काफ़ी सज़ा पा चुका। अब और लज्जित मत करो देवी ! मेरे ऊपर दया करो !!"—इतना कह कर नवल यशोदा के चरणों पर गिर पड़ा। अरुणा उसके गले से लिपट कर रो रही थी। रौरव के द्वार पर इस नए स्वर्ग का शृङ्गार कितना कारुणिक, पवित्र और सुन्दर था !!

ख़ाक में मिल कर

ख़ाक में मिल कर

सिखाया हुआ घोड़ा था, रास खींचते ही गाड़ी को पीछे ठेल कर खड़ा हो गया। एक क़दम भी और आगे बढ़ जाता तो सारा मामला ही ख़तम था। किसी तरह भी युवक की जान न बचती। वह इस तरह पिस कर मर जाता, जैसे काल-चक्र के नीचे पड़ कर किसी का सौभाग्य मर जाता है। गाड़ी रुकते ही भवानी बाबू नीचे उतर आए। साथ ही उनकी बेटी ललिता भी उतर पड़ी। भय के मारे उनका समूचा शरीर काँप रहा था—वे पसीने से तर हो रहे थे। उनकी बेटी का भी बुरा हाल था। उसकी छाती गरम इञ्जिन की तरह धक्-धक् कर रही थी।

भवानी बाबू ने पास जाकर देखा, युवक बेहोश पड़ा था। उसके सिर में एक गहरी चोट भी थी। ख़ून बह रहा था। बाबू साहब उसे देखते ही सहम उठे। बेटी की ओर देख कर वे करुणा-भरे स्वर में बोले—चलो, इसे अस्पताल में रख आएँ।

"अस्पताल मे !"—ललिता जैसे चौंक कर बोल उठी—"वहाँ इसकी सेवा कौन करेगा ?"

"और कहाँ ले चलें ?"—भवानी बाबू ने विवशता दिखाते हुए उत्तर दिया—"वही तो एक जगह है, जहाँ इसकी सेवा हो सकेगी।"

"न, वहाँ तो इसे पहुँचाइए मत, बाबू जी !"—ललिता आग्रह और विनय का भाव दिखाती हुई बोली—"अस्पताल में प्रेम से चिकित्सा नहीं की जाती, वहाँ तो सरकारी नियम निभाया जाता है। कभी-कभी रोगी अकेले कराहा करता है, उसे कोई पानी तक नहीं पिलाने आता। याद नहीं है, उस दिन मुझे आप वहाँ साथ लिवा गए थे न? मैंने अपनी आँखों से देखा, ग़रीबों की वहाँ बुरी गत होती है। वे बेचारे किस तरह तड़प रहे थे ! कोई पूछने वाला नहीं था।"

बेटी की एक-एक बात बाबू साहब के कलेजे में चुभ गई। सारी बातें सच्ची थीं। बड़े असमञ्जस में पड़ कर वे बोले—तब इसे कहाँ ले चलें बेटी ?

"अपने ही घर ले चलना क्या अच्छा नहीं होगा ?"—बेटी ने बाप के ऊपर वह कातर दृष्टि डाली, जिसमें एक सजीव हृदय की मार्मिक पीड़ा नाच रही थी। वह नृत्य कितना कोमल, मधुर और नीरव था !

सहृदय भवानी बाबू की आँखें सजल हो आईं। रुँधे

हुए स्वर में वे बोले—अपने घर में अब सेवा-शुश्रूषा करने वाला कौन रह गया है बेटी ? जब तक तुम्हारी माँ जीती रहीं, तभी तक वहाँ दीन-दुखियों का आदर था। अब कौन इसकी सेवा करेगा ? कौन इसे ठीक समय पर खिलाए-पिलाएगा ?

ललिता के कोमल हृदय में 'माँ' की स्मृति सजग हो उठी। अपने उमड़ते हुए आँसुओं का वेग रोक कर वह ममता-भरी वाणी में बोली—आप इसे घर लिवा चलें। माँ नहीं रह गईं मैं तो हूँ। जहाँ तक मुझसे हो सकेगा, इसकी सेवा से मुख न मोड़ूँगी।

भवानी बाबू गद्गद हो उठे। गर्व-भरे प्यार की आँखों से उन्होंने अपनी बेटी की ओर देखा। इसी समय जैसे उन्हें सहसा कोई बात याद हो आई। उन्होंने चटपट अपनी जेब में हाथ डाल कर एक छोटी सी शीशी निकाली और उस बेहोश युवक को सुँघा दी। उसने अपनी आँखें खोल दीं। भवानी बाबू ने उसे उठा कर अपनी गाड़ी में लिटा दिया। ललिता ने चटपट अपनी साड़ी का एक छोर फाड़ कर उसके घाव पर पट्टी बाँध दी। घोड़े को चाबुक का सङ्केत मिला, वह हवा से बातें करने लगा।

२

डॉक्टर ने कहा—मालूम होता है, इधर तीन-चार दिनों

से इस लड़के ने कुछ खाया-पिया नहीं है। इसी कारण कोई ठोकर-चोकर खाकर सड़क पर गिरते ही बेहोश हो गया होगा। क्यों भवानी बाबू, गाड़ी का धक्का तो इसे नहीं लगने पाया था न ?

"जी नहीं, यह ज्योंही गिरा त्योंही गाड़ी रोक ली गई। लेकिन यह नहीं कह सकता कि इसने कब से खाया-पिया नहीं, या यह कैसे बेहोश होकर गिर पड़ा। इसकी हालत खराब हो रही है क्या ?"

"बस, और कोई चिन्ता नहीं। भूख के मारे कमज़ोरी बहुत बढ़ गई है। इसे मूँग की थोड़ी सी पतली दाल पिला दीजिए। ताक़त हो आए तो रात में थोड़ा-सा गरम दूध दे दीजिएगा।"

"और घाव का क्या हाल है डॉक्टर साहब ?"—ललिता ने बड़ी उद्विग्नता से पूछा—"कोई डर तो नहीं है ?"

"नहीं बेटी ! कोई चिन्ता नहीं।"—डॉक्टर रतनलाल ने प्यार-भरे शब्दों में जवाब दिया—"बहुत जल्द आराम हो जायगा। मैं जो यह दवा दिए जाता हूँ, इसे हर तीसरे घण्टे के बाद घाव पर लगा कर पट्टी बदल दिया करना। अच्छा ?"

"अच्छा"—कह कर ललिता ने डॉक्टर साहब के ऊपर एक कृतज्ञता-भरी दृष्टि डाल कर उन्हें निहाल कर दिया।

न जानें क्या सोचते हुए वे वहाँ से चल दिए। उनका हृदय इस समय एक मीठी कल्पना के रस से ओत-प्रोत हो रहा था, मगर ऐसी कल्पना का वास्तविक रूप भी किसी को नसीब हुआ है?

डॉक्टर के चले जाने पर युवक को दाल का पानी पिलाया गया। उसका चेहरा कुछ खिल उठा, धीमे स्वर में उसने पूछा—मैं कहाँ हूँ?

"इसे अपना ही घर समझो बेटा!"—भवानी बाबू ने उसके सिर पर हाथ फेरते हुए कहा—"किसी तरह की चिन्ता मत करो। तुम्हे कोई कष्ट न होने पाएगा।"

युवक कुछ नहीं बोला। उसने एक लम्बी साँस खींच कर करवट बदल ली। ललिता ने देखा, उसकी आँखो से यौवन की कातरता बह रही थी—वह धीरे-धीरे सिसक रहा था।

भवानी बाबू ने पूछा—रोते क्यों हो बेटा? इस तरह तो पीड़ा और भी बढ़ जायगी।

वह अब बिलख-बिलख कर रोने लगा। ललिता भी कातरता के वेग में बह चली। भवानी बाबू ने उसके आँसू पोंछते हुए कहा—चुप रहो बेटा! देखो, तुम्हें रोते देख कर मेरी ललिता भी रो रही है।

इतना सुनते ही युवक चुप हो गया। 'मुझे रोते देख कर एक दूसरा आदमी भी रो रहा है' यह जान कर उसे बड़ी

सान्त्वना मिली। उसने बलपूर्वक अपना रोना बन्द कर लिया और चुपके से झुकी हुई ललिता के ऊपर अपनी एक हलकी सी निगाह फेंक दी। उसके चुप हो जाने पर भवानी बाबू ने पूछा—तुम्हारा घर कहाँ है बेटा ?

"भागलपुर ज़िले के एक ×××"—युवक के मुँह से मानो ग़लती से इतना निकल पड़ा। इसके आगे उसने अपनी वाणी रोक ली।

"गाँव में ?"—भवानी बाबू ने स्वयं उसकी बात पूरी कर दी।

"जी हाँ"—युवक अस्वीकार न कर सका।

"तब यहाँ कैसे आ गए बेटा, तुम्हारे माँ-बाप भी साथ है ? काशी-धाम की यात्रा करने आए हो ? तुम उनसे बिछुड़ गए ? वे हैं कहाँ ?"

युवक उत्तेजित स्वर में कहने लगा—नहीं-नहीं, मैं यात्रा-वात्रा कुछ नहीं करने आया। माँ-बाप कोई भी मेरे साथ नही है। क़िस्मत की आँधी में उड़ता हुआ मैं यहाँ तक चला आया हूँ। इसके सिवाय और कुछ नहीं बता सकता।

भवानी बाबू उसकी इस आकस्मिक उत्तेजना का कोई अभिप्राय नहीं समझ सके। उनकी उत्सुकता और भी बढ़ गई। लेकिन इस समय उन्होंने चुप ही रहना अच्छा समझा।

धीरे-धीरे थोड़ी देर में उसे नींद आ गई। भवानी बाबू ने धीरे से कहा—देखो तो बेटी! इसकी जेब में वह काग़ज़ कैसा है?

ललिता ने काग़ज़ निकाल कर देखा। उस पर सिर्फ़ इतना ही छपा था—"श्री० नयनचन्द्र वर्मा, पुरानी सराय (भागलपुर)।"

दो ही तीन घण्टे में उसकी नींद टूट गई। वह पीड़ा से फिर कराहने लगा। ललिता ने घाव की पट्टी बदल दी। जब उसका कराहना कुछ कम हुआ, तब उससे एक स्निग्ध और करुण-स्वर में पूछा गया—थोड़ा सा दूध ले आऊँ?

"हाँ"—कह कर युवक ने करवट बदल ली।

३

नयन अच्छा हो गया। उसका घाव बिलकुल आराम हो गया। भवानी बाबू के घर में रहते हुए उसे लगभग दो महीने हो गए। वे उसे अपने एकलौते बेटे की तरह मानने लग गए थे। उसका भी मन वहाँ रम गया था। अपने रूप, गुण और स्वभाव के कारण वह उस घर में सबकी आँखों का तारा बन गया था। ललिता तो उसे अपना सब कुछ मान बैठी थी। नयन लाख पूछने पर भी अपने सम्बन्ध की कोई बात नहीं बताता। वह क्यों घर छोड़ कर भाग आया, क्यों फिर वहाँ नहीं जाता, आदि किसी भी

प्रसङ्ग पर वह कुछ बोलना नहीं चाहता। अगर स्वयं भवानी बाबू भी कभी उस प्रसङ्ग को छेड़ देते, तो वह बुरी तरह झल्ला उठता। कई बार बाबू साहब ने चाहा कि उसके घर ख़बर भेज दी जाय, पर वे डर के मारे वैसा कर नहीं सके। नयन ने उन्हें क़समें दे रक्खी थीं कि अगर इस तरह की कोई भी बात उन्होंने की, तो वह विष खाकर मर जायगा।

इसी तरह समय बीतता जा रहा था। नयन आग से भी अधिक उत्तप्त और तूफान से भी अधिक उत्तेजित रहा करता था। उसके मन में शान्ति नहीं थी, वह भीतर से सुखी नहीं था। उसका हृदय सदैव रोया करता, मगर आँखें उसे बता नहीं सकती थीं। वह अधिकतर चुपचाप बैठ कर भवानी बाबू के पुस्तकालय में पढ़ता रहता। शाम को उन्हीं के उद्यान में जा बैठता और तब तक वहाँ बैठा रहता, जब तक ललिता उसे भोजन के लिए बुला कर न ले जाती।

नित्य की तरह उस दिन भी वह उसी उद्यान में—अपनी निराशा के उसी आँगन में—जल से बिछुड़ी हुई मछली की तरह तड़प-तड़प कर अपने जीवन की सूनी सन्ध्या का अवसान कर रहा था। वह चली गई और रजनी आई। उसके लहराते हुए अञ्चल पर चाँद की किरणें लोट-पोट हो रही थीं। वे किरणें चाहे जितनी भी शीतल हों, नयन के तपे हुए शरीर पर आग की चिनगारियों का काम कर रही थीं। वह

जल रहा था। उत्तप्त वेदना की एक लम्बी आह भर कर वह वहीं एक जूही के गाछ-तले लेट गया। उसकी आँखें हँसते हुए तारों पर थीं, शरीर वसुन्धरा की गोद में था, और मन? आह! यह कैसे बतलाया जाय कि उसका पागल मन कहाँ चला गया था। धीरे-धीर शरीर अलसाने लगा, आँखों में मादकता छा गई और वह वहीं सो गया।

थोड़ी ही देर में उसे एक स्वप्न हुआ—"मण्डप सजा हुआ है। स्त्रियाँ मङ्गल गीत गा रही हैं। चारो ओर तरह-तरह के बाजे बज रहे हैं। सारे घर में सङ्गीत और आनन्द की धाराएँ उमड़ रही हैं। वह ललिता के साथ विवाह की वेदी पर बैठा हुआ है। मगर ज्योंही उसका पाणिग्रहण करने को वह अपना हाथ बढ़ाता है, त्योंही एक पगली वहाँ पहुँच जाती है। उसके एक हाथ में रक्त से भरा हुआ खप्पर है और दूसरे में झाड़। ललिता को धक्का देकर वह वेदी से बहुत दूर गिरा देती है। उसके बाद ही नयन के ऊपर वह दाँत किचकिचा कर झपट पड़ती है। उसके सिर पर वह खप्पर पटक देती है और अपने दोनों हाथों से पकड़ कर उसका गला दबाने लगती है।" इसी समय उसके मुँह से एक चीख़ निकल आई। वह पसीने से तर हो गया। एक असहाय बेलि की तरह वह काँप रहा था। अचानक आँखें खुलते ही उसने देखा, ललिता उसके सिर को अपनी गोद

में रख कर बैठी थी और उसके मुँह पर अपने अञ्चल से हवा कर रही थी।

वह घबड़ा कर उठ बैठा और बोला—ललिता !

"नयन !"

"तुम यहाँ क्यों आईं ?"

"और कहाँ जाऊँ ?"—वह कातर होकर बोली।

"आह! ललिता, अगर तुम जानती होती × ×"—नयन ने दोनों हाथों से अपनी आँखें ढँक लीं और पागलों की तरह उठ कर खड़ा हो गया।

ललिता ने दौड़ कर उसका हाथ पकड़ लिया और वह बोली—तुम न तो किसी को अपने मन की बात बताते हो, न बताने देते हो। इस तरह दिन-रात रो-रोकर अपना सोने-जैसा शरीर क्यों गलाए जा रहे हो ? क्या तुम समझते हो कि तुम्हें इस हालत में देख कर और किसी को दुख ही नहीं होता ?

"जानता हूँ, खूब जानता हूँ ललिता ! मुझे दुखी देख कर किसी और को भी दुख होता है। इसीलिए उस 'किसी' के सामने सदैव हँसते रहने की ही चेष्टा किया करता हूँ। रोने की हविस रखते हुए भी 'उसके' आगे पेट भर रो नहीं पाता। जब वेदना का वेग बहुत ही बढ़ जाता है, तब इस जूही की छाया में आ जाता हूँ। अब यहाँ आकर भी मैं

अपना सन्ताप कम नहीं करने पाऊँगा ललिता ? मेरे लिए क्या अब दुनिया में रोने को भी जगह नहीं रह गई ?"

"आख़िर क्यों इस तरह रोया करते हो नयन ?"

"इस जीवन में, इसके सिवाय, और मैं कर ही क्या सकता हूँ ललिता ?"

"तो इस बेकारी में हँस-खेल कर समय नहीं बिता सकते ?"

"काश मैं वैसा कर सकता !"

"अच्छा, और कुछ न सही, यह तो बताओ कि उस समय जब तुम सो रहे थे, तुम्हें हो क्या गया था ?"

नयन अपने स्वप्न की बातें याद करते ही काँप उठा। वह चुप हो रहा।

ललिता ने फिर आग्रह किया—न बताओगे ?

"स्वप्न में डर गया था।"

"तो इस तरह जहाँ पाते हो, वहीं सो क्यों जाते हो ?"—ललिता ने प्यारपूर्वक पूछा—"अब तो तबीयत ठीक है न ?"

"हाँ"—कह कर उसने एक लम्बी साँस खींच ली।

देर तक उस छोटे से उद्यान में गहरी नीरवता छाई रही। इसी समय 'टॉवर' का घण्टा बजा—ग्यारह बज गए।

ललिता जैसे बेहोशी की सीमा से दूर हटती हुई, कम्पन-भरे स्वर में बोली—चलो न, अब खाओगे नहीं ?

"खाऊँगा क्यों नहीं? मगर ललिता! ××"—नयन की वाणी इसके आगे नहीं बढ़ सकी।

"मगर क्या नयन?"—ललिता ने त्रस्त-भाव से पूछा।

"मगर ललिता, यह सब क्या हो रहा है? तुम मुझे कहाँ से कहाँ ले आई हो? क्या तुम्हें इस गति पर विश्वास है?"

ललिता चौंक कर दूर हट गई। उसके ऊपर न जानें एक साथ ही कितने वज्र आ गिरे। भय, आशङ्का और उन्माद के झोंकों से वह काँप रही थी। थोड़ी देर तक अवसन्न रहने के बाद बड़ी कठिनता से अपने को सँभाल कर बोली—नयन!

"ललिता!"

"तुम कह क्या रहे हो?"—उसके स्वर आँसुओं में उलझे हुए थे।

"मैं जो कुछ कह रहा हूँ, उसे तुम न समझ सको, यही अच्छा होगा—तुम्हारे लिए भी और मेरे लिए भी।"

"अगर मैं समझना चाहूँ?"

"तो मैं परमात्मा से प्रार्थना करूँगा कि मेरी आशङ्का निर्मूल निकले—जो बात मैं सोच रहा हूँ, वह झूठी साबित हो।"

"इस तरह मेरे आगे तुम पहेलियों की सृष्टि क्यों किए जा रहे हो नयन? क्या सचमुच तुम्हारी वाणी का मर्म

टटोलने का मुझे कोई अधिकार नहीं है ? क्या तुम मेरे नहीं हो, मैं तुम्हारी नहीं हूँ ?"

"इसे तो न मैं अस्वीकार कर सकता हूँ, न तुम कर सकोगी ललिता ! लेकिन अपनेपन के इस विनिमय से ही तो काम नहीं चलेगा ! जीवन की सारी गुत्थियाँ केवल इसी से तो नहीं सुलझाई जा सकेंगी।"

ललिता इसका आशय कुछ-कुछ समझ गई। निराशा का निःश्वास फेंक कर उसने नयन का हाथ पकड़ लिया और कहा—अच्छा चलो। खाना खा लो। और कुछ न होगा, न सही। तुम्हारी याद तो कहीं नहीं जाती है। इसे कौन छीन सकेगा ? तुम शौक़ से अपने जीवन की गुत्थियाँ सुलझाते रहो, मैं उसमें बाधा न डाल सकूँगी। मैं केवल तुम्हारी स्मृति की आराधना और अपने अभावमय जीवन की उपासना करूँगी। हो सके तो मुझे इसी समय अपनी सीमा से दूर—बहुत दूर फेंक दो। इतनी दूर कि जहाँ पहुँचने पर मेरे अस्तित्व का भी पता न रह जाय।

नयन क्या बोलता, वह तो आत्म-विस्मृत होकर आँसू बहा रहा था।

ललिता ने फिर कहा—चलो, भोजन ठण्ढा हो जाता है, तो तुम भरपेट खाते नहीं हो। रात भी बहुत बीत गई।

४

सायङ्काल की हवा खाने के विचार से आज बनारस-छावनी की ओर गाड़ी घुमाई गई। ललिता और नयन के साथ भवानी बाबू भी थे।

इधर नयन कुछ अधिक उदास रहने लगा था। यों तो समय-समय पर वह हँसता-बोलता भी था, मगर उस हँसने-बोलने में आन्तरिक शान्ति की झलक नहीं मिलती थी। बेचैनी की हर एक अवस्था पर विचार करते-करते उसका मस्तिष्क मानो पक सा गया था। वह कुछ-कुछ विकृत हो गया था। इधर उसका स्वभाव कुछ ऐसा हो गया था कि जहाँ हँसना चाहिए वहाँ गम्भीर बन जाता और जहाँ थोड़ी गम्भीरता की जरूरत होती, वहाँ ठहाका मार कर हँसने लगता। जहाँ नहीं बोलना चाहिए, वहाँ उसकी सरस्वती जग पड़तीं और जहाँ कुछ बोलने की जरूरत पड़ती, वहाँ वह एकदम गूँगा बन जाता। ललिता उसकी इस अवस्था पर एकान्त में रोया करती, मगर उसका वश ही क्या था? भवानी बाबू भी लाचार थे।

तीनों चुपचाप गाड़ी पर बैठे चले जा रहे थे। सहसा नयन ठहाका मार कर हँस पड़ा।

भवानी बाबू ने पूछा—क्या हुआ बेटा?

वह तुरन्त गम्भीर होकर बोला—होगा क्या? मन में खुशी हुई, हँसने लगा।

"वाह! यों ही—बेमतलब ?"

"और नहीं तो क्या ? हँसो तो मतलब, रोओ तो मतलब ! मालूम होता है, दुनिया का कोई काम मतलब से खाली है ही नहीं !"

"यह तो है ही ; एक भी ऐसा काम बतला दो तो जानें !"

"कहो ललिता ! तुम्हारा भी यही प्रश्न है ?"—अपनी आँखों में एक मार्मिक आशय भर कर उसने ललिता की ओर देखते हुए पूछा।

"नहीं, मैं यह सब नहीं जानती। न तुमसे कुछ पूछती ही हूँ। तुम इसका क्या जवाब दोगे, यह भी मुझे मालूम है। इसलिए हाथ जोड़ती हूँ, जाने दो ये बातें।"—ललिता की आँखे भर आई। वह पिता के आगे और कुछ न बोल सकी।

भवानी बाबू कुछ बोलने ही वाले थे कि नयन जोर से चिल्ला उठा—गाड़ी रोक दो ! गाड़ी रोक दो !!

गाड़ी रुक गई। वह नीचे कूद पड़ा और दौड़ कर सामने से आते हुए एक पचास वर्ष के बूढ़े से लिपट कर बच्चों की तरह सिसक-सिसक कर रोने लगा।

बूढ़ा भी उसे गले से लगा कर भरपेट रोया। रोते ही रोते उसने कहा—"आज तीन महीने से बराबर तुम्हें

ढूँढ़ता रहा हूँ बेटा ! मगर तुम कितने निरमोही हो गए ! बूढ़े बाप पर कुछ तो दया करते। ग़लती किससे नहीं हो जाती है ? एक छोटी सी बात पर रूठ कर फ़क़ीर बन बैठे। हाय ! न जानें तुम्हारी माँ की और 'उसकी' क्या हालत हो रही होगी ?" इसके आगे बूढ़ा कुछ बोल नहीं सका। उसे उस काली रात की याद हो आई, जब उसका एकलौता बेटा अपने सोने-जैसे सुनहरे संसार से निर्वासित हो गया था। वह उसके सोहाग की रात थी और नयन उस घर में छाए हुए राग-रङ्ग पर विषाद का काला परदा डाल कर उसी समय वहाँ से निकल पड़ा था। बाप की ग़लती थी—बेटे ने प्रायश्चित्त का भार अपने ऊपर उठा लिया। बूढ़ा इस समय अपनी उस भारी भूल पर रह-रह कर पछता रहा था। एक वह रात थी, जब काला साँप बन कर उसने अपने निरपराध बेटे के मर्मस्थल को बुरी तरह डँस लिया था, और एक यह सन्ध्या थी, जब वही बाप अमृत बन कर उसी बेटे के रोम-रोम में—नस-नस में—छा रहा था। उस दिन वह कितना काला, निष्ठुर, विषैला और डरावना बन गया था ! आज कितना स्वच्छ, कोमल, मधुर और आकर्षक हो रहा है। उस दिन उसका हृदय कितना ओछा बन गया था, कितना सङ्कुचित ! और आज कितना विशाल हो गया है, कितना विस्तृत !!

नयन अपने बाप से लिपट कर उस रात की एक-एक बात भूल-सा गया। उसकी आँखों के आगे उसकी स्नेह-मयी 'माँ' आ खड़ी हुई—वही माँ, जिसकी अञ्चल-छाया में सन्ताप की एक चिनगारी भी नहीं आ सकती ; वही माँ, जिसके हृदय में अमृत के सोते उमड़ते रहते हैं। वह सब कुछ भूल कर अपराधी की तरह अपने बाप के चरणों पर गिर पड़ा। उत्सर्ग का वह दृश्य कितना सुन्दर, कितना पवित्र और कितना आकर्षक था ! मालूम होता था, जैसे श्रद्धा की वेदी पर अविश्वास का बलिदान हो रहा है।

बूढ़े ने प्यारपूर्वक उठा कर उसे छाती से लगाते हुए कहा—अब तो घर चलोगे न बेटा ?

"क्यों न चलूँगा।"—नयन की वाणी गद्गद हो रही थी।

"तो चलो न, इसी गाड़ी से चले चलें × ×"

इसी समय ललिता बोल उठी—चलिए न, आज रात भर विश्राम करके सवेरे को गाड़ी से चले जाइएगा !

भवानी बाबू उस आकस्मिक दृश्य को देख कर हैरानी में पड़ गए थे। निकट आकर उन्होंने भी ललिता का समर्थन करते हुए कहा—हाँ, अच्छा तो यही होगा।

नयन ने एक बार ललिता की ओर देख कर तुरन्त भवानी बाबू की ओर मुँह फेर लिया और हाथ जोड़ कर

कहा—अब मुझे आज्ञा दीजिए, मन न जानें कैसा हुआ जा रहा है।

भवानी बाबू ने प्यारपूर्वक उसे अपनी छाती से लगा लिया और भराए हुए स्वर में कहा—जाओ बेटा! अपनी माँ के पास जाओ। लेकिन देखना, हम लोगों को भूल मत जाना। हो सके तो कभी-कभी आते भी रहना।

कितनी शीघ्रता से भवानी बाबू ने बूढ़े का धन उसे वापस कर दिया। पल भर भी देर न की—कुछ भी आगा-पीछा नहीं किया। और ललिता? हाय! उस बेचारी के पास कोई अधिकार भी तो नहीं था। इसी सड़क पर एक दिन उसने जिस बिखरे हुए वैभव को समेट कर अपने अञ्चल के एक कोने में बाँध रक्खा था, आज उसी वैभव को, उसी सड़क पर वह लुटा रही है। कितनी विवशता है! कैसा बन्धन है! उसने कई बार सिर उठा कर नयन को देखने की चेष्टा की, मगर उसकी असहाय आँखें ऊपर उठीं ही नहीं। वह चुपचाप सिर झुकाए खड़ी थी।

नयन ने कहा—अच्छा ललिता! अब चलता हूँ।

ललिता क्या जवाब देती?

उसके चले जाने पर भवानी बाबू बेटी का हाथ पकड़ कर बोले—चलो बेटी, घर को लौट चलें। पराए धन को अपना लेने वाली आकांक्षा में आग रहती है, किन्तु ममता

और कर्त्तव्य के नाते उसे अपना समझते रहने वाली वृत्ति में सन्तोष की शीतलता। हमारी बहुत सी चीजें ऐसी भी होती हैं, जिनको किसी तरह भी हम अपने काम में लाने के अधिकारी नहीं। वे हमारी वासना की प्यास नहीं बुझा सकतीं, भक्ति की भूख जगाए रहती हैं।

ललिता चुपचाप बाप के साथ गाड़ी पर जा बैठी।

५

नयन से बिछुड़ते ही ललिता बिलकुल बदल गई। उसका सारा विलास और वैभव उसकी तापसी वृत्ति में विलीन हो गया। अब उसका एक ही काम रह गया था—वह था दिन-रात लिखना-पढ़ना।

कुछ दिनों तक तो उसे नयन का अभाव खटकता रहा, मगर जब बहुत दिन बीत जाने पर भी नयन ने उसे एक पत्र तक नहीं लिखा, तब उसके सारे अभाव दूर हो गए। कभी-कभी अभाव की व्यापकता ही हमारी पूर्णता का काम करती है उसकी विस्तृत सीमा में पहुँच कर जब हम अपनी समस्त आकुलता, आशा और प्रतीक्षा का विसर्जन कर देते हैं, तब हमारे भीतर की धधकती हुई आग आप ही आप बुझ जाती है। जब आशा ही नहीं, तब चाह कैसी ? जब चाह नहीं, तब दाह कैसा ? अब ललिता अपने को अरमान की दुनिया से निर्वासित कर चुकी थी।

इसी समय, साधना के इसी नीरव युग में, उसके ऊपर एक बला आ पड़ी—उसके जीवन में एक नए कोलाहल की सृष्टि हुई। हमारा घर नारी-जाति की विपदाओं का बसेरा है। विवाह करो, ज़बर्दस्ती पतिव्रता बनो, दर्जन-भर बच्चों की माता बनो; मगर प्रेम की पूजा मत करो। मरते दम तक यह मत जानो कि तुम्हारे हृदय की असल भूख क्या है, उसकी निवृत्ति का क्या उपाय है, तुम उसे कर सकती हो या नहीं? चाहे जिसके गले में मढ़ दी जाओ, तुम्हें उसी को प्यार करना पड़ेगा—प्यार करने का स्वाँग करना होगा। चाहे वह बूढ़ा हो, रोगी हो, कुरूप हो, उजड्ड हो, मूर्ख हो, पशु हो या साक्षात् पिशाच ही हो; जो कुछ भी हो, तुम्हें उसीके साथ प्रेम का सौदा करना होगा। इसके सिवाय तुम और कुछ कर नहीं सकतीं।

ललिता के लिए 'धर्मपत्नी' बनने की अवधि बहुत दिन पहले ही बीत चुकी थी। उसका अठारहवाँ वर्ष बीत रहा था और अभी तक वह क्वाँरी! यह अनर्थ नहीं तो और क्या है?

डॉक्टर रतनलाल के एक पुत्र था। उमर लगभग बत्तीस साल की होगी। डॉक्टर साहब बहुत दिनों से इस बात की कोशिश में थे कि ललिता उनकी पुत्रवधू बने। मगर अभी तक स्पष्ट रूप से चर्चा छेड़ने की हिम्मत नहीं पड़ी थी।

इधर सयानी लड़की को न व्याहने के कारण भवानी बाबू के सम्बन्ध में तरह-तरह की टीका-टिप्पणी होने लगी। जात-बिरादरी के लोगों में चुपके-चुपके कुछ ऐसी खबरें उड़ने लगीं, जिन्हें सुन कर हया भी शरमा जाय—पाप भी रो उठे !

भवानी बाबू के होश हवा हो गए। जहाँ तक शीघ्र हो सके, ललिता का व्याह हो जाना चाहिए—बेचारे इसी चिन्ता में दिन-रात घुलने लगे।

जहाँ विवाह की बात लेकर पहुँचते, वहीं उनके आगे उपहास आ खड़ा होता, और खड़ी हो जाती आकर दस हज़ार रुपए दहेज में देने की बात ! बेचारे अपना-सा मुँह लेकर लौट आते। दस हज़ार की तो बात ही दूर रही, इस समय वे दस सौ रुपए भी खर्च नहीं कर सकते थे। उनका दम घुटने लगा—सारे वातावरण का वायु-मण्डल अपवित्र हो उठा था। ललिता के सम्बन्ध में दिन-रात बुरी-बुरी खबरें उड़ने लगीं। कोई कुछ कहता, कोई कुछ। इन सब ख़ुराफ़ातों का प्रधान कारण यही था कि वे ज़रा सामाजिक उदारता के हामी थे, स्त्री-शिक्षा के व्यावहारिक समर्थक थे और थोड़ी सी अङ्गरेज़ी सहूलियत भी उनमें मौजूद थी। चारों ओर से उनके ऊपर खुली बौछारें होने लगीं। राह चलते भी लोग उन पर उँगली उठाते। ललिता के व्याह का

भीषण आन्दोलन मचा हुआ था। इसके प्रधान नेता थे डॉक्टर रतनलाल जी और उनके पुत्र-रत्न बाबू सोहन-लाल।

सन्ध्या की लाली से पश्चिम दिशा जगमगा रही थी। भवानी बाबू चुपचाप अपनी आराम-कुर्सी पर लेटे हुए, आँखें बन्द करके कुछ सोच रहे थे। इसी समय डॉक्टर रतनलाल ने आवाज़ दी—वाह भाई, वाह! यह तो तुमने सोने का अच्छा समय निकाला।

भवानी बाबू हड़बड़ाए से उठ कर खड़े हो गए और बोले—माफ़ कीजिएगा डॉक्टर साहब! ज़रा आँखें झप गई थीं। आइए, बैठिए!

सामने वाली कुर्सी पर बैठते हुए डॉक्टर साहब ने कहा—भाई! आज मैं तैयार होकर आया हूँ तुमसे लड़ाई करने।

भवानी बाबू इसका यथार्थ आशय न समझ कर मुस-कराते हुए बोले—हाँ-हाँ, बड़े शौक़ से आप लड़ाई कीजिए। कहिए, लाठी-वाठी की भी ज़रूरत है?

"बात ही की लड़ाई होने दो आज"—डॉक्टर साहब ने बनावटी भाव से खिलखिला कर हँसते हुए जवाब दिया।

"अच्छी बात है"—कह कर भवानी बाबू भी हँस पड़े।

हँसी-मज़ाक़ के बहाने, अपनी मतलब-भरी भूमिका समाप्त करके डॉक्टर साहब गम्भीरता से बोले—मुझसे

अब तुम्हारे कलङ्क की बातें नहीं सही जातीं। मैं ललिता को अपने घर की रानी बनाना चाहता हूँ। मुझे कोई परवाह नहीं है, समाज चाहे जो कहे। देखें, कोई क्या कर लेता है मेरा ? लड़की काँरी तो नहीं मरेगी ! जो कुछ सिर पर आएगा, मैं झेल लूँगा। बोलो, क्या कहते हो ?

भवानी बाबू जैसे धरती से दो हाथ ऊपर उठ गए। डॉक्टर साहब इस कौशल से सारी बातें कह गए, मानो कोई बड़ा भारी उपकार करने जा रहे हो। वे भौंचक्के होकर बोल उठे—आप मेरे यहाँ विवाह-सम्बन्ध जोड़ सकेंगे ?

"क्यो नहीं ?"—डॉक्टर साहब ने विजय की आशा से उल्लसित होकर कहना शुरू किया—"तुमको हुआ क्या है ? किसके घर में ऐब नहीं है ? बतावे तो कोई आकर मेरे सामने। सभी दूसरों ही का छिद्र देखते हैं, अपना कोई नहीं देखता। और तुम्हें शायद वहम है कि मेरा सोहन शराब पीता है। सो भी सुन लो, बात सरासर झूठी है। कुछ दिन जरा बेकार रहने के कारण इधर-उधर रहने और घूमने-फिरने का आदी हो गया था। अब जाकर देखो, अपने अहाते से बाहर भी नहीं निकलता। दिन-रात लिखने-पढ़ने ही में लगा रहता है। कहो कि वह बेकार क्यों है ? सो भाई, साफ बात तो यह है कि जब तक मैं चल-फिर सकता हूँ, उसे एक तिनका भी नहीं उठाने दूँगा। माँ-बाप

के रहते बेटा क्यों कमाने-खाने की चिन्ता करे ? मैं ही उसे कुछ नहीं करने देता, नहीं तो वह कभी का एक नामी डॉक्टर हो गया होता । कभी-कभी तो दवाई के सम्बन्ध में ऐसी-ऐसी बातें बता देता है कि मैं भी दङ्ग रह जाता हूँ ।" बेटे की प्रशंसा करते-करते डॉक्टर साहब मस्त हो गए । इस समय उनके हाथ मूँछों पर फिर रहे थे ।

भवानी बाबू एक तो जनम के भोले-भाले ठहरे, दूसरे बेटी की विवाह-चिन्ता से घबराए हुए थे । समाज की शैतानी से तङ्ग आ गए थे । उतावली उनके सिर पर शैतान बन कर नाच रही थी । उन्हें विश्वास हो गया कि डॉक्टर साहब उनके दुख से पसीज कर ही विवाह का प्रस्ताव करने आए हैं । उस प्रस्ताव में उन्होंने अपनी सस्ती मुक्ति देखी । डॉक्टर साहब के मुँह से इतनी बातें सुन कर वे कहने को विवश हो गए—आप तो मेरे ऊपर बड़ी कृपा कर रहे हैं । इतने दिनों तक चुप क्यों रहे ?

"हाँ, भाई ! यह गलती तो जरूर हो गई"—मूँछो पर से हाथ उतारते हुए वे जरा खाँस कर बोले—"बात यह थी कि कई जगहों से लोग उसके विवाह के लिए आ रहे थे, तिलक में भी काफी रक़म दे रहे थे ; मगर मैंने सोचा तो मालूम हुआ कि विवाह में रुपया-पैसा कोई चीज़ नहीं है । वर-कन्या की जोड़ी सुन्दर हो, हम यही चाहते हैं ।

इसी समय मुझे ललिता की याद आ गई। सोहन का भी मन टटोला तो पता चला कि वह इसका भक्त ही बन गया है। अपने सङ्गी-साथियों में उसका मन नहीं लगता। न जाने किस मासिक पत्रिका से वह ललिता की एक तस्वीर फाड़ लाया है। उसी को सामने रख कर ऐसा तन्मय हो जाता है कि क्या कोई योगी अपनी समाधि में वैसा लीन होता होगा। और लड़की भी तुम्हारी लक्ष्मी और सरस्वती की ही तरह है। भाई! तुम्हारे मुँह पर तारीफ़ नहीं करता, मगर सच तो यह है कि क्या गुण में, क्या रूप में और क्या स्वभाव में, ऐसी लड़की मैंने तो अभी तक नहीं देखी।"

बेटी की बड़ाई सुन कर भवानी बाबू और भी मुग्ध बन गए। गद्गद भाव से बोले—यह सब आप ही लोगों के आशीर्वाद का फल है।

"अच्छा, तो सब बात पक्की हो गई न?"—डॉक्टर साहब ने कुर्सी पर से उठते हुए पूछा।

"जी हाँ, सब पक्की है। ललिता जैसी मेरी है, वैसी आपकी। किसी पराए घर में तो जा नहीं रही है। आपकी इस कृपा को क्या मैं कभी भूल सकूँगा?"

डॉक्टर साहब वहाँ से चले तो उनके पैर धरती पर नहीं पड़ रहे थे। बेचारे नहीं जानते थे कि हवा में उड़ने वाला गिरता भी है।

भवानी के सिर से जैसे सारा बोझ उतर गया। उन्होंने अघा कर शान्ति की एक सुखद साँस ली। वह क्या जानते थे कि इसके बाद ही अशान्ति के विकराल बवण्डर में पड़ कर उनकी यही साँस सदा के लिए रुद्ध हो जायगी। यही बोझ, जिसे वे आज अपने सिर से उतरा हुआ समझ रहे हैं, इतना भारी हो जायगा कि वे उसी के नीचे दबे रह जायँगे!

६

ललिता को जैसे बाहरी दुनिया से कोई काम ही नहीं रह गया था। वह सब कुछ सुन कर भी नहीं सुनती, जान कर भी नहीं जानती और देख कर भी नहीं देखती थी। उसे मालूम था कि सोहनलाल के साथ उसके विवाह की बात पक्की हो गई। अब उसका विवाह होकर ही रहेगा। भीतर ही भीतर उसकी नस-नस में आग की ज्वाला धधक उठी। अपने भोले-भाले बाप की बुद्धि पर उसे जितनी दया आई, उससे कहीं बढ़ कर उसे रोष हो आया। वह मन ही मन झल्ला उठी, किसी से कुछ बोली नहीं। हमारा अव्यक्त रोष बड़ा ही घातक और विषैला होता है। उसके परदे में प्रतिहिंसा नङ्गी होकर नाचा करती है। ललिता ने रोष में आकर एक ऐसा सङ्कल्प कर लिया, जो माया और ममता के परे था।

विवाह की तैयारी धूम-धाम से हुई। सोहनलाल की प्रसन्नता का क्या पूछना? घर बैठे सोने की गठरी मिल जाय, इससे अधिक और क्या चाहिए? सौभाग्य और कहते किसे हैं? बेटे से भी बढ़ कर प्रसन्नता बाप को थी। उनकी प्रसन्नता के कई कारण थे। मगर सब से बड़ी प्रसन्नता इस बात की थी कि जीते जी अब वे अपने लाड़ले बेटे के सिर पर मौर तो देख सकेंगे।

विवाह कल होगा। भवानी बाबू के घर मे जोरों से चहल-पहल शुरू हो गई। सब अपने-अपने राग-रङ्ग में मस्त थे। इसी तरह रात बीत गई।

सवेरे एक बूढ़ी दासी ने भवानी बाबू से जाकर पूछा—आज इतने तड़के लल्ली कहाँ चली गई? देखती हूँ, उसका कमरा योंही खुला पड़ा है। आज तो उसे आँगन से बाहर भी नहीं निकलना चाहिए था।

"कमरा योंही खुला पड़ा है?"—भवानी बाबू ने कुछ आश्चर्य का भाव व्यक्त करते हुए कहा—"ऐसा तो कभी नहीं करती थी। और इतने सवेरे वह जागती भी तो नहीं थी। आज जाग पड़ी होगी। शायद फुलवारी मे हवा खाने चली गई हो।"

कई घण्टे बीत गए, मगर ललिता फुलवारी से हवा खाकर नहीं लौटी। अब तो सबके होश ही जाते रहे।

आशङ्का से अधीर होकर भवानी बाबू उसके कमरे में घुस गए। टेबुल पर पत्र खुला पड़ा था। काँपते हुए हाथों से उसे उठा कर वे पढ़ने लगे। चिट्ठी उनके हाथ से गिरी और वे भी धड़ाम से ज़मीन पर गिर पड़े।

रात में ठीक उसी समय, जब विवाह का मुहूर्त था, ललिता के आँगन से उसके बाप की लाश निकली। पता नहीं, उस समय वह कहाँ थी!

७

पाँच वर्ष बीत गए। नयन अब वही नहीं था। अब वह 'स्मृति' नाम की एक नामी पत्रिका का प्रधान सम्पादक और सञ्चालक था। उसके दिन बड़े सुख से बीत रहे थे।

एक पहर रात बीत चुकी थी। भोजन कर चुकने के बाद वह अपने लिखने-पढ़ने वाले कमरे में लेटा हुआ एक नया मासिक पत्र देख रहा था। उसके मुख-पृष्ठ पर एक पद्य-बद्ध कहानी छपी थी। उसकी एक-एक पंक्ति में जादू भरा हुआ था। करुणा-रस का इतना सुन्दर परिपाक उसने जैसे आज तक किसी हिन्दी-कविता में देखा ही नहीं था। कहानी का कथानक, उसकी भाषा, उसके भाव—सभी अनोखे थे। उसका कवि भी नयन से अपरिचित नहीं था। कविवर 'रेणु' की कविताएँ 'स्मृति' में बराबर पहले ही पृष्ठ पर छपा करती थीं। वे भी ग़ज़ब की होती थीं

और यह कविता तो और भी ग़ज़ब की थी। बार-बार वह कविता को पढ़ता और अपने मन में सोचता—यह 'रेणु' नामधारी कौन आदमी है ? इसकी कविता के साथ न तो इसका कोई पता-ठिकाना आता है, न यह कभी चिट्ठी-पत्री ही लिखता है। कभी इसके लिफ़ाफ़े पर काशी की मुहर लगी रहती है और कभी प्रयाग की रहती है; कभी मथुरा की, कभी पटने की और कभी भागलपुर की। इस बार जो 'अन्वेषण' नाम की कविता आई है, उसके लिफ़ाफ़े पर तो भागलपुर की ही मुहर छपी है; बात क्या है ? माया का यह मनोहर खिलाड़ी है कौन ? धीरे-धीरे नयन अपने कवि की रूप-कल्पना में मस्त हो गया—उसकी आँखें झप गईं।

इसी समय नौकर ने आकर उसके हाथ पर एक पुर्ज़ा रख दिया और कहा—बाहर एक बाबू खड़े हैं। नयन ने पुर्ज़े को देखा, उस पर लिखा था—'रेणु'।

वह दौड़ कर बाहर निकल आया। देखा, सामने ही कविता का साकार-वैभव बन कर एक युवक गम्भीर भाव से खड़ा था। नयन ने उससे हाथ मिलाया। उसका समूचा शरीर झनझना उठा, उसकी सोई हुई हृत्तन्त्री विह्वल होकर बज उठी। कवि के दोनों ओंठ धीरे-धीरे काँप रहे थे। उस कम्पन के एक-एक ताल पर कविता लोट-पोट हो रही थी। नयन उसे भीतर ले गया। दोनों बहुत देर तक एक-दूसरे

की ओर स्थिर-दृष्टि डालने का प्रयास करते रहे। मगर न तो निगाहें लड़ रही थीं, न किसी के मुँह से कोई शब्द ही निकल रहा था।

८

रात के दो बज गए थे। कवि, नयन के उस लिखने-पढ़ने वाले कमरे में अकेला ही बैठा-बैठा एक कविता लिख रहा था। बीच-बीच में आँसू पोंछने के लिए उसे लेखनी रोकनी पड़ती थी। कभी-कभी करुणा-विभोर होकर वह उन पंक्तियों को गाने भी लगता था। अभी उसकी कविता पूरी भी नहीं हो पाई थी कि किसी ने पीछे से आकर उसके कन्धे पर हाथ रख दिया। कवि ने चौंक कर देखा, वह नयन था।

नयन ने स्नेह-भरे स्वर में पूछा—मेरे प्यारे कवि! क्या तुम मुझे अपना पूरा परिचय नहीं बता सकते?

"उसे तो परिचय बताना बड़ा ही कठिन है"—कवि ने कम्पित वाणी में उत्तर दिया—"जो जान-बूझ कर, केवल दिल जलाने के लिए, अनजान बन बैठे।"

"यह क्या कह रहे हो कवि!"—नयन ने चकित होकर पूछा—"मैं तुम्हें पहचानता भी हूँ क्या?"

"हाँ।"

"यह कैसे?"

"तुम्हें अभागिनी ललिता की कुछ याद आती है ?"

नयन गिर पड़ता अगर कवि उसे अपने बाहु-पाश से ही बाँध लेता। विस्मय-विमुग्ध होकर वह भर्राए हुए स्वर से बोला—तो क्या तुम वही ललिता हो ? नहीं, मैं सपना देख रहा हूँ।

"नहीं मेरे देवता, सपना नहीं देख रहे हो। मै सच-मुच वही ललिता हूँ।" कह कर कवि ने अपने ऊपर के सारे ऊपरी वस्त्र उतार कर जमीन पर फेंक दिए। अब कवि के स्थान पर एक लावण्यमयी तरुणी खड़ी थी।

नयन का सोया हुआ अतीत जाग पड़ा। व्यथित-भाव से वह बोल उठा—ललिता, मेरी अभागिनी ललिता ! यह तुमने क्या किया ? बड़ी मुश्किल से मै तुम्हें भूल सका था और समझता था कि तुम भी मुझे बिलकुल भूल गई होगी, लेकिन देखता हूँ, अभिशाप की अवधि अभी तक पूरी नहीं हुई है।

ललिता की आँखें सजल हो आईं। उसने बड़ी कात-रता से कहा—नयन ! मैं तुम्हारे लिए अभिशाप की ज्वाला बन कर नहीं आई हूँ। तुम्हारे चरणों की रेणु बन कर आई हूँ।

"चाहे तुम जो कुछ भी बन कर आई हो, तुम्हें अप-नाने का मुझे कोई अधिकार नहीं रह गया ललिता

तुम्हारा यहाँ आना ही मुझे आग की तरह जला रहा है। मालूम होता है, अब मेरा उद्धार नहीं हो सकेगा। जीवन में एक ग़लती हो गई—यह उसी का दण्ड है। मगर सच तो यह है कि मुझ जले को जला कर भी तुम्हें कुछ न मिल सकेगा।"

"मैं तुम्हें जलाना नहीं चाहती प्रियतम!"—ललिता ने रुदन-मिश्रित शब्दों में कहा—"मैं तो तुम्हें सदैव हरा-भरा, फूला-फला देखना चाहती हूँ। न मुझे तुमसे कुछ लेने ही की आकांक्षा है। जो कुछ लेना था, ले चुकी। तुम सुख से रहो, मैं जाती हूँ।"

"जाती हो?"—नयन ने विचलित होकर पूछा—"कहाँ जाती हो ललिता! इतना शीघ्र जाना था तो यहाँ आई ही क्यों?"

"कहाँ जाती हूँ, इसे तो मैं स्वयं ही नहीं जानती। आज पाँच वर्षों से जिसके लिए योगिन बन कर घूम रही हूँ, उसी का अन्तिम दर्शन करने आई थी। पता नहीं, अब कहाँ चली जाऊँगी। लाओ, अपने चरणों की थोड़ी सी धूलि दे दो!"—कह कर ललिता ने नयन के पैरों पर माथा पटक दिया।

नयन ने उसे चटपट उठा लिया। उसकी आँखों से आँसू की धारा बह रही थी। वह पागल हो रहा था।

"बस, मैं अपना अरमान पूरा कर चुकी। तुम्हें बड़ा ही कष्ट पहुँचा। क्षमा करना × × × अब जा रही हूँ!"—कह कर ललिता विद्युद्वेग से बाहर निकल पड़ी।

नयन पागलों की तरह "मत जाओ, मत जाओ ललिता! तुमको मैं अपने कलेजे के भीतर छिपा कर रक्खूँगा—दुनिया देख कर भी नहीं देख सकेगी। लौट आओ, मत जाओ!" कहता हुआ उसके पीछे-पीछे दौड़ा। सड़क पर पहुँचते ही उसे एक ठेंस लगी और वह अचेत होकर वहीं गिर पड़ा। उसके कलेजे में एक नुकीला पत्थर घुस गया। सवेरे समूचे शहर में बिजली की तरह यह ख़बर फैल गई कि 'स्मृति'-सम्पादक इस लोक से चल बसे!

चिता सजी हुई थी। रेशमी कपड़े से लपेटी हुई लाश उस पर रख दी गई। आग फूँकते ही लपटें आसमान से बातें करने लगीं।

इसी समय भीड़ को चीरती-फाड़ती एक तरुणी आई और दौड़ कर उस भभकती हुई चिता में कूद पड़ी। यह ललिता थी। दोनों जनें ख़ाक में मिल कर 'एक' हो गए। यह वह मिलन था, जिसके बाद आज तक किसी ने विच्छेद का मुँह नहीं देखा।

दर्द की तस्वीरें

दर्द की तस्वीरें

शाहकुण्ड,
सोमवार के सवेरे ६ बजे

मेरी प्यारी बहिन !

कल शाम को 'मधुसूदन-धाम' से लौट आई। लाख कहा, पर माँ ने माना नहीं—साथ घसीटती ही गईं। और यह बड़ा ही अच्छा हुआ। भगवान् का कोई भी काम ऐसा नहीं होता, 'जिसमें हमारी भलाई के भाव न छिपे हों। यह काम भी वैसा ही हुआ। मैं वहाँ से तुम्हारे लिए एक बहुत ही सुन्दर और क़ीमती चीज़ लेती आई हूँ। देखते ही ख़ुशी के मारे सब कुछ भूल जाओगी, दीन-दुनिया किसी का भी ध्यान न रह जायगा। मगर वह इतनी सस्ती नहीं है कि तुम्हे घर बैठे ही मिल जाय। यहाँ तक आने का कष्ट उठाना पड़ेगा, गाँठ के कुछ पैसे खर्च करने पड़ेंगे, मिठाइयाँ खिलानी होंगी, तब कहीं उसे पा सकोगी। जानती हो वह क्या है? वह है एक आदमी! कौन? वही तुम्हारे खोए हुए सर्वस्व, तुम्हारे रूठे हुए देवता, मेरे परम प्यारे बहनोई जी।

बहिन! अचरज मत करना—अविश्वास मत करना।

इसे सपने की बातें न समझ बैठना। जो कुछ कह रही हूँ, उसे सच के सिवाय और कुछ मत समझना। हाँ, इसे सच मान कर अपने दिल को क़ाबू में रखना—उठते हुए तूफ़ानों को दबाए रखना। हसरत-भरी निगाहों में पागलपन का प्रलयकारी ज्वार मत उठने देना। अपनी दर्द-भरी दुनिया की छाती पर दिन-रात किलोलें करने वाली क़यामत से कह देना, वह थोड़ी देर के लिए रुक जाय। अधीर मत हो उठना बहिन! तुम्हें मेरे सिर की क़सम। मैं ख़ूब जानती हूँ यह ख़बर पाकर तुम आपे में न रह सकोगी—कोई रह भी नहीं सकता है। लगातार पाँच बरसों से तुम जिस आग में जल रही हो, वह इस समय भीषण-रूप से धधके बिना न रहेगी। यह आकस्मिक सुख घी बन कर तुम्हारी विपत्-ज्वालाओं को और भी जगा देगा। मगर चाहे जैसे हो, तुम्हें इस धक्के को सँभालना होगा।

मेरी ये बातें सुन कर तुम हलचल में पड़ गई होंगी। तुम्हारी समझ में कुछ आ नहीं रहा होगा कि मैं क्या कह रही हूँ। साथ ही तुम्हारा कौतूहल भी बढ़ रहा होगा कि मैंने असम्भव को सम्भव कैसे कर दिखाया—जो कभी हो ही नहीं सकता था, वह हो कैसे गया! मगर सच तो यह है कि अपनी चीज़ खो जाने पर भी कभी न कभी मिलती ज़रूर है; बशर्ते कि वह सचमुच अपनी हो—उसको छोड़

दुनिया में मेरी और कोई भी चीज़ अपना हो ही नहीं। यही बात तुम्हारे लिए भी कही जा सकती है बहिन! नहीं तो किसे उम्मीद थी कि बहनोई जी फिर हमारे घर आ सकेंगे? कौन जानता था कि मैं ही वहाँ से जीती लौट कर आज तुम्हें यह खुश-खबरी सुना सकूँगी? गत पाँच वरसों से जो आदमी माया-ममता छोड़ कर, हृदय-हीन पशु की तरह अपना गन्दा जीवन बिता रहा था, वही पाँच मिनट के भीतर देवता बन जायगा, इसकी आशा किसे थी? मगर अब मैं समझ गई कि कोई भी आदमी जान-बूझ कर बुरा नहीं हो जाता, किसी को पापी बनने का हौसला नहीं रहता। दुनिया—यह स्वार्थ से भरी हुई मायाविनी दुनिया ही—उसे हर तरह से जला कर बुरा बना देती है। किसी की थोड़ी-सी कमजोरियाँ देख कर हम उससे घृणा करने लगते हैं, उसकी उपेक्षा करने लगते हैं। उसे अपने में मिला कर सुधारना नहीं जानते—दूर हटा कर उसे और भी बिगाड़ना ही जानते हैं। मेरे बहनोई जी के साथ भी लोगों ने यही किया। परिणाम यह हुआ कि इन्हें मनुष्यता से डाह हो गई—ये परले सिरे के अधम बन गए। पर आज देखो तो आकर, ये कैसे हो गए हैं? वही सरलता, वही सज्जनता, वही हृदय और वे ही लुभावने भाव। सच कहती हूँ, देखते ही रीझ जाओगी।

अब यह सुनो कि तुम्हारी यह खोई हुई निधि मेरे हाथ कैसे लगी ! कहानी कड़वी भी है और मीठी भी, मगर अब मैं उसका कड़वापन भूल गई हूँ। तुम भी इस पर बिलकुल ध्यान मत देना।

हाँ, यह तो तुम जानती ही हो कि इस अवसर पर मकर-संक्रान्ति के दिन—'मधुसूदन' बाबा के दरबार में, उस छोटी-सी पहाड़ी पर, कैसी भयङ्कर भीड़ होती है। तिल धरने की जगह नहीं मिलती, पाँव रखने की तो बात ही क्या ? इस बार भी वही भीड़ थी। न जाने दिन-रात में कितनी बार स्पेशल ट्रेनें जाती-आती रहीं, मगर सब खचाखच भरी हुई।

लौटते समय की बात लिख रही हूँ। जब मैं भागलपुर जङ्क्शन पर आई, तो देखा कि भीड़ के मारे लोगों का नाकोंदम है। मेरी माँ बहुत थक गई थीं—विश्राम आवश्यक था। मगर चिन्ता यह थी कि यदि इसी गाड़ी से घर न चल दूँगी, तो कल किसी तरह भी घर पर ब्राह्मण-भोजन नहीं हो सकेगा। मैं तो तुम्हारी तरह इन बातों को विशेष महत्व नहीं देती, मगर माँ कब मानने वाली थीं ? डट गईं कि रात ही वाली गाड़ी से चलना होगा। खैर, मैं माँ के साथ गाड़ी बदलने के लिए दो नम्बर के प्लेटफ़ॉर्म की ओर चली। इसी समय गाड़ी आ पहुँची। भीड़ में रेल-पेल मच

गई—धक्के-मुक्के से जान आफत में फँस गई। उसी समय मुझे ऐसा मालूम हुआ, जैसे किसी ने पैर लगा कर पीछे से मेरे दोनों पैर खींच लिए। मैं गिर पड़ी। उठ कर देखा, तो माँ का कहीं पता नहीं। मैं घबरा कर इधर-उधर दौड़ने लगी। मुझे इस तरह दौड़ते देख, एक टिकट-बाबू मेरे पास आकर मीठे स्वर में बोले—कोई खो गया है?

मुझे सहारा मिल गया। घबराए हुए स्वर में मैंने कहा—हाँ।

"औरत है या मर्द?"

"मेरी माँ मुझसे छूट गई।"

"सफेद कपड़े हैं उसके?"

मेरा भरोसा और भी बढ़ गया। मैंने कहा—हाँ; वह कहाँ है?

"उसे मैं अभी गाड़ी में बैठा आया हूँ—वह भी बेटी-बेटी कर रही थी, चलो, जल्दी करो, गाड़ी ने सीटी दे दी।"

मैं बिना कुछ कहे-सुने उसके साथ चल पड़ी। गाड़ी ने सीटी दे दी, उसने कहा—चढ़ जाओ इसी डब्बे में, वह ऊपर बैठी है। अगले स्टेशन में उससे भेंट हो जायगी।

मेरे होश-हवास सब हवा हो गए थे। काँपती हुई मैं उसी में जा बैठी। गाड़ी खुल गई—मगर मुझे यह पता न चल सका कि वह किस ओर को जा रही है—दिशा का भ्रम हो गया!

अगले स्टेशन पर गाड़ी रुकी, तो देखा कि दरवाज़े पर वही आदमी खड़ा है। इस बार उसने डपट कर पूछा—तुम्हें जाना कहाँ है ?

मैं सहम उठी, धीरे से जवाब दिया—अकबरनगर।

"तो वहीं क्यों नहीं बोली ? यह गाड़ी तो कलकत्ते की ओर जा रही है।"

मुझे काटो तो खून नहीं। मैं घबरा कर उतरने लगी। इस बार वह ज़रा मुलायम होकर बोला—अच्छा, कोई हर्ज नहीं; चली चलो इसी तरह, साहबगञ्ज में यह गाड़ी मेल खायगी। वहीं तुम्हें दूसरी गाड़ी पर बैठा दूँगा। तुम्हारे टिकट पर लिख दूँगा। दाम नहीं देने होंगे।

मैंने कहा—और मेरी माँ ?

"अब गाड़ी खुल रही है, जाकर बैठो—वहीं माँ से भी भेंट हो जायगी।"

मेरा कोई वश न चला। गाड़ी खुल गई।

भागलपुर से आगे, पूरब की ओर तो कभी मैं गई थी नहीं, क्या जानती कि कौन स्टेशन कहाँ है ? कई स्टेशनों के बाद एक जगह गाड़ी रुकी, मैंने देखा, वह स्टेशन बहुत छोटा था। गाड़ी रुकते ही वही आदमी फिर आ पहुँचा और बोला—उतर आओ। उस गाड़ी के आने में आज आध घण्टे की देर है। यहाँ गाड़ी दो ही मिनट ठहरती है। उतरो जल्दी।

मैं हड़बड़ा कर उतर पड़ी। मेरे उतरते ही गाड़ी खुल गई। मैंने घबरा कर पूछा—मेरी माँ?

"ऐं! वह तो गाड़ी पर ही रह गई।"—वह अकचका कर बोला—"अच्छा, कोई हर्ज नहीं है, मैं अभी तार दे देता हूँ। अगले स्टेशन पर वह उतार कर उसी गाड़ी पर बैठा दी जायगी, जिस पर तुम्हें चढ़ना है। घबराने की कोई बात नहीं।"

यह कह कर वह मुझे अकेली ही छोड़, एक कमरे में घुस गया। मैंने चारों ओर नजर डाल कर देखा, वह जगह बड़ी भयावनी मालूम पड़ती थी। यह भी देख लिया कि वह साहबगञ्ज स्टेशन नहीं था। मैं भय के मारे काँप उठी! मेरी आँखों के सामने अँधेरा छा गया। धीरे-धीरे मेरी समझ में सारी बातें आने लगीं। मगर करती क्या? उसी जगह थरथरा कर बैठ गई।

इस बार वह आकर बोला—चलो, जनाना 'वेटिङ्गरूम' में तब तक आराम करो। तुम्हारी माँ को तार देकर उतरवा लिया है, वह अभी आ जायगी।

मैं डर के मारे न जाने क्या हो गई थी। उठी, और उसके बताए हुए कमरे में घुस गई। मेरे घुसते ही कमरा बाहर से बन्द हो गया। साथ ही क्षण भर के लिए मेरी छाती की धड़कन भी बन्द हो गई। मैं अपने को सँभाल न सकी। वहीं एक आराम-कुर्सी पड़ी थी, उसी पर गिर पड़ी।

थोड़ी ही देर बाद बाहर से कुछ गुनगुनाने की आवाज़ आई ! मैं उठ बैठी और दरवाज़े के पास आकर ध्यान से कान लगा कर सुनने लगी।

वे बातें सुनते ही मेरा सारा भय भाग गया। मेरी नसों में क्षत्राणियों का खून खौल उठा। समूचे शरीर में आग लग गई। तुम तो जानती ही हो बहिन ! तुम्हारे दुलारे देवर—नन्नू बाबू—की वह छोटी-सी कटारी मुझे कितनी प्यारी है ! जब से उन्होंने मुझे उपहार-स्वरूप वह दिया है, तभी से एक क्षण के लिए भी मैं उसे नहीं छोड़ती, हमेशा कपड़े के नीचे कमर में बाँधे रहती हूँ। इस समय भी वह मेरे साथ है। उस समय भी वह मेरे साथ ही थी। मैंने चट-पट अपने वस्त्रों से सारे शरीर को खूब मज़बूती से कस लिया—स्त्री-वेश मे नहीं रह गई, केवल केश ही भर लटक रहे थे। मेरे अङ्ग-अङ्ग मज़बूती से कसे हुए थे। मैंने कटारी हाथ में ली और चण्डी मैया की तरह लाल-लाल आँखें निकाले, अविचल भाव से द्वार से हट कर कुछ दूरी पर खड़ी हो गई। कमरे का द्वार खुल गया !

आने वाले उस सलोने नौजवान ने जो मेरा वह रूप देखा, तो उसके रसीले अधरों की सारी मुस्कराहट न जाने कहाँ भाग गई। उसके चेहरे पर सफेदी छा गई—उस पर हवाइयाँ उड़ने लगीं। न उससे आगे बढ़ा जाय, न पीछे हटा

जाय ! साहस करके उसने किवाड़ बन्द कर दिया और दो क़दम आगे बढ़ आया। मैं वेग से कटारी लेकर उसकी ओर झपट पड़ी ! अरे यह क्या ? वह तो विद्युत् की भाँति आकर मेरे पैरों पर गिर पड़ा ! मेरे हाथ से कटारी गिर पड़ी—उसके शरीर पर नहीं, धरती पर। मैंने हड़बड़ा कर उससे पैर छुड़ा लिए और लपक कर फिर अपनी कटारी उठा ली। इस बार देखा, वह कातर-दृष्टि से मेरी ओर देख रहा है—उसकी आँखों से आँसू की धारा उमड़ रही है। वह बोला—आओ लक्खो ! मेरी छाती में वह कटारी घुसेड़ दो—मेरे पापों का अन्त कर दो।

मालूम हुआ, जैसे मैं स्वप्न देख रही हूँ। सिर से पैर तक मैं काँप उठी। मेरे मुँह से निकल पड़ा—बहनोई जी !

"हाँ लक्खो रानी ! कभी मैं तुम्हारा बहनोई ही था, आज नरक का कीड़ा हूँ—मेरी ओर देखो भी मत। सीधे से आकर छाती मे कटारी घुसेड़ दो। तुम्हारे पैरों पड़ता हूँ।"—कह कर वह मेरे पैरों पर लोटने लगा।

अब मै अपने को सँभाल न सकी। साफ़-साफ़ उन्हें पहचान गई। तूफ़ान की तरह चञ्चल होकर मैं रो उठी। उनके गले से चिपक गई और ख़ूब रो लेने के बाद बोली—बस, अब चलिए यहाँ से ! आपको घर चलना होगा।

वे अपराधी की तरह बोले—कौन-सा मुँह लेकर चलूँ ?

मैं उनके आँसू पोंछती हुई बोली—आपके मुँह की ओर उँगली उठाने वाले की आँखें बैठ जायँगी। आप चलिएगा नहीं तो मैं अकेली जाऊँगी कैसे ?

इसी समय वह पिशाच भी, जो मुझे वहाँ तक बहका कर ले गया था, कमरे में घुस आया और बोला—भाई ! तुम तो बड़ी देर कर रहे हो, गाड़ी का समय हो गया।

"चुप रहो, बदमाश कहीं के !"—बहनोई जी शेर की तरह गरज कर बोले—"होश में आकर बातें किया करो। यह मेरी बहिन है, एक क़दम भी आगे बढ़े तो सिर उड़ा दूँगा।"

वह बेचारा सिकुड़ कर हम दोनों की ओर ताकता ही रह गया और हम लोग वहाँ से बाहर निकल आए।

बाहर निकलते ही मैंने कहा—माँ भी साथ थीं !

"उनका साथ कहाँ छूटा ?"—वे घबड़ा उठे।

"भागलपुर में।"—मैंने भर्राए हुए शब्दों में उत्तर दिया—"मगर वह तो कहता था कि वह भी मेरे साथ एक ही गाड़ी में आ रही थीं—साहबगञ्ज में उतरी होंगी।"

"सब बातें झूठी हैं, शायद वे वहीं छूट गई हों"—कह कर उन्होंने फ़ोन से साहबगञ्ज के स्टेशन-मास्टर से पूछा—"कोई औरत आपकी निगरानी में है, जो इस गाड़ी से भागलपुर भेजी जायगी ?"

उत्तर मिला—नहीं !

बहनोई जी अस्थिर हो उठे। बोले—उसने तुमको सरासर धोखा दिया। माँ वहीं छूट गईं। इसी गाड़ी से चलते हैं, वहाँ चल कर पता लग जायगा।

इसके बाद उन्होंने कुछ लिखा और उसी पिशाच को बुला कर लाल-लाल आँखें दिखाते हुए उससे कहा—ले लो सब चार्ज, मैं इस नरक में अब नहीं रहूँगा।

वह चुपचाप काँप रहा था। कुछ बोला नहीं। बैठ कर काग़ज़-पत्तर सँभालने लगा।

गाड़ी आई और हम दोनों रवाना हो गए। भागलपुर पहुँचते-पहुँचते सूरज निकल आया। पहुँचते ही मैंने चारों ओर आँखें दौड़ानी शुरू कीं। देखा, कुछ लोग प्लेटफ़ॉर्म पर किसी को घेरे खड़े थे। मैं लपक कर गाड़ी से उतर पड़ी, वे भी उतर पड़े। हम लोगों ने भीड़ को चीर कर देखा, उसके बीच में माँ बैठी-बैठी रो रही थीं। उनके सारे वस्त्र आँसू से भीग गए थे। बहनोई जी उनके पैरों से लिपट गए। मैं उनके गर्दन से चिपक गई। तीनों जनें खूब रोए—इतना रोए कि आँसुओं की बाढ़ में हमारा सारा दुख, सारा दर्द बह गया।

इसके बाद हम लोग गङ्गा नहाने चले गए। वहीं माँ ने ब्राह्मण-भोजन कराया। शाम की गाड़ी से हम लोग घर पहुँच गए।

माँ का विचार है कि इस ख़ुशी में खूब धूम-धाम से सत्यनारायण प्रभु की पूजा हो। पूजा का दिन तुम्हारे आ जाने पर निश्चित होगा। बहनोई जी की तबीयत आज ज़रा ठीक नहीं है—कुछ-कुछ ज्वर का अंश मालूम होता है। मगर तुम इसकी कोई चिन्ता मत करना, केवल हरारत का फसाद है। तुम पत्र पाते ही यहाँ के लिए चल दो। साथ में अपने दुलारे देवर जी को लाना, भूल मत जाना। उन्हें मेरी याद दिला देना और मेरी ओर से मिन्नतें करना कि दो घड़ी के लिए यहाँ आकर अपने भैया को देख जायँ। तुम्हारी प्रतीक्षा में—

तुम्हारी ही छोटी बहिन,

लक्खो

*　　*　　*

२

वासुदेवपुर (मुङ्गेर)

गुरुवार की आधी रात

मेरी लक्खो रानी !

भौजी के नाम तुम्हारा जो पत्र आज शाम को आया, वही अगर कल आया होता...! मैं इस समय खाट पर पड़ा हुआ हूँ—आज सवेरे ही से ज्वर हो आया है। इस समय ज़रा होश में हूँ। बड़ी मुश्किल से तुम्हें यह पत्र लिख रहा

हूँ। मगर लिखूँ क्या ? तुम्हारे पत्र का जवाब क्या दूँ ? इस पत्र का तो एक ही जवाब था, और वह यही कि मैं भौजी को साथ लेकर जल्दी से जल्दी तुम्हारे पास आ जाता। मगर क़िस्मत की लड़ाई से फ़ुरसत मिले तब तो ! यहाँ तो जब से होश सँभाला, बराबर उसी का खेल देखता आ रहा हूँ। देखते-देखते आँखें उलट गईं, मगर खेल का रोज़ एक न एक नया रूप बदलता ही रहता है। क्या करूँ ? बदनसीबी के हर एक पहलू पर मेरी तबाही की ऐसी-ऐसी भयङ्कर तस्वीरें खींची हुई हैं कि उन्हे यदि एक बार भी यह अन्धी दुनिया देख ले, तो उसे मेरे ऊपर रहम करने का मौक़ा मिल जाय ! लेकिन यह देखे ही क्यों ? इसे कौन सी ग़रज़ पड़ी है ? सच कहता हूँ लक्खो ! इस बीस ही बरस की अवस्था में मुझे अपने जीवन से अरुचि हो गई—मेरा जीवन, जीवन नहीं रह गया, यह अब कुछ ऐसा पदार्थ हो गया है, जो मुझे फूटी आँखो नहीं सुहाता ! पर कुछ कर नहीं सकता। पिछले जन्म मे मुझसे कोई बड़ी भारी चूक हो गई होगी, उसी का यह दण्ड भोग रहा हूँ।

इस समय मेरे ऊपर क्या बीत रही है, तुम्हे कैसे बताऊँ ? अपने दर्द का सन्देशा तुम्हारे पास तक पहुँचाया चाहता हूँ; मगर कोई उपाय नज़र नहीं आता। सुनता था, काग़ज़ पर भी कलेजा निकाल कर रख दिया जाता है। मुझे

तो यह बिलकुल झूठ-सा जँचता है। कोशिशें करते-करते तबाह हो गया, फिर भी इस काग़ज के टुकड़े पर कलेजा निकाल कर रखने की बात तो क्या, कलेजे की कोई तस्वीर भी नहीं खींच सका।

मेरी ये बातें सुन कर न जाने तुम्हारा मन कैसा हो रहा होगा। तुम समझती होगी, इन्हें अपना ही रोना रोने से फ़ुरसत नहीं मिलती। यह भी सच है। सचमुच इस जीवन में मेरा और कोई काम ही नहीं रह गया है। आँसुओं की बाढ़ में अपनी सूनी दुनिया को डुबा कर एक बार क़यामत का वह नज़ारा देख लेना चाहता हूँ, जिसके बाद कुछ और देखने का अरमान न रह जाय। मगर हाय री मेरी किस्मत! सर्वनाश का लीला-मन्दिर भी तो मेरे लिए बन्द ही रहता है! मैं लाख प्रयत्न करने पर भी उसके किवाड़ नहीं खोल पाता। हाथ काँप उठते हैं, पैर डगमगा जाते हैं, आँखें पथरा जाती हैं और मैं अचेत होकर अपनी निराशा के अनन्त आँगन में गिर पड़ता हूँ! यही मेरा रोज़ का काम है।

न जाने क्या लिखता जा रहा हूँ! यह निर्बल हृदय के साथ सबल भावनाओं का अत्याचार है। मेरा इसमें कोई कुसूर नहीं। बेहोशी की पागल लहरों में बहता जा रहा हूँ। कह नहीं सकता, कहाँ जाकर किनारे लगूँगा।

अच्छा, अब तुम अपना कलेजा थाम लो। देखना, भावनाओं की वह कोमल सृष्टि—बात-बात पर मचल जाने वाला तुम्हारा वह अबोध हृदय—इस आकस्मिक आघात से फूट न पड़े। उस पर तुम्हारा कोई अधिकार नहीं। वह मेरी चीज है, उसे लुटा न देना। बचाना, बचाना मेरी रानी! उसे जिस तरह हो, बचाए रखना। जानता हूँ, यह चोट ऐसी-वैसी नहीं—बड़ी ही मार्मिक और कठोर है। मगर तुम्हें अपना कलेजा पत्थर बनाना पड़ेगा; समझाओ, बुझाओ, मनाओ और ऐसा उपाय करो, जिससे वह फटने न पाए।

जानती हो, इसके बाद तुम्हें क्या सुनाने वाला हूँ? यही कि तुम्हारी प्यारी बहिन—मेरी स्नेहमयी भौजी—भैया की अभागिनी दासी, अब इस घर में—प्यार, आदर और सुख से विहीन इस पाप-मन्दिर में—नहीं है। मेरी सौतेली माँ के द्वारा अपमानित, लाञ्छित और तिरस्कृत होकर वह बेचारी कल रात ही न जाने कहाँ भाग गईं। तुम्हारे पास तो वह गई नहीं होंगी, इसे मैं खूब अच्छी तरह जानता हूँ। वह जीवित भी हैं या नहीं, कुछ कहा नहीं जा सकता। इस जीवन मे फिर उनका प्यार पा सकूँगा या नहीं, इसका मुझे कोई भरोसा नहीं रह गया। आह! मेरे ही कारण उस सती को आज यह विपत भी गले लगानी पड़ी। विमाता के राज्य

में रह कर मुझे अपनी माँ का अभाव नहीं खटकता था, सिर्फ़ इसलिए कि भौजी मुझे बेटे से बढ़ कर मानती थीं! कौन जानता था कि उनका वही प्यार साँप बन कर हम दोनों को एक ही साथ डस लेगा? किसे मालूम था कि उसी सुख के पर्दे में छिप कर हमारी क़िस्मत हमारे संहार का आयोजन कर रही है?

जब से भैया इस घर को छोड़ कर भाग गए, तभी से भौजी के और मेरे भाग्य भी नष्ट हो गए। वह बेचारी तपस्विनी की तरह अपने सुहाग की सूनी घड़ियाँ बिताने लगीं, मैं उसी तपस्या की ज्योति में बैठ कर उसका मीठा-मीठा प्यार पीने लगा। लौंडी की तरह दिन-रात काम में जुती रह कर भी, जब वह अम्माँ जी को ख़ुश नहीं रख सकती थीं, तब मेरे-जैसे निकम्मे की क्या बात? मुझे तो शायद डर के मारे—मेरी भुजाओं के बल का अनुमान करके—वे कुछ ऐसी-वैसी बातें नहीं बोलतीं; मगर भौजी का तो नाकों दम था। यह सब कुछ तो होता रहता था, इसकी न मुझे ही कुछ परवाह थी, न भौजी ही को। दोनों चुपचाप अपना-अपना काम किए जाते थे। मगर कल रात में अम्माँ जी ने बुरी तरह बदला लिया—ऐसा बदला कोई अपने शत्रु से भी न लेगा।

सुनोगी क्या हुआ? आह! स्मृति-मात्र से हृदय में

आग जल उठी—उसकी जीवित ज्वालाएँ अपने पञ्जों को विकराल रूप से बढ़ाए आ रही हैं! ग्लानि, धिक्कार और क्रोध की मिली हुई इन दारुण चोटों से इतना निर्बल हो रहा हूँ कि तड़पने की हविस रख कर भी एक बार तड़प नहीं सकता। क्या बताऊँ लक्खो, कहते नहीं बनता! मगर चाहे जिस तरह हो, कहना ही पड़ेगा। दूसरा कोई उपाय नहीं है।

बात यों हुई कि कल शाम ही से मेरे सिर में बड़ी तेज़ पीड़ा शुरू हो गई—मालूम होता था, सिर फट जायगा। उस समय मुझे तुम्हारी याद हो आई। जानती हो क्यों? तुम शायद भूल गई हो; मगर मैं भूलना भी चाहूँ तो कभी नहीं भूल सकता। आज से दो बरस पहले की बात है। मैं तुम्हारे घर गया हुआ था। इसी तरह मेरे सिर में पीड़ा उठ आई। उस समय तुमने घण्टों बैठ कर मेरे सिर में तेल लगाया था। मैं कहता—जाने दो अब।

तुम कहतीं—अभी कैसे जाने दूँ? पीड़ा दूर हुए बिना नहीं छोड़ूँगी।

लाख बार कहा, मगर तुम बराबर इसी तरह के जवाबों से मुँह बन्द करती गई। आखिर न जाने मैं कब सो गया। वह दिन क्या कभी भूलने का है?

ठीक उसी तरह भौजी भी मेरे माथे में तेल की मालिश

कर रही थीं। लालटेन का प्रकाश बहुत तेज़ था। मैंने कहा—उसे खूब कम कर दो।

वही हुआ—प्रकाश बहुत धीमा हो गया। वे उसी तरह धीरे-धीरे मेरे सिर को सहला रही थीं। मै आँखें बन्द किए चुपचाप पड़ा-पड़ा, मन ही मन उस प्यार की—उस सेवा की—पूजा कर रहा था। कमरे में नीरवता छाई हुई थी। इसी समय उनके कानो से लगा कर एक कर्कश आवाज़ टकराई—'न जाने कलमुँही कहाँ जाकर बैठी है! सारा दूध उबल कर चूल्हे में जा गिरा!'

यह मेरी अम्माँ जी की आवाज़ थी। भौजी कुछ बोलीं नहीं। मिनट भर भी नहीं बीता होगा कि वह चुड़ैल मेरे सिर पर खड़ी होकर चिल्ला उठी—'हाय रे बाप! मैं नहीं जानती थी कि अँधेरे में लेट कर यहाँ यह करम किया जा रहा है! आओ, देखो रे लोगो! आँखे खोल कर देख जाओ! पीछे कहोगे कि मैं झूठ-मूठ इन दोनों की बदनामी किया करती हूँ!' यह कह कर वह छाती पीट-पीट कर, चिल्लाने लगी। बहुत से लोग वहाँ आ जुटे। भौजी अपराधिनी की तरह चुपचाप एक कोने में खड़ी होकर रोने लगीं। मैं पीड़ा के मारे उसी तरह आँखें बन्द किए पड़ा रहा, मुझमें कुछ बोलने की शक्ति नहीं रह गई थी। धीरे-धीरे सभी लोग चले गए। भौजी फिर आकर मेरे पास बैठ गई और

उसी तरह मेरे सिर पर हाथ फेरने लगीं। न जाने मैं कब सो गया। सवेरे ८ बजे नींद खुली तो देखा, भौजी नहीं थीं। चारों ओर हो-हल्ला मचा हुआ था। मुझे ज्वर चढ़ आया। मैं मुँह ढाँप कर जोर-जोर से रोने लगा, मगर मेरे आँसू पोछने वाला कोई नहीं था। अपनी माँ के मरने पर भी मैं इस तरह नहीं रोया था। कलङ्क की झूठी बातों से विद्ध होकर भौजी न जाने कहाँ चली गईं। अगर वे मर न गई होंगी, तो मैं उन्हे पाताल से भी खोज लाऊँगा। आज ही भोर को, चाहे ज्वर उतरे या नहीं, मैं यहाँ से चल दूँगा। योगी बन कर सारा देश छान डालूँगा। और यदि वे जीती होंगी, तो चाहे जैसे हो, उन्हे लाकर तुम्हारे सामने—भैया के चरणों पर लिटा दूँगा। अगर मैं ही मर गया, तब तो लाचारी है। आह! इस समय फिर बड़े जोर से सिर में दर्द होने लगा। प्यास के मारे बेचैन हूँ, पर कोई पानी देने वाला नहीं। ऐसे घर मे रहने से क्या लाभ? अच्छा, बचूँगा तो फिर कभी। इस समय इतना ही। अपनी माँ और मेरे भैया से प्रणाम कहना। मुझे भूलना नहीं।

तुम्हारा ही

नबू

* * *

३

काशी-अनाथ-नारी-सदन
रविवार का रोता हुआ प्रातःकाल

मेरे नन्दू !

देखती हूँ, अभी बहुत दिनों तक दुःख भोगना बाक़ी है। जिसे मौत के लिए भी हाथ पसार कर भीख माँगनी पड़ती है और फिर भी नहीं मिलती, वह और कौन से सुख की आशा करे? मैं अभागिनी घर से तुम्हें उस दर्द-भरी सेज पर बेहोश छोड़ कर, इसलिए निकल पड़ी कि सीधे गङ्गा-मैया के पेट में समा जाऊँगी और अपने सूने जीवन की इन सारी यातनाओं का अन्त कर दूँगी। यही सोच कर उस काली रात के पर्दे में अपने मुँह को छिपाए मैं गङ्गा के तीर पर पहुँच गई। मगर उस समय वहाँ डूब मरने की सुविधा न पाकर मैं घूमती हुई स्टेशन पर पहुँच गई। जी में आया, अगर मरना ही है तो काशी चल कर क्यों न मरूँ? सुना था, काशी में मरने से सीधे बैकुण्ठ मिलता है। नरक में रहते-रहते ऊब उठी थी; इसीलिए मरते समय स्वर्ग और पुण्य का प्रलोभन न छूट सका। प्रलोभन चाहे जिस वस्तु का भी हो, बुरा ही होता है; इसे मैं जानती थी, लेकिन उस समय भूल गई। चुपके से गाड़ी में बैठ गई। खिड़की से ठण्डी-ठण्डी हवा आ रही थी, मेरी आँखें बन्द हो गईं।

जब खुलीं तो देखा, मुग़लसराय पहुँच गई हूँ। रात भर मैं गाड़ी पर अचेत पड़ी रही। हड़बड़ा कर उतरी तो सामने ही एक आदमी आ पड़ा। वह था तो असल में राक्षस, मगर उसकी खाल आदमी ही की थी। वह बड़े आदर से बोला—आपको काशी चलना है माता जी?

उसने कहते समय कुछ ऐसी अदा इख्तियार की कि मैं उस समय किसी तरह भी उसकी आदमीयत पर शक नहीं कर सकी। सीधे-सादे भाव से बोल उठी—हाँ, चलूँगी तो वहीं, बड़ी दया हो, अगर वहाँ की गाड़ी बतला दीजिए।

वह और भी नम्रता से बोला—चलिए न, मैं भी तो वहीं चलूँगा। मैं बाबा विश्वनाथ जी का पण्डा हूँ।

उस समय तक तीर्थ-पण्डों पर मेरी पूरी निष्ठा थी। मैं उन्हें धर्म के ठेकेदार समझती थी। उसकी जो वह नम्रता देखी, तो श्रद्धा और भी बढ़ गई। उसे मन ही मन धन्य-वाद देकर उसके साथ चल पड़ी। गाड़ी में उसका व्यवहार और भी सुन्दर हो गया। मगर काशी-स्टेशन पर ज्योंही उतरी, त्योंही एकाएक तीन-चार लट्ठधर उसके साथ मिल गए। वे लोग बनारसी बोली में कुछ ऐसी-ऐसी बातें करने लगे, जिससे मैं सहम उठी! देखा, वह भला आदमी भी उसी तरह की बातें करते हुए बराबर मेरी ओर नज़र दौड़ा-दौड़ा कर गन्दे इशारे करने लगा।

मेरी तो नस-नस मे आग भरी हुई थी—मैं विना पल भर भी विलम्ब किए गङ्गा की ओर दौड़ पड़ी। जब तक वे लोग दौड़े, मैं गङ्गा के गर्भ में समा चुकी थी। अपने जानते अपनी सारी जलन मिटा चुकी थी!

मगर यह क्या? जब आँखे खुलीं तो देखा, मैं एक ऐसे कमरे में बन्द हूँ, जिसमें न किसी दरवाजे का पता चलता है, न कोई खिड़की नज़र आती है। न वहाँ से बाहर के कोई शव्द ही सुनाई पड़ते हैं! कमरे में एक लालटेन जल रही थी। उसी के प्रकाश में देखा, समूचा कमरा खूब सुन्दरता से सजाया हुआ है। मैं एक गुलगुले ग़लीचे पर लेटी हुई थी। ये सारी बातें जो मैने देखीं, तो प्राण काँप उठे—वे ही प्राण, जिनका मुझे कोई मोह नहीं रह गया था। मैं माथा ठोंक कर रह गई—मेरी आँखों से दुर्बल आँसुओ की धारा उमड़ चली।

इसी समय धीरे-धीरे एक ओर का दरवाज़ा खुला और तुरन्त बन्द हो गया। मैने देखा, मेरे आगे वही भला आदमी खड़ा है।

इस समय मैंने और कोई भाव नहीं दिखाए। बहुत ही स्वाभाविकता के साथ कहा—आप ही विश्वनाथ जी के ख़ास पण्डा हैं?

"नहीं, मैं ख़ास पण्डा तो नहीं—खास पण्डा इस तरह

कहीं जात-आते थोड़े ही हैं—हाँ, मुझे भी उनके सेवकों में ही समझो। किसी तरह रुपए मिल ही जाते हैं।"

"आपने तो कहा था कि मैं विश्वनाथ जी का पण्डा हूँ?"

"हाँ, सो तो हूँ ही; यहाँ एक पण्डा तो है नहीं—अनेक हैं, उनमें से एक मैं भी हूँ।"

मैंने एक बार क्रोध-भरी आँखों से उसकी ओर देखा और चुप हो रही।

अब उसने अपनी शैतानी शुरू की। धीरे से आकर मेरे ग़लीचे पर बैठ गया और बोला—तुम डूब क्यों गई थी प्यारी मेरी?

उसके इस सम्बोधन से मैं और भी जल उठी और डपट कर बोली—होश में आकर बातें करो!

वह पैशाचिक हँसी हँस कर बोला—वाह रे तेरे नख़रे! मगर बीवी जी! अब तो इसी महल की रानी बन कर रहना होगा! यहाँ से तुम किसी तरह निकल न सकोगी और अगर नहीं मानोगी तो क़साई के हाथ बेच डालूँगा, जन्म भर रोते ही बीतेगा। ये सब नख़रे छोड़ कर चुपचाप......! इतना कह कर ज्योंही वह मेरी ओर बढ़ा, मैं शेरनी की तरह झपट कर उस पर टूट पड़ी। दनादन उसकी छाती पर लात जमाना शुरू कर दिया। बीच कलेजे ही पर पहली लात ऐसी सरपट पड़ी कि मुँह से खून बलबला पड़ा। मैं

लगातार लात और घूँसे जमाती गई। जब वह कराहने लायक़ भी नहीं रह गया, तब मैंने धीरे से उसकी तालियों का गुच्छा ले लिया और बड़ी सावधानी से दरवाज़ा खोल कर मैं बाहर आई। तब पता चला कि मैं तहख़ाने में बन्द थी। मगर अब कोई दिक़्क़त नहीं थी—धीरे-धीरे एक के बाद दूसरे कमरे का दरवाज़ा खोलते-खोलते मैं गली में आ खड़ी हुई। अब मेरा साहस और भी बढ़ गया; मगर काशी की गलियों से इतनी जल्दी निकल भागना आसान नहीं है। ख़ैर, मैं किसी तरह निकल कर सदर सड़क पर आई। आते ही लाल पगड़ी वाले का सामना हुआ। उसने डपट कर पूछा—कौन औरत है? कहाँ जा रही है रे?

मैं उसकी डपट सुन कर इतनी डरी, जितनी आज तक कभी डरी ही नहीं। उसी समय मालूम हुआ कि पुलिस के आदमी और यमराज मे थोड़ा ही अन्तर होता है। मगर वह बेचारा बड़ा ही नेक निकला। किसी भले बाप का बेटा रहा होगा। डर के मारे मैं सकबका कर रोने लगी। मुझे मालूम हुआ, जैसे संसार की सारी विपदाएँ भगवान् ने मेरे ही लिए बनाई हैं? मैं उसे कुछ जवाब न देकर रोने लगी। उसे मेरे ऊपर बड़ी दया आई। नम्रतापूर्वक वह मेरे नज़दीक आ खड़ा हुआ और लगा प्यार से सारी बातें पूछने। उसे और-और बातें तो मैं नहीं बता सकी, सिर्फ़

यही बता दिया कि मैं एक अनाथिनी अबला हूँ और पण्डो के फेर में पड़ कर मेरी यह दशा हुई है। उसके बाद वह मुझे इसी 'नारी-सदन' में छोड़ गया !

पर मै तो अब दुनिया से ऊब उठी हूँ ; यहाँ आकर तो मेरा मन और भी न जाने कैसा हो रहा है ? यहाँ के कर्मचारी भी बड़े सज्जन हैं—मेरे आराम की कोई बात उठा नहीं रखते ; दीन-दुखियो का बड़ा आदर करते है। सब कुछ है, फिर भी मैं शान्त नही हो सकी हूँ—तड़प-तड़प कर दिन बिताती हूँ और रो-रोकर रातें। अभी तुमसे बिछुड़े दस ही दिन हुए हैं, इसी बीच मे मैं क्या से क्या हो गई। यदि मुझमें क्षत्रिय-वंश का रक्त न होता, तो उस पापी के हाथों मेरी क्या दुर्दशा होती ?

नन्नू ! मैं पापिनी हूँ। पर-पुरुष ने मेरा स्पर्श किया है। अब मैं इस लायक़ नहीं कि तुम्हारे भैया की दासी हो सकूँ। मुझ पापिनी का सुहाग सदा के लिए—जन्म-जन्मान्तर के लिए—सो गया। किसी हालत में भी अब तुम लोगों को अपनी यह पाप-प्रतिमा, अपना यह काला मुख न दिखा सकूँगी। यहाँ मत आना !

तुम्हारी,

अभागिनी 'भौजी'

* * *

४

दुनिया का एक अँधेरा कोना
मङ्गलवार की तड़पती हुई सन्ध्या

मेरी दुलारी लक्खो !

उस रात तुम लोगो को बिना जनाए ही इसलिए चल पड़ा कि कहने-सुनने पर तुम किसी तरह भी मुझे आने नहीं देतीं। और अगर मैं वैसा नहीं करता, तो जीवन की सबसे बड़ी साध मेरी लाश के साथ ही चिता की गोद में समा जाती। जिसे आज पाँच बरसो के बीच भूल कर भी एक बार याद तक नहीं किया ; जिसे कुत्तों के जुठारे हुए पत्तल की तरह निर्मोही होकर नरक की नाली में फेंक दिया था ; जिसके असहाय अन्तस्तल मे इतने दिनों से मैं सदैव आग ही लगाता आया, अपनी उसी अभागिनी पत्नी की याद में उस रात मैं इतना पागल हो गया कि मुझे उसके सिवाय दुनिया मे और कोई चीज ही नजर नहीं आने लगी। जिधर देखता, उसी का जलवा नजर आता—उसी की सौन्दर्य-ज्योति हँसती हुई मिलती। वही मुस्कराहट, वही बाँकपन, वही अदा, वही लुभावनी चितवन—सब कुछ वही; मगर मै ही वह नहीं ! कहाँ वह स्वर्ग की देवी और कहाँ मै नाबदान का घृणित कीड़ा ! कोई तुलना नहीं—कोई मुकाबला नहीं ! फिर भी दिल तड़प उठा, बेचैनी की लहर नाच

उठी ! तय कर लिया कि चाहे जहाँ भी गई होगी, जाकर एक बार उसके पैरों पर लोटे बिना न रहूँगा। और कुछ नहीं बोलूँगा, अपने पश्चात्ताप के आँसुओं से उसके पावन पैर पखार कर उसी का थोड़ा-सा चरणामृत ले लूँगा—न देगी तो भीख माँग कर लूँगा। वही मेरा सबसे बड़ा प्रसाद होगा ! वही मेरी पाप-मुक्ति का सबसे बड़ा साधन होगा।

मगर वह मुराद भी पूरी न हो सकी। जिस समय उसके चरणों पर मेरा शीश गिरा, उस समय मेरी आँखों मे एक बूँद भी पानी नहीं रह गया था। हृदय तो श्मशान हो चुका था, उसमें न रस था, न प्यास थी। प्यास बुझ चुकी थी, रस सूख गया था। भीतर हाहाकार मचा हुआ था, बाहर आँखों की राह पर राख उड़ रही थी। लाख चाहा कि एक बार भी जी भर रो लूँ, मगर रो नहीं सका। उस समय अगर कोई मुझसे जन्म-जन्मान्तर की गुलामी लिखवा लेता और इसके बदले किसी तरह मेरी आँखों की राह से दो बूँद पानी गिरवा देता तो मैं समझता, मुझे स्वर्ग का सिंहासन मिल गया ! पर जो हो ही नहीं सकता था, वह होता कैसे ? आखिर जी मसोस कर रह जाना पड़ा।

खैर, यह तो जो हुआ सो हुआ ही। इसके आगे भी कुछ सुनना चाहती हो ? सुनो, हाँ, खूब अच्छी तरह से सुन लो ! आखिर मैं अब तक जी किस लिए रहा हूँ ?

इसीलिए न कि हृदय को पत्थर बना कर तुम लोगो को जन्म भर रुलाऊँ ? बस, जीवन भर मेरा यही काम रहा—आज भी यही कर रहा हूँ।

कई जगहों से होता हुआ मैं उसी रविवार के दोपहर में काशी पहुँचा। ज्योंही गाड़ी से उतरा, सुना कि मुसलमानो ने अनाथ-नारी-सदन के सामने दङ्गा मचा रक्खा है। न जाने आप ही आप मेरा दिल क्यो धड़कने लगा। मैंने एक आदमी से पूछा—बात क्या है भाई ?

"अरे साहब ! बात क्या होगी ? ये सब इसी तरह शैतानी करने पर तुले रहते हैं। जब तक एक बार खूब अच्छी तरह सीखेंगे नहीं, इन्हें होश नहीं होगा।"

"आखिर कुछ तो हुआ होगा ?"

"होगा क्या ? नारी-सदन के भीतर घुस कर एक मुसलमान लौडा बिना किसी से पूछे गुलाब के फूल तोड़ने लगा। इतने में प्रधान जी आए तो बोले कि क्यो वह इस तरह फूल तोड़ रहा था। बस, फिर क्या था, तन गया वह छोकरा, और लगा अनाप-शनाप बकने। प्रधान जी ने कान पकड़ कर उसे तीन चपतें रसीद कीं और गरदनियाँ देकर हाते से बाहर निकाल दिया। इसी पर हो हल्ला मच गया। घण्टे भर में सैकड़ो मुसलमान जुट गए और लगे नारी-सदन पर इंट-पत्थर फेंकने। अभी-अभी घण्टे भर की तो बात है।"

शरारत की यह नङ्गी तस्वीर देख कर मेरा राजपूती खून खौल उठा। मगर जब तक वहाँ पहुँचा, मामला बहुत-कुछ शान्त हो चुका था। दो-चार हिन्दू और पाँच-छः मुसलमान वहाँ घायल पड़े हुए थे। नारी-सदन की एक स्त्री भी बुरी तरह घायल हुई थी। जब मुसलमान लोग फाटक तोड़ कर जबरदस्ती 'सदन' में घुसे जा रहे थे, उस समय जिन लोगों ने वीरता के साथ उनका मुकाबला किया, उनमें यह स्त्री भी थी, सुनते ही मेरा हृदय गौरव और आह्लाद से उमड़ उठा। मै श्रद्धा की आँखें लेकर उस देवी के पास पहुँचा। नज़दीक जाकर ज़रा ग़ौर से देखा तो काँप उठा! वह तुम्हारी ही बहिन थी! उसकी तड़प देख कर मैं स्थिर न रह सका—उसके पैरों पर गिर पड़ा!

उसने अकचका कर देखा और बोली—न-न, मुझे मत छुओ। मैं दूसरे से छू गई हूँ—अब तुम्हारे लायक़ नही हूँ। इसके बाद वह तड़प-तड़प कर रोने लगी। मै कह नहीं सकता, कब तक उसी तरह पड़ा रहा। जब आँखें खुलीं तो देखा, मेरे कमरे से एक लाश निकल रही थी। वह अस्पताल का कमरा था। मैं वेग से उठ कर बाहर निकल पड़ा और चिल्ला उठा—इसे कहाँ लिए जाते हो?

मेरा चिल्लाना व्यर्थ था। दो-तीन आदमियों ने पकड़ कर मुझे जबरदस्ती खाट पर लिटा दिया। उनमें से एक ने

आँसू-भरी आँखों से मेरी ओर देख कर कहा—अब जो होना था, हो गया। धैर्य रखिए। देखिए, आपकी खोपड़ी फट गई है—बड़ा भारी घाव है। आराम से लेटे रहिए।

उसके बाद मैं बेहोश हो गया। कह नहीं सकता, बीच में कितनी बार बेहोशी आई और गई। मगर पूरे सप्ताह भर मैं वहीं रहा। उसके बाद मुझे आज्ञा मिली कि अब यदि मैं चाहूँ तो अस्पताल छोड़ सकता हूँ। न भी मिलती तो भी छोड़ देता। बस, उसी दम मैं वहाँ से निकल पड़ा।

इस समय कहाँ हूँ, यह न बताऊँगा। तुम्हारा क्या ठिकाना, किसी न किसी तरह पहुँच जाओ तो ? बस, यही समझ लो कि इसके बाद तुमको न तो मेरा कोई पत्र मिलेगा, न कभी मैं ही तुम लोगों को अपना मुँह दिखाऊँगा। यह पत्र जिस समय तुम्हें मिलेगा, उस समय तक मैं तुम्हारी बहिन के चरणों तले लेटता रहूँगा। जहाँ वह गई है, वहाँ जाने की मेरी तैयारी हो चुकी। बस, अब विदा माँगता हूँ। यदि भाग्य में होगा तो फिर किसी दूसरे जन्म में......! पता नहीं तुम्हारा 'नन्नू' कहाँ है ! इस समय उसकी बड़ी याद आ रही है। मिले तो मेरा लाख-लाख प्यार कह देना। बस—

तुम्हारा,

जन्म का दुखिया 'बहनोई'"

* * *

५

एक अज्ञात प्रदेश

दिन का दोपहर

माँ !

इस अभागिनी बेटी को माफ़ करना। इस बुढ़ापे में तुम्हें जो कुछ दुख मिल चुका था, उससे शायद भगवान् सन्तुष्ट नहीं हो सके। उन्हें कुछ और मञ्जूर था। तुम्हारे बचे-खुचे सुख को मेरे ही हाथों से मिटवाने में उन्हें बड़ा आनन्द आया होगा। मैं क्या करती ? मेरा क्या वश ?

बहिन और बहनोई जी के साथ-साथ मेरी दुनिया भी ख़ाक में मिल गई—मेरे लिए भी संसार मे कुछ रह नहीं गया। जो चीज़ इतने दिनों से मैं कलेजे के भीतर छिपाए बैठी थी, वह भी न जाने किस राह से उड़ गई। हाय ! मेरे मन में कितनी बड़ी-बड़ी आशाएँ थीं; कितने सुन्दर-सुन्दर अरमान थे; कितने ख़ूबसूरत हौसले थे ! सब के सब ध्वस्त हो गए ! बिखर गए ! मिट्टी में मिल गए !! आज उसी हौसले की समाधि पर बैठी-बैठी अपने दर्द की तस्वीरें खींच रही हूँ, तरह-तरह की क़िस्मतों के रङ्ग-रूप का मिलान कर रही हूँ। आह ! प्रत्येक में कितनी गहरी भिन्नता है !

माँ ! मेरी अभागिनी माँ ! तुम्हारी यह बेटी योगिन बन गई है ! अपने प्रियतम की अलख जगाते-जगाते

जीवन का अवसान कर देगी। कह नहीं सकती, कभी रूप-रस का पान कर सकूँगी या नहीं। हाँ, इतना जानती हूँ कि यहाँ नहीं तो किसी न किसी लोक में 'वे' मुझे मिलेंगे अवश्य। आज तक 'उन्हे' छोड़ कर मैंने हृदय में किसी का ध्यान नहीं किया। सोते-जागते, खाते-पीते, रोते-हँसते, सदैव उन्हीं की सूरत मेरी आँखों में फिरा करती है। ठहरो, देख लूँ, वह लम्बे-लम्बे क़दम बढ़ाए कौन आ रहा है? हाँ, वही तो हैं माँ! अच्छा, फिर लिखूँगी........!

*　　*　　*

माँ! मेरी दुखिया माँ! लो, अब मेरा अन्तिम प्रणाम स्वीकार कर लो। उस समय पत्र अधूरा रह गया था, अब इसे पूरा किए देती हूँ। हाँ, उस समय 'वही' थे। कई दिनों मे शायद उनके पेट में एक दाना भी नहीं पड़ा था। न जाने इस जङ्गली राह से किधर को जा रहे थे! मुझे दूर ही से कुछ ऐसा जँचा कि वही हैं। मैं उनके पास दौड़ गई। मुझे देखते ही रुक गए और चकित होकर बोले—तुम हो लक्खो?

आह! उनकी वाणी में कितनी कातर चीख़ थी! वे कितने दुर्बल और कमज़ोर हो गए थे! मेरी आँखों से आँसू झरझरा गए! रुँधे हुए स्वर में बोली—प्राणेश!

"हाय! लक्खो! तुम्हारी भी यह दशा हो गई?"—

कह कर वे उसी समय गिर पड़े और माँ, उन्होंने फिर उठने की चेष्टा नहीं की !

मैं रो नहीं सकी। रोती क्या करने ? मेरे रोने का मूल्य ही क्या रह गया ? मैं तो अपने भाग्य को सराहने लगी। अब भी सराहती हूँ कि वे मरे तो मेरी ही गोदी में सिर रख कर। मुझसे बढ़ कर और कौन सुहागिन होगी, जिसके सुहाग की सेज पर विच्छेद का कभी पैर ही नहीं पड़ सकता ? अब इनसे मुझे कौन अलग कर सकेगा ?

सुनो, इस समय तुम रोना मत। मुझे आशीर्वाद देना। उस जन्म में फ़िर हम दोनों तुम्हारे ही चरणों की छाया मे पलेंगे और तुम्हारा यह ऋण चुकाने का यत्न करेंगे। इस समय अब माफ़ करो। उन्हीं के साथ जा रही हूँ।

तुम्हारी सर्वस्वहीना बेटी,

लक्खो

अभिशाप

अभिशाप

कलक्टर साहब की स्त्री होकर भी सदया अमीरी और अभिमान का नाम तक नहीं जानती थी। एक आदर्श हिन्दू-ललना में जितने गुण होने चाहिए, वे सभी उसमें विद्यमान थे। करुणाकर बाबू भी सब तरह से उसीके पति होने लायक़ थे। दोनों के रूप-गुण, विद्या-विवेक और शील-स्वभाव में रत्ती भर का भी अन्तर नहीं था।

सदया को खूब सवेरे उठने की आदत थी। उसके साथ ही करुणाकर बाबू भी उठ जाते थे। वे दोनों कुछ देर तक अपने बँगले के बाहर खुले मैदान में साथ-साथ टहल लिया करते, और उसके बाद अपने-अपने काम में लग जाते थे।

उस रात करुणाकर बाबू बहुत देर में सोए थे, इसीलिए सवेरे नियमित समय पर जाग न सके। सदया को यह बात मालूम थी। उसने भी उन्हें नहीं जगाया। अकेली ही हवा खाने को निकल पड़ी। मगर यह क्या? कमरे का द्वार

खोलते ही वह चौंक कर दो क़दम पीछे जा खड़ी हुई। उसका समूचा शरीर काँप उठा! हिम्मत बाँध कर वह फिर दरवाज़े तक आई। सामने की पड़ी हुई चीज़ पर एक गहरी निगाह डाल कर वह खोई हुई-सी कुछ देर तक वहीं खड़ी रही। उसकी चकित आँखें इधर-उधर चारों ओर दौड़ने लगीं। मगर वहाँ कोई हो तब तो? अन्त में वह अपने पति के पास लौट आई। करुणाकर बाबू अभी अपनी गुलाबी नींद का मज़ा लूट रहे थे। सदया ने उनका हाथ पकड़ कर हिला दिया और घबड़ाए हुए स्वर में कहा—सुनते हो?

करुणाकर बाबू ने अपनी अलसाई आँखों से एक बार उसकी ओर देखा और करवट बदलते हुए कहा—ज़रा और सो लेने दो।

"अच्छा, फिर सो रहना"—कह कर सदया ने खींच कर उन्हें बिस्तरे से उठा लिया।

"बात क्या है?"—कह कर वे नीचे उतर पड़े।

सदया हाथ पकड़ कर उन्हे दरवाज़े तक पहुँचा आई और बोली—देखते हो?

वे चौंक पड़े! उनके आश्चर्य की सीमा न थी! बोले—यह क्या?, इतना सुन्दर बच्चा और इस तरह फेंका हुआ? कौन ऐसी अभागिनी थी, जिसने इतना बढ़िया लाल पैदा किया और फिर उसे इस निर्दयता से फेंक गई?

"मेरा तो न जाने कैसा जी हुआ जा रहा है ! इस टोकरी की ओर मुझसे देखा भी नहीं जाता। आह, कितना सुन्दर बच्चा है ?"

करुणाकर बाबू ने धीरे से उस बच्चे को गोद में उठा लिया। देखा, वह बिलकुल स्वस्थ था। गोद में आते ही वह चिहुँक कर जाग पड़ा। करुणाकर बाबू ने उसे छाती से लगा लिया। उनकी आँखें भर आईं। बच्चा रोने लगा। उसे सदया की गोद में देते हुए उन्होंने कहा—जाओ, इसे भीतर ले जाओ। थोड़ा दूध पिला दो। मालूम होता है, अभी कुछ ही देर पहले इसे यहाँ कोई छोड़ गया है। बच्चे की अवस्था चार महीने से अधिक की नहीं मालूम होती। न जाने इसमें कौन सा रहस्य है ! ऐसा अनमोल रत्न फेंकते उसे दया भी न आई। देखो, अभी गैया का दूध आएगा न, वही पिला कर इसे सुला देना। नहा-धो लूँ तब अनाथालय के मन्त्री साहब को बुला कर सब बातें ठीक कर दूँगा।

"उन्हे किसलिए बुलाओगे ?"—दोनों आँखों में माता का पिघला हुआ हृदय पसार कर सदया इस तरह यह प्रश्न पूछ बैठी कि कलक्टर साहब सहसा इसका कोई उत्तर न दे सके।

थोड़ी देर चुप रहने के बाद करुणाकर बाबू ने डब-डबाई आँखों से अपनी प्रियतमा की ओर देखा और एक

लम्बी साँस खींचते हुए कहा—आखिर इस बच्चे के पालने-पोसने का दूसरा कौन सा उपाय है ?

"हम दोनों इसे पाल-पोस कर बड़ा नहीं बना सकते क्या ?"

करुणाकर बाबू का हृदय न जाने क्यों गद्‌गद हो गया। वे अपने असली मनोभावों को दबाते हुए बोले—ऐसा करना क्या उचित होगा ?

"क्यों ?"

"लोग क्या समझेंगे ?"

"लोग तो हमेशा अपने मतलब भर की बातें समझ लिया करते हैं, उन्हें और-और बातें समझने की छुट्टी कहाँ रहती है ? और उनके समझने या न समझने से मेरा बनता-बिगड़ता क्या है ? वे जो चाहें समझें। मैं तो इसे सर्वथा उचित ही समझती हूँ। मुझे इसमें एक भी ऐसी बात नज़र नहीं आती, जो हमें अपनी मर्यादा से एक जौ भी नीचे गिरा सके। हाँ, अगर तुम भी इसे अनुचित समझते हो, तब मुझे कुछ नहीं कहना है।"

करुणाकर बाबू चुपचाप सिर झुकाए खड़े रहे। उस समय उनकी निर्णय-बुद्धि विलीन हो गई थी। उनका हृदय भीतर ही भीतर रो रहा था। भावनाओं के उस दारुण सङ्घर्ष में वे कुछ स्थिर न कर सके। सदया की ओर देख

कर वे पराजित वाणी में बोल उठे—अच्छा, अभी इसे ले जाओ। नहा-धोकर आओ तब बातें होंगी।

वे टहलने के लिए मैदान में चले गए। सदया बालक को चूमती हुई अपने घर में घुस गई। बच्चे को छाती से चिपका कर वह बिस्तरे पर लेट गई। अपनी उस चैतन्य-विस्मृति में न जाने उसने उस अबोध बच्चे के गालों पर प्यार के कितने मोती बिखेर दिए। हाय! यदि इस समय उसकी आँखें अश्रु-जालों में उलझी हुई न होतीं, तो वह देखती कि बच्चा उसके इस सुहाग-भरे पागलपन पर लट्टू होकर किस अदा के साथ मुस्करा रहा था। उसकी मुस्कराहट में कितना जीवन, कितना आकर्षण और कितना मधुर भोलापन था! मगर वह तो उसे अपनी छाती से लगाते ही दीन-दुनिया सभी कुछ भूल बैठी थी। पगली की नाईं वह अपने ही आप बड़बड़ाने लगी—

"न, इसे तो मैं अब अपनी छाती से अलग नहीं कर सकती। चाहे कुछ भी हो जाय—वे भी क्यों न नाराज हो जायँ, मैं इसे कहीं नहीं जाने दूँगी। इसे भगवान् ने ही मेरे पास—मेरी सूनी गोद भरने के लिए भेजा है। नहीं तो यह कहीं और जाकर क्यों नहीं फेंका गया? जरूर यह दैवी प्रसाद है। मैं यह किसी को न दूँगी। सारी दुनिया एक तरफ और मैं एक तरफ। हाँ, अकेली ही खड़ी रहूँगी। देखूँ

कौन छिनाता है—कौन मेरी गोदी का यह लाल मुझसे छीन लेता है ? मैंने इसे पाया है, यह मेरा है—हाँ मेरा है, किसी का इस पर कोई अधिकार नहीं। आह ! इसे बार-बार चूम कर भी मैं नहीं अघाती........।"

"एँ...एँ...! इस तरह उसकी हड्डी-पसली भी तोड़ दोगी क्या ? तुम्हारी बेखुदी भी कितनी सुन्दर होती है, सदया !"—कहते हुए करुणाकर बाबू लपक कर खाट के पास जा पहुँचे और बच्चे को अपनी गोद में उठा लिया। बच्चा रो उठा। सदया हड़बड़ा कर खाट से नीचे उतर आई और बोली—लो, रुला दिया न ! अब चुप करो तो देखूँ ?

करुणाकर बाबू की आँखों में पानी उमड़ आया। बड़ी ही कठिनता से अपने काँपते हुए अधरों पर वेदना भरी मुस्कराहट बिखेर कर बच्चे को सदया की गोद में सौंपते हुए वे बोले—मैं इसे किस बूते पर चुप कर सकूँगा सदया, मेरा जन्म तो इसीलिए हुआ है कि मैं हँसते हुए को भी रुलाया करूँ। दिन-रात अपराध और दण्ड की विवेचना करते-करते मेरा हृदय इतना नीरस हो गया है कि अब मैं एक बार तुम्हें भी नहीं हँसा सकता। ऐसी अवस्था में मुझसे वह कैसे चुप हो सकेगा ? लो, तुम्हीं उस विभूति की स्वामिनी हो, जिसके प्रसाद से मुरझाया फूल भी खिल उठता है।

सद्या अपने पति की इस दीनता और विवशता पर लजा तो गई, मगर उसने इस मौक़े को हाथ से न जाने दिया। बच्चे को गोद में लेते ही झट बोल उठी—देखो, देकर फिर छीन न लेना !

"मैं इसका छीनने वाला होता ही कौन हूँ ?"

विवशता की इस अरमान-भरी वाणी का भाव सद्या समझ न सकी। दाँतों-तले ओंठ दबा कर धीरे से बोल उठी—कलक्टर साहब होकर भी अधिकार के भिखारी ?

"केवल तुम्हारे सामने"—कह कर करुणाकर बाबू ने चुपचाप अपनी प्रेयसी के आगे अपना मस्तक झुका दिया। सद्या ने पराजय का वैसा मोहक रूप कभी नहीं देखा था। वह रीझ गई। उसने धीरे-धीरे पति के कन्धे पर अपना सिर रख दिया और आँखों में आँसू भर कर बोली—"ज़रा देखो तो, यह इस तरह मुस्करा रहा है, मानो बहुत दिनों का परिचित हो।"

करुणाकर बाबू ने आँखें उठाईं तो आँसुओं की झड़ी बरसने लगी। सद्या का हाथ पकड़ कर वे खाट पर बैठ गए और गीली वाणी में बोले—मगर अब भी सोच लो सद्या, इतने बड़े वैभव की उपासना कर भी सकोगी या नहीं ?

"क्यों ?"—सद्या ने चकित होकर पूछा।

"इसलिए कि शायद परमात्मा हमें इस सुख के अधिकारी नहीं समझते, नहीं तो सब-कुछ पाकर भी हम इस अरमान के भिखारी ही क्यों बनते ?"

"मगर मैं तो समझती हूँ, यह उन्हीं का प्रसाद है।"

"खूब अच्छी तरह सोच लो।"

"जो कुछ सोचना था, मैं सोच चुकी। अब कुछ भी न सोच सकूँगी। जब तुम कचहरी चले जाते थे, तब दिन-भर मैं यहाँ अकेली पड़ी-पड़ी रोया करती थी। इसी तरह रोते-रोते आधी ज़िन्दगी ख़तम हो गई। अब दिन-भर इस खिलौने के साथ हँसूँगी, खेलूँगी और रात भर इसे कलेजे के साथ चिपकाए रहूँगी। मुझसे बढ़ कर कौन भाग्यवती होगी, जिसे घर बैठे इतनी बड़ी विभूति मिल जाय ? मैं और कुछ नहीं जानती। यह मेरा बेटा है—मैं इसकी माँ हूँ, और तुम इसके बाप हो।"

इतना कह कर सदया ने उन्मत्त भाव से बच्चे को चूम लिया। वह खिलखिला उठा। सदया ने उसे करुणाकर बाबू की गोद में डाल दिया और कहा—इसे तब तक लिए रहो, मैं दूध ले आऊँ।

करुणाकर बाबू थोड़ी देर के लिए पिता से माता बन गए। उस समय उनकी चिर-सञ्चित वेदना उल्लास का आँसू बन कर बह रही थी। बरसों का प्यासा अरमान

उसी खारे-पानी में सराबोर होकर उनके अधरों पर काँप रहा था ! उन्होंने आकाश की ओर देखते हुए, कृतज्ञता की एक हलकी-सी साँस छोड़ कर, बच्चे को चूम लिया।

बच्चा उनकी ओर देख कर हँस रहा था और सदया हाथ में दूध का कटोरा लिए खड़ी मुस्करा रही थी !

२

"मिले माई जी ! मुट्ठी भर भीख।"

"अरे ! तू तो उसी दिन से अब रोज़ आने लगी।"

"हाँ, माई जी !"

"क्यों ?"

"क्योंकि यहाँ जो कुछ भी मिल जाता है, उसी से मेरे पेट की जलन मिट जाती है।"

"पगली ! औरों के यहाँ की भीख से तेरी भूख नहीं मिटती है ?"

"और मैं माँगने ही कहाँ जाती हूँ ?"

"तो केवल इसी घर में भीख माँगने आती है, और किसी के द्वार पर नहीं जाती ?"

सदया के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। उसकी इस बात पर उसे विश्वास नहीं हुआ। मगर जब उसने भिखारिणी की आँखों पर निगाह डाली, तब उसे न जाने उसके ऊपर क्यों निष्ठा हो आई। उसकी बातों में उसे रस आने लगा।

उसने इस बार बड़े ही प्यार से पूछा—मगर यह तो बता बेटी! तू ऐसा क्यों करती है?

सदया के मुख से 'बेटी' शब्द सुनते ही भिखारिणी की आँखें भर आईं। वह बोली—सो तो मैं नहीं जानती माँ!

"आखिर कुछ तो कारण होगा ही?"

"कारण और क्या बताऊँ? मैं भीख का व्यवसाय नहीं जानती। इस काम में अभी बिलकुल नई हूँ।"

यह कह कर भिखारिणी ने सिर झुका लिया। उसके मुरझाए हुए मुख पर एक बार लज्जा की लाली दौड़ गई। वह पैर के नाखून से ज़मीन की मिट्टी खुरचने लगी।

सदया की नस-नस में उसके प्रति सहानुभूति के भाव उमड़ आए। उसकी विपदाओं को अन्त कर देने की लालसा ने उसे बेचैनी में डाल दिया। किस तरह वह इस अभागिनी युवती का दुख दूर कर सकेगी—यही सब से बड़ी समस्या थी। 'माँ' और 'बेटी' का वह कोमल शब्द-विनिमय क्या योंही नष्ट हो जायगा? नहीं, सदया—स्नेह और ममता की वह स्वर्गीय देवी—उसका कष्ट अवश्य दूर करेगी। उसने पूछा—तू किस जात की है बेटी?

"ब्राह्मणी हूँ।"

"ब्राह्मणी? तब इस तरह भीख क्यों माँगती है? तेरा इस दुनिया में कोई अपना नहीं रह गया?"—एक ही साँस

में सदया यह सब पूछ बैठी। पीछे से उसे पछतावा होने लगा। ऐसा भी कहीं प्रश्न होता है? उसे कोई होता तो बेचारी गली-गली मारी ही क्यों फिरती? अपने घर में रानी बन कर चुपचाप बैठी न रहती? यह भला मैं क्या पूछ बैठी!

मगर उस ब्राह्मणी को इस प्रश्न से कुछ भी चोट नहीं पहुँची। ममता के उस शीतल और स्निग्ध स्पर्श में आघात कहाँ? सीधे-सादे और निष्कपट शब्द नुकीले होकर भी हमें नहीं बेधते। अपनेपन की उस भावमयी दुनिया में पहुँच कर भिखारिणी निहाल हो चुकी थी—उसके हृदय में आशा की एक सुनहरी ज्योति जग गई। उसने गम्भीरता-पूर्वक जवाब दिया—नहीं माँ, मुझ अभागिनी की देख-रेख करने वाला कोई नहीं है। कहीं जगह नहीं, जहाँ जाकर रह सकूँ। मरते भी नहीं बनता—मर ही नहीं सकती हूँ। कई बार चेष्टा करके देखा, अन्त में हार कर बैठ गई। विधवा ब्राह्मणी हूँ, भीख के सिवाय और मेरा आधार ही क्या रह गया है?

सदया का हृदय टूक-टूक हो गया। बड़ी कठिनता से वह पूछ सकी—क्यों बेटी? तुझे भोजन बनाना नहीं आता?

"केवल भोजन ही क्यों, गृहस्थी के सारे काम खूब

अच्छी तरह जानती हूँ। मगर इस समय मेरे गुणों की पूछ ही कौन करता है ?"

इतना कह कर अबला अपने फटे-पुराने वस्त्र के एक ओर से मुँह ढाँप कर रोने लगी।

सदया ने दौड़ कर उसे गले से लगा लिया और कहा—न, अब मैं तुझे रोने न दूँगी बेटी! तू ज़रा बैठ, मैं अभी आती हूँ।

उसने भीतर कमरे में पैर रखते ही देखा—करुणाकर बाबू बेचैनी के साथ इधर-उधर घूम रहे हैं। उनकी गोद में वह बच्चा था और आँखों में आँसू! सदया के ऊपर नज़र पड़ते ही वे और भी विकल हो उठे। वह उनके पास पहुँच कर बोली—तुम ऐसे क्यों हो रहे हो? जी तो अच्छा है न?

करुणाकर बाबू ने गर्व से अपनी स्त्री के कन्धे पर हाथ रख दिया और कहा—सच बताओ सदया! तुम किस स्वर्ग की देवी हो?

"मैं तुम्हारी ही दासी हूँ।"—कह कर सदया ने बड़ी कातरता से अपने स्वामी के मुँह की ओर देखा। दोनों के चेहरे पर एक अलौकिक ज्योति नाच रही थी! वह ज्योति क्या सबको नसीब होती है?

करुणाकर बाबू ने गद्गद होकर कहा—नहीं सदया!

ऐसा न कहो। मैं तो तुम्हारे चरणों की धूलि भी नहीं हो सकता। तुम्हें पाकर मैं अपने को कितना धन्य समझता हूँ, इसे तुम क्या जानो ?........।

वे और भी कुछ कहना ही चाहते थे कि सदया पति के पैरों पर लोट पड़ी और बोली—तुम मेरे जीवन-देवता हो। ऐसी बातें तुम्हारे मुँह से अच्छी नहीं लगतीं। तुम्हें पाकर कौन नारी अपने सुहाग को न सराहेगी ? मुझ में अगर कोई चीज हो भी, तो वह तुम्हारी ही दी हुई होगी। मैं क्या लेकर आई थी ?

करुणाकर बाबू ने सदया को उठा लिया और कहा—तो उस बेचारी को अपने ही यहाँ रख क्यों नहीं लेती हो ? भोजन भी बना दिया करेगी, बच्चे को भी समय-समय पर सँभाले रहेगी। चेहरे-मोहरे से बड़ी नेक मालूम होती है।

"मैं तो तुम्हारी ही आज्ञा लेने आई थी।"—सदया इस तरह हुलास-भरी वाणी में बोल उठी, मानो उसे चौदहों भुवन की सारी निधियाँ मिल गई हों।

करुणाकर बाबू ने कहा—इन बातों के लिए तुम मुझसे आज्ञा न माँगा करो, मुझे लाज आती है।

"तो उसे रख लूँ ?"

"जरूर ! अब वह तुम्हारी बेटी है और तुम उसकी माँ हो।"

सदया ने उसी समय सन्दूक से एक साफ धोती निकाली और बाहर निकल कर उस भिखारिणी से कहा—बेटी ! ले, पहले तू खूब अच्छी तरह नहा-धो ले। इसके बाद दोनों माँ-बेटी मिल कर बाबू जी के लिए भोजन बनाएँगी। चल, तुझे नहाने-धोने वाला कमरा दिखा दूँ।

भिखारिणी को मालूम हुआ, मानो वह सपना देख रही हो। इसी से वह चुपचाप खड़ी एकटक सदया की ओर निहारती रह गई—न एक पग चली और न एक शब्द बोली।

सदया धीरे-धीरे उसके बहुत पास पहुँच गई और उसका हाथ पकड़ कर बोली—बेटी !

"माँ"—कह कर वह अबला उसके चरणों पर गिर पड़ी। सदया ने उसे गोद में उठा लिया।

*   *   *

कुछ ही देर बाद रसोई-घर में देखा गया कि करुणाकर बाबू चाव से भोजन कर रहे थे। सदया आनन्द-विभोर होकर कह रही थी—खाई थी कभी ऐसी तरकारी ? वाह ! मेरी बेटी तो इतना बढ़िया भोजन बनाती है कि इसकी सुगन्ध ही से मेरा पेट भर गया।

"मेरे भाग्य जगे"—कहते हुए करुणाकर बाबू बाग़-बाग़ होकर बोले—"ला बेटी ! इनके हिस्से की तरकारी भी

मेरी ही थाली में डाल दे। ये तो अब खाएँगी ही नहीं, क्योंकि इनका पेट भर गया।"

'बेटी' ने बाप की थाली में खूब ढेर सी गरमागरम तरकारी डाल दी। सदया ने हँस कर कहा—लिया न बाप का पक्ष? अच्छी बात है। बाप के पक्ष में बेटी रहे, माँ के पक्ष में बेटा रहेगा। देखें कौन जीतता है?

३

सवेरे का नाश्ता करके करुणाकर बाबू 'चाँद' की नई संख्या पढ़ रहे थे और न जाने क्यों सिसक-सिसक कर आँसू भी बहाए जा रहे थे। इसी समय सदया आ पहुँची और मुस्कराती हुई बोली—तुम तो इतने कोमल हो कि रोने में स्त्रियों को भी मात कर देते हो। न जाने अदालत की कुर्सी पर तुम्हारा दिल कैसे क़ाबू में रह पाता है? भला सुनूँ तो सही, इस 'चाँद' में रोने की ऐसी कौन सी बात लिखी है?

करुणाकर बाबू ने लजा कर आँखें पोंछ लीं और सदया के हाथो पर 'चाँद' रखते हुए कहा—ज़रा पढ़ कर देखो तो इस कहानी को, फूट-फूट कर रोने लगती हो कि नहीं?

सदया ने चकित होकर कहा—अरे! यह तो मेरी बेटी नयना की लिखी हुई है!

"सच कहता हूँ, अपनी बेटी के ऊपर हमें नाज़ है। मैं नहीं जानता था कि इसमें इतने गुण भरे हैं। इसी डेढ़ साल

के भीतर इसने लिखने-पढ़ने में इतनी गहरी योग्यता प्राप्त कर ली है, जितनी कोई पूरे पाँच साल के परिश्रम से भी न पा सकेगा। देखो तो सही, इसके एक-एक शब्द में कितनी वेदना और साथ ही जीवन की कैसी निगूढ़ व्याख्या भरी हुई है। बड़े भाग्य से यह हमारे घर आई है।"

"और देखो न, जिस दिन से वह यहाँ आई, हमारा सुख न जाने कितना अधिक हो गया है। वह बच्चे को लेकर जब खेलाने लगती है, तब तो मैं दीन-दुनिया सब भूल जाती हूँ। रहन-सहन, बातचीत, शील-स्वभाव—उसकी सारी बातें सुन्दरता से भरी हुई हैं। जब वह 'रामायण' गाकर मुझे सुनाने लगती है, तब तो मानो मैं इस लोक में रह ही नहीं जाती हूँ।"

"सचमुच ऐसी गुणवती बेटी के लिए मैं तुम्हें हज़ार बार बधाई देता हूँ सदया! और अपने को तो मैं धन्य समझता ही हूँ। मगर एक बात तो बताओ!"

"क्या?"

"वह अपने जीवन की बातें भी कुछ बताती है?"

"न...न—मैं भूल कर भी उससे ये बातें नहीं पूछ सकती। मुझे तो उसका दुःख साधारण नहीं मालूम पड़ता। कभी भी उससे इस तरह की बातें न पूछना। वह तपस्विनी है—तपस्विनी। कभी-कभी वह रात में घण्टों छत पर चुप-

प बैठी रहती है—न जाने क्या सोचती है ? मगर मैं
ाभी उससे कुछ नहीं पूछती। सचमुच बड़े भाग्य से यह
हमें मिली है।"

"कविताएँ भी इसकी बड़ी सुन्दर होती हैं।"

"मुझे तो वह रोज़ अपनी कविताएँ सुनाया करती है। एक दिन कहती थी, बाबू जी को सुनाते लाज आती...।"

इसी समय 'फ़ोन' की घण्टी बज उठी—टन् ! टन् !! टन् !!!

करुणाकर बाबू को इस समय घण्टी का बजना बड़ा ही बुरा लगा। बोले—नौकरी चाहे बड़ी हो या छोटी, है बड़ी ख़राब चीज़। देखो न, अभी बड़ी इच्छा थी कि नयना के मुँह से उसकी एक कविता सुन कर ज़रा मन बहलावें, इसी समय यह......!

फ़ोन की घण्टी फिर बज उठी—टन् ! टन् !! टन् !!!

झल्ला कर करुणाकर बाबू ने फोन के पास मुँह ले जाकर पूछा—आप कौन हैं ?

"हुज़ूर को मेरा सलाम !"

"कौन ? कोतवाल ?"

"जी हाँ, सरकार !"

"क्या बात है ?"

"बहुत भारी मामला आ पड़ा है, हुज़ूर !"

"वही तो पूछता हूँ, क्या मामला है ?"

"यहाँ से सब बातें बताने का मौक़ा नहीं है, हुजूर ! आप फ़ौरन चौबेटोला को तशरीफ़ ले चलें, मैं भी रवाना हो रहा हूँ।"

करुणाकर बाबू घबरा कर उठ बैठे और बोले—लाओ, जल्दी मेरे कपड़े लाओ। मेरे आने में शायद देर हो तो तुम लोग खा-पी लेना।

कलक्टर साहब कपड़े पहिन कर मोटर उड़ाते हुए एक ही मिनिट के भीतर सदया की आँखों से ग़ायब हो गए। सदया खड़ी-खड़ी सोचने लगी—अभी-अभी जो आदमी साहित्य, सङ्गीत और कविता के आनन्द में झूमने की कल्पना किए बैठा था, उसी को न जाने इस समय किन-किन जघन्य बातों के पीछे माथा-पच्ची करनी पड़ेगी। हम सोचते कुछ हैं और होता कुछ है !!

४

उस दिन रविवार था। करुणाकर बाबू की बड़ी इच्छा थी कि वह दिन साहित्य और सङ्गीत ही में बीते। वे छुट्टी के दिनों में प्रायः ऐसा ही किया भी करते थे। इसीलिए उन्होंने सदया के साथ वैसी बातें करनी शुरू कर दी थीं। मगर चौबेटोला वाले मामले ने सारा मजा किरकिरा कर दिया। वहाँ से पूरे पाँच घण्टे बाद वे लौटे। बहुत ही

थक गए थे। चेहरे से उदासी टपकी पड़ती थी। खा-पीकर विस्तरे पर आराम करने गए, तो इस तरह करवटें बदल रहे थे, जैसे आग की सेज पर सोए हों। उन्हें दिन में सोने का अभ्यास नहीं था। जब वे विस्तरे पर लेटते, तब सदया और नयना उनके पास आ बैठतीं। बच्चा भी पास ही धरती पर आह्लाद के टुकड़े बिखेरा करता, और तीनों जने मिल कर उसका आनन्द लूटते। उस दिन भी ऐसा ही हुआ, मगर करुणाकर बाबू का चित्त प्रसन्न नहीं था। सदया ने घबरा कर पूछा—बहुत थक गए हो क्या? पैर दबाऊँ?

"नहीं सदया! थका-चका तो कुछ नहीं हूँ। जितना दुःख मुझे आज की घटना से हुआ है, उतना कभी नहीं हुआ था।"—कह कर करुणाकर बाबू ने एक बड़ी ही लम्बी आह खींची।

सदया ने घबराहट के साथ पूछा—क्या हुआ?

"अपनी नयना बेटी की 'चाँद' वाली कहानी में जो कुछ पढ़ा, उसी की जीती-जागती तस्वीर देख आया हूँ। आह! मेरी बेटी की कल्पना में कितना जीवन, कितना तेज और कितना मर्म भरा रहता है।"

नयना अपनी बड़ाई सुन कर लजा गई। सदया ने पूछा—आखिर बताओ भी, क्या बात हुई?

"क्या बताऊँ सदया! अब तो भगवान् से यही प्रार्थना

करने को जी चाहता है कि वे पृथ्वी-तल से सारे मानव-समाज का अस्तित्व ही लोप कर दें—एक बार प्रलय के गर्भ में सारी सृष्टि विलीन हो जाय !"

"आख़िर, किस बात पर समूची दुनिया के दुश्मन बन गए, वह भी तो सुनूँ ?"

"अगर सारी दुनिया का नहीं, तो कम से कम उस समाज का तो मैं आज से अवश्य ही कट्टर शत्रु बन गया हूँ, जिसमें मनुष्य की खाल ओढ़े हुए ऐसे-ऐसे राक्षस रहते हैं। उफ़ ! ब्राह्मण कहलाने वाले धर्म के ठेकेदारों का यह नारकीय व्यापार !! सच कहता हूँ सदया ! आज मैं आपे में नहीं हूँ।"

सदया अपने पति के चेहरे का रङ्ग देख कर काँप उठी ! ऐसी विकलता, ऐसी हिंसक ज्वाला उसने करुणाकर बाबू के मुख-मण्डल पर कभी नहीं देखी थी। उसने डरती हुई वाणी में फिर पूछा—असली बात तो तुम बताते ही नहीं, फिर मैं क्या जानूँ तुम्हारा मतलब क्या है ? न जाने आप ही आप क्या बके जा रहे हो ?

इस बार करुणाकर बाबू ने सदया की ओर करवट बदलते हुए कहा—अपनी नयना बेटी की कहानी में 'सरयू पाँड़े' का चरित्र तुम्हें कैसा जँचा ?

"उफ ! वह तो आदमी नहीं, राक्षस है !"

"मगर मैं जिसकी करतूत देख आया हूँ, वह इससे भी बढ़ कर भयङ्कर है। जानती हो पण्डित धर्मपाल चौबे को? नाम तो ज़रूर सुना होगा?"

"हाँ-हाँ, वही न जो कथा कहते फिरते हैं?"

"हाँ, वही कथावाचक जी। उफ़! उसे देख कर कौन कहेगा कि यह एक भयङ्कर भेड़िया है?"

"सचमुच वह आदमी तो बड़ा ही विनयी, मधुरभाषी और धर्म-परायण मालूम होता था।"

"उसके विनयी होने की बात तो सारे प्रान्त में मशहूर है। एक छोटे से बच्चे से भी मिलेगा, तो उसे 'नाथ' और 'देव' ही कह कर पुकारेगा—चरणों पर सिर रख देना तो उसकी मामूली आदत है। मैं भी एक दिन उस पर बड़ा मोहित हो गया था। उसकी बातें कितनी मीठी होती हैं?"

सदया निस्तब्ध थी। दो-चार मिनिट के लिए एक दिन वह भी उसके 'कथा-मण्डप' में जा बैठी थी। उस दिन उसने धर्म और सत्य की कैसी मार्मिक व्याख्या की थी? सैकड़ों आदमी बैठे हुए थे और इस तरह कि जैसे किसी ने उनके ऊपर जादू फेंक दिया हो! कथा कहते-कहते जब वह गो-भक्ति के प्रसङ्ग पर पहुँचा, उस समय उसकी वाणी कितनी सतेज हो उठी थी। सब के सब भक्ति-विह्वल होकर रो पड़े थे। स्वयं सदया भी रो पड़ी थी और उसी तरह रोती

हुई वह मण्डप से बाहर निकल आई थी। उस दिन उसके हृदय में जिस धर्मपाल की साधुता का प्रवेश हुआ था, आज उसी की नीचता उसके विश्वास-मन्दिर में घुस ही नहीं रही थी। वह हैरान थी कि देव-स्वभाव दिखलाने वाला वह धर्म का पुजारी राक्षसीय वृत्ति के कीचड़ में कैसे फँसा रह सकता है ! बेचारी चुपचाप कभी नयना की ओर देखती तो कभी करुणाकर बाबू की ओर, मानो उसकी कोई चीज़ खो गई हो।

नयना ने एक लम्बी साँस खींच कर कहा—तुम सोच क्या रही हो माँ ? जानती नहीं हो कि प्रवीण पापियों में भी एक प्रकार का आकर्षण होता है ? वे जिस खूबी के साथ अपने असली रूपों को ढँकना जानते हैं, उसी खूबी के साथ लोगों के हृदय पर अपना अधिकार जमाना भी। मगर पारखी उन्हें तुरन्त पहचान लेते हैं।

"ठीक कहती हो बेटी ! इस तरह के कोई-कोई आदमी बड़े ही मोहक होते हैं—यह पापी धर्मपाल चौबे भी ऐसा ही है। उफ़ !....."

इतना कह कर करुणाकर बाबू ने एक बार फिर बेचैन होकर करवट बदल ली !

सदया ने काँपती हुई आवाज़ में पूछा—क्या हुआ ?

"उस राक्षस ने रात में अपनी एक सोलह वर्ष की

विधवा पतोहू को घर में जला कर मार डाला ! उस अबला के हाथ-पाँव बाँध दिए, मुँह में कपड़े ठूँस दिए, और मिट्टी का तेल छिड़क कर दियासलाई फूँक दी ! आह, वह किस तरह तड़प-तड़प कर मरी होगी !!"—कहते हुए कलक्टर साहब की आँखों से आँसू बरसने लगे। नयना वहाँ बैठी न रह सकी। सदया रो पड़ी।

करुणाकर बाबू ने फिर कहना शुरू किया—यही नहीं, उसने इसके साथ चालाकी भी की। उसकी स्त्री को रात में सूझता ही नहीं। उसे वह शाम ही को कह गया कि मैं गया जा रहा हूँ, और पहर रात में आकर चुपके से अपना काम बना कर भाग गया। मैंने गया के कलक्टर को तार दिया है कि अगर वह वहाँ हो तो उसे फ़ौरन गिरफ्तार करके यहाँ भेज दीजिए।

सदया ने पूछा—मगर तुम्हें सबूत मिल गया ?

"सब से बड़ा सबूत तो उसकी स्त्री का बयान है।"

"उसने सब बातें बता दी हैं ?"

"वह बेचारी गौ की तरह सीधी है। उस पापी से वह भी तङ्ग आ गई है। ऐसी-ऐसी बातें उसने बताई हैं कि कहते भी शर्म आती है। देखते ही मेरे पैरों पर गिर पड़ी और फूट-फूट कर रोने लगी। बोली—उस जन्म में मुझसे कोई चूक हो गई होगी सरकार ! तभी तो इस पिशाच के पाले पड़ी।

दो बेटे थे, उन्हें भी इसने घुला-घुला कर मार डाला। रुपए के लोभ में दिन-रात न जाने यह कैसे-कैसे अपकर्म करता रहता है! मैं तो डर के मारे भीगी बिल्ली बनी रहती हूँ सरकार! मगर अब मुझे भी अपने प्राणों की परवाह नहीं है। इस दुनिया में रह कर अब मैं क्या करूँगी? मरना ही है तो आपके आगे दिल खोल कर सारी बातें रख दूँगी। वह पापी रुपयों के लोभ से हमारे घर को व्यभिचार का अड्डा बनाना चाहता था। मेरी बड़ी पतोहू बड़ी गुन-वन्ती थी—उसकी गोद में एक बच्चा भी था। उस पर भी इस ज़ालिम ने न जाने कैसे-कैसे ज़ुल्म किए! वह बेचारी न जाने अपनी पत बचाने को कहाँ डूब मरी। एक यह बच रही थी। यह भी उसी की छोटी बहिन थी। एक ही घर में दोनों बेटों का विवाह हुआ था सरकार! बड़े-बड़े अरमान थे। इस पापी के मारे एक भी पूरा न हुआ। इस पतोहू के पीछे भी वह इधर बहुत दिनों से पड़ा हुआ था सरकार! मैं किससे क्या कहती? चारों ओर तो उसी के दोस्त नज़र आते थे। अपनी क़िस्मत के नाम पर चुपचाप रोती रही। आख़िर वही हुआ, जो होना था। कल मेरा घर सूना हो गया।"

सदया इस तरह काँप रही थी जैसे झञ्झा के झोकों में पड़ कर बेत की लता। उसने फिर पूछा—तो क्या उसने

यह भी कह दिया कि धर्मपाल ही ने उसकी पतोहू को जला कर मार डाला है ?

"उसने कहा कि उसे रात में दिखाई तो पड़ता नहीं, मगर उसका विश्वास है कि उसके सिवाय और किसी ने यह काम नहीं किया, क्योंकि इधर तीन-चार दिनों से वह उसे खूब डरा-धमका रहा था।"

"मुहल्ले वालों ने भी कुछ कहा ?"

"हाँ-हाँ, उनमें से भी कितने ही लोगों ने यही बताया कि वह उससे बुरा काम कराना चाहता था और चाहता था कि उससे रुपए कमाए !"

"बस करो, अब तो मेरी नसों में भी आग लग रही है। सुनते भी लाज आ जाती है ! बाप रे बाप !! वह इतना भयङ्कर राक्षस है ?"—कह कर सदया खड़ी ही हुई थी कि बाहर से आवाज आई—हुजूर, एक तार आया है।

करुणाकर बाबू ने उठ कर तार ले लिया और उसे खोल कर पढ़ते हुए बोले—सदया ! देखो वह पापी गया से गिरफ़्तार होकर आ रहा है।

सदया वहाँ खड़ी न रह सकी। सीधे अपने कमरे में चली गई। वहाँ पहुँचते ही देखा, नयना बच्चे को गोद में लेकर चुपचाप रो रही है।

सद्या ने उसके कपोलों पर हाथ फेरते हुए पूछा—तुम इस तरह रो क्यों रही हो बेटी ?

"बाबू जी की बातें सुन कर मेरा दिल भर आया है माँ ! हमारा समाज, समाज नहीं—वीभत्स नरक हो रहा है ! उसके नाम पर कोई रोए नहीं तो और करे क्या ?"

सद्या ने कहा—जाने दे बेटी, हमारे-तुम्हारे रोने से ही हो क्या सकता है ? चलो, बाबू जी के लिए नाश्ता तैयार करें।

५६

पं० धर्मपाल चौबे दौरा सिपुर्द कर दिए गए। करुणाकर बाबू के मित्र देवधर जी के इजलास में वह मुक़द्मा भेज दिया गया।

करुणाकर बाबू खा-पीकर कचहरी जाने लगे तो सद्या ने पूछा—आज ही चौबे जी का फ़ैसला सुनाया जायगा ?

करुणाकर बाबू ने कहा—हाँ, अगर इच्छा हो तो चली आना। आज तो सारे शहर के लोग अदालत में खचाखच भरे रहेंगे। देवधर जी की स्त्री भी जायँगी—तुम लोगों के लिए ख़ास इन्तज़ाम रहेगा।

"तब तो मैं जरूर चलूँगी, नयना भी चलेगी।"

"अच्छी बात है"—कह कर करुणाकर बाबू चले गए।

६

अदालत के कमरे में तिल रखने की भी जगह न थी। चौबे जी के हाथ-पाँव लोहे की मजबूत जञ्जीरों से जकड़े हुए थे। सभी लोग धिक्कार-भरी आँखों से उनकी ओर देख रहे थे। उनका सिर झुका हुआ था। वही धर्मपाल, जो आज से सप्ताह भर पहले भोली-भाली दुनिया का देवता बना हुआ था, आज पहले-पहल और अन्त समय में लोगों के सामने अपना असली रूप लेकर, मुँह काला किए, चुपचाप खड़ा था। उसे देख कर क्रोध भी आ रहा था और दया भी आ जाती थी। इस समय वह कितनी दारुण परिस्थिति में था? वहाँ कितने ही ऐसे लोग भी थे, जिन्होंने एक बार नहीं, अनेक बार चौबे जी के पैरों पर अपनी पगड़ी रख कर अपने माथे मे उनके चरणों की धूल लगा कर, उनके प्रति अपने सम्मान के जीते-जागते भाव प्रदर्शित किए थे। मगर इस समय उनकी क्या दशा हो रही थी? अपने छली देवता का असली रूप देख कर उनके मन में कैसी खलबली मच रही थी।

न्याय-पति ने पूछा—बोलो धर्मपाल! अपना अपराध स्वीकार करते हो?

"सच कहता हूँ सरकार! मेरे अङ्ग-अङ्ग में कोढ़ फूटे, अगर मैंने ऐसा नीच काम किया हो। भगवान् जानते हैं सरकार!"—कह कर चौबे जी रो पड़े।

"तो क्या तुम्हारी स्त्री का बयान भी झूठा है ?"

"हाँ सरकार ! डर के मारे इसके होश-हवास ठिकाने नहीं हैं !"

"और गवाहों की भी सब बातें झूठी हैं ?"

"हाँ हुजूर !"

इसी समय बगल वाला पर्दा फाड़ कर एक युवती न्याय-मञ्च पर कूद पड़ी और कड़कती हुई बोल उठी—और मैं भी झूठी हूँ—मैं ? पहचानते हो या भूल गए ?

इस कड़कती हुई आवाज़ से सारा कमरा गूँज उठा। सब के सब सहम उठे। अभियुक्त थर-थर काँपने लगा !

युवती काली की तरह विकराल रूप धारण करके कहने लगी—नराधम ! मैंने तुम्हे उसी दिन कह दिया था कि एक न एक दिन तुम्हारे पाप का घड़ा फूटेगा और तुम उसीमे बह जाओगे। आज मेरी बात सच हुई। हाय रे चाण्डाल ! तुमने मेरे ऊपर कौन-कौन से अत्याचार नहीं किए ? मेरे धर्म-पिता होकर—ससुर कहला कर—भी तुम्हें मेरे ऊपर बुरी निगाह डालते लाज न आई ? पतिदेव के मरते ही तुम इस तरह मेरे पीछे पड़ गए कि कुछ ही महीनों के भीतर मुझे तुम्हारे घर से भाग जाना पड़ा। यदि मेरी गोद में मेरा लाल न होता—मेरे पति का दिया हुआ वह प्यारा उपहार न होता—तो मैं आज फिर तुम्हारा मुँह देखने

को जीती न रहती—कहीं जाकर डूब मरी होती। मगर मुझे तो अपनी आँखों से तुम्हें इस पाप-पारावार में बहते हुए देखना था। तुम्हारी यह दशा देख कर आज मेरी सारी जलन मिट गई। हाय! तुमने मेरी बहिन को भी जला कर मार डाला और आज निर्लज्जता के साथ भगवान् की दुहाई देकर अपराध-मुक्त बनना चाहते हो?

वह एक ही साँस में सारी बातें कह गई। सब लोग पत्थर की प्रतिमा बन गए। चौबे जी अब भी उसकी ओर भय-विह्वल दृष्टि से देख कर काँप रहे थे।

युवती जरा और भी अभियुक्त के पास खिसक गई और उसी तरह डपट कर बोली—तुम मुझे पहचानते हो?

चौबे जी की सिट्टी गुम हो गई थी। हड़बड़ा कर बोल उठे—हाँ, तुम मेरी बड़ी बहू हो।

"स्वीकार करते हो कि तुमने मेरे ऊपर नारकीय अत्याचार किए थे?"

"हाँ।"

"स्वीकार करते हो कि तुम्हारे ही कारण मैं घर से भाग गई थी?"

"हाँ।"

"स्वीकार करते हो कि अपनी स्त्री के साथ भी तुम्हारा व्यवहार अच्छा नहीं है?"

"हाँ।"

"तब यह भी स्वीकार करते हो कि तुम्हींने मेरी बहिन—अपनी छोटी बहू को जला कर मार डाला है ?"

चौबे जी बेतरह घबड़ा उठे थे। इस बार भी उनके मुँह से निकल गया—हाँ !

युवती तुरन्त न्याय-पति की ओर मुँह फेर कर बोली—लीजिए हुजूर! अपराधी अपना अपराध स्वीकार करता है—इसके एक नहीं, अनेक अपराध हैं।

इसके बाद ही वह फिर अपराधी की ओर फिरी और उसी तरह कड़क कर बोली—बस, एक-एक कर तुमने अपने सारे अपराध कुबूल कर लिए। अब इसके दण्ड का भार भी तुम्हीं को उठाना पड़ेगा। पापिष्ट! आज तुम्हारे सिर पर अबला का अभिशाप मँडरा रहा है। मैं आँचर पसार कर भगवान् से यही भीख माँगती हूँ कि वह तुम्हें जन्म-जन्मान्तर तक नरक का कीड़ा बना कर रक्खें—तुम इसी के पात्र हो !

युवती तेजी के साथ मञ्च पर से उतर कर फिर उसी पर्दे के भीतर घुस गई। लोग चकित रह गए ! चौबे जी डर के मारे इस तरह काँप रहे थे, जैसे ठण्ढ लग गई हो !

न्याय-पति ने पूछा—स्वीकार करते हो न ?

अपराधी ने कहा—हाँ !

न्याय-पति ने क्रोध से ओठ दबाते हुए कहा—तो लो,

अपना पुरस्कार भी ले लो। मैं तुम्हें फाँसी की सज़ा देना चाहता था, मगर तुम्हारे जैसे पापी को इतनी सुगमता से मृत्यु नहीं मिलनी चाहिए। जो नयना जैसी देवी के ऊपर भी पाशविक अत्याचार कर सकता है; एक अबला को आग में जला कर मार सकता है; रुपयों के लिए नीच से नीच वृत्ति करते भी नहीं लजाता; उसका उपयुक्त दण्ड यही है कि वह आजन्म कालेपानी में रह कर अपने कुकर्मों का फल भोगे। जाओ, तुम्हें फाँसी नहीं—आजीवन काले-पानी की सज़ा देता हूँ।

कचहरी बरखास्त हो गई! सभी लोग वहाँ से चल दिए। सहसा नयना दौड़ कर कटहरे पर चढ़ गई। वहीं उसकी सास अचेत पड़ी थी! सदया, देवधर जी की स्त्री तथा स्वयं करुणा-कर बाबू और देवधर जी भी वहाँ पहुँच गए। सबने मिल कर उस बेहोश स्त्री को उठा कर गाड़ी में बैठा दिया।

करुणाकर बाबू की कोठी में पहुँचते ही नयना की सास होश में आ गई। स्वस्थ होकर जब उसने अपनी पतोहू को पहचाना तब तो बुक्का फाड़ कर रोने लगी। नयना भी उसके चरणों पर माथा रख कर रो रही थी! रो चुकने के बाद सास ने पूछा—वह बच्चा क्या हुआ बेटी?

सदया बच्चे को गोद में लिए पास ही खड़ी थी। नयना ने एक बार उसकी ओर देख भर लिया और अञ्चल से

मुँह ढाँप कर फिर रोना शुरू कर दिया। आज उसे रोने ही में सुख मिल रहा था।

सदया सब बातें समझ गई थी। वह बड़े उल्लास से उसकी गोद में बच्चे को सौंपती हुई स्नेह-कातर होकर कहने लगी—तूने आज तक ये बातें मुझसे कही क्यों नहीं बेटी? एक बार बाबू जी के कानों में सारी बातें पहुँच जातीं, तो उस बेचारी को जल कर प्राण नहीं गँवाने पड़ते।

नयना ने आँसू पोंछते हुए कहा—वह जलाई न जाती, तो पाप का घड़ा फूटता कैसे, माँ? और मेरा अभिशाप कैसे फूलता-फलता?

इसी समय करुणाकर बाबू भी आ गए। वे बड़े ही प्रसन्न थे। नयना के सिर पर हाथ फेरते हुए स्नेह-गद्गद होकर बोले—तूने हम दोनों प्राणियों को निहाल कर दिया, बेटी! ईश्वर तेरी प्रतिभा और तेजस्विता की उत्तरोत्तर वृद्धि करे। तेरे अभिशापों में वह शक्ति आए, जिसे देखते ही पापियों की आत्मा काँप उठे।

नयना सब कुछ भूल कर करुणाकर बाबू के पैरों पर लोट गई और रोती हुई बोली—अकारण ही दिन-रात निष्ठुरता-पूर्वक सताई जाने वाली अबला के अभिशाप में ईश्वरीय कोप रहता है, बाबू जी!!

दास् की कुटिया

दासू की कुटिया

वैसी काली साड़ी अगहन की किसी भी रजनी ने न पहनी होगी। काजल की कालिमा भी उसे देख कर लजा रही थी। पानी कहता था, आज छोड़ कर कल नहीं बरसूँगा। बिजली कहती थी, कड़कना ही है तो आगे की प्रतीक्षा में व्यर्थ क्यों बैठी रहूँ? हवा के एकाएक उन्मत्त झोंके में न जाने कितनी कटारियाँ खनखना रही थीं! उनकी धार इतनी पैनी थी कि शरीर की हड्डियों का बचाव भी असम्भव-सा हो रहा था। रह-रह कर प्रकृति अपनी निर्दयता की माया बढ़ाए जा रही थी। जीव-जन्तु सङ्कट के मारे मरे जा रहे थे। चारों ओर प्रलय का साम्राज्य छाया हुआ था। इसी समय लाला गोपीचन्द अपने बड़े बेटे अमोलचन्द के साथ एक मोटर पर बड़े वेग से भागे जा रहे थे। साथ में और कोई नहीं था। वे खुद ही गाड़ी हाँक रहे थे। सहसा मोटर में एक बड़ी भयानक आवाज़ हुई और देखते ही देखते वह इन दोनों को लिए हुए सड़क के नीचे नाली में जा गिरी।

दासू की कुटिया वहाँ से दूर नहीं थी। अपने बूढ़े बाप को सुला कर वह चुपचाप रामायण पढ़ रहा था। आवाज़ सुनते ही उसने एक बार सड़क की ओर झाँक कर देखा। अब उसके लिए चुपचाप बैठे रहना असम्भव था। बड़ी तेज़ी के साथ वह घटना-स्थल की ओर चल दिया। वहाँ पहुँचते ही वह साहस-भरी वाणी में चिल्ला उठा—अब घबराने की कोई ज़रूरत नहीं, मैं आ गया हूँ।

अमोलचन्द सँभल कर खड़ा हो चुका था, मगर उसके बाप अभी तक कीचड़ से बाहर नहीं निकल सके थे। वह बेतरह काँप रहा था। उसे पूरा विश्वास हो गया था कि लूटने-पीटने की ग़रज़ से डाकुओं ने ही मेरी गाड़ी उलट दी है, और अब किसी तरह भी हमारे प्राण नहीं बचेंगे। दासू की बोली सुन कर उसकी धारणा और भी पक्की हो गई। उसने काँपते हुए हाथों से 'टॉर्च-लाइट' का बटन दबा दिया। प्रकाश होते ही उसने देखा, सामने एक सोलह-सत्रह वर्ष का हृष्ट-पुष्ट युवक खड़ा था। उसका रङ्ग गोरा, चेहरा भरा हुआ और आँखें करुणा के रस में डूबी हुई थीं। उसे देखते ही अमोल की सारी धारणा दूर हो गई। वह समझ गया कि युवक कोई चोर या डाकू नहीं है। हिम्मत करके बोला—भाई, मेरे बाबू जी को कीचड़ से बाहर निकाल दो, बड़ा उपकार मानूँगा।

अमोल भी दासू की ही अवस्था का एक हृष्ट-पुष्ट शरीर वाला युवक था। मगर वह इस समय बहुत घबड़ा गया था। दासू ने कहा—आप मुझे रोशनी दिखाते रहिए, मैं उन्हें निकाल लेता हूँ। कहने के साथ ही वह नाली में कूद पड़ा और खींच कर गोपीचन्द को बाहर ले आया। वे बेहोश होकर कीचड़ में गड़-से गए थे। उनके सिर से खून भी बह रहा था। शायद मोटर से गिरते समय किसी चीज़ की गहरी चोट लग गई थी। अमोल अपने बाप की वह दशा देख कर रो पड़ा। उसके पास धैर्य और साहस नहीं रह गया था।

दासू ने दिलेरी के साथ कहा—छिः! मेरे रहते आप रो क्यों रहे हैं बाबू जी, इनको हुआ ही क्या है? अभी-अभी ये होश में आ जाते हैं। चलिए, आप मेरे साथ चलिए। इतना कह कर उसने गोपीचन्द को अपने कन्धे पर उठा लिया। वे शरीर से ज़रा दुबले-पतले थे, इसीलिए कोई दिक़्क़त नहीं हुई। अमोलचन्द ने घबड़ा कर पूछा—इन्हें कहाँ ले चलना होगा?

"आप रोशनी दिखाते हुए चुपचाप मेरे साथ चलिए। पास ही मेरा घर है।"—कह कर दासू आगे बढ़ गया। अमोल भय, आशङ्का और अशान्ति के धक्के खाता हुआ चुपचाप उसके पीछे-पीछे जा रहा था।

अमरूद और नींबू के उस बगीचे में दो बड़ी-बड़ी बहुत ही साफ़ और सुन्दर झोंपड़ियाँ थीं। गन्दगी का उनमें कहीं नाम नहीं था। जाते ही दासू ने एक झोपड़ी में उन दोनों—बाप-बेटे के विश्राम की पूरी-पूरी व्यवस्था कर दी। सब से पहले उन दोनों ने मिल कर लाला गोपीचन्द की बेहोशी दूर की। दासू ने उनके घाव पर मरहम-पट्टी बाँध दी। उसके बाद अमोल का चमड़े वाला बेग देख कर वह बोला—भैया जी, इसमें अगर कपड़े-लत्ते हों, तो आप लोग अपने गीले कपड़े उतार दें—न हों तो मुझे हुकुम दें, मैं ही उस झोपड़ी से दो चिथड़े ले आऊँ।

अमोल उसकी सहृदयता और सेवा पर लट्टू होकर बोला—कपड़े मेरे पास हैं। कहीं से थोड़ी सी आग नहीं मिल सकेगी? बाबू जी को बहुत सर्दी लग रही है।

"आप लोग कपड़े बदल लें, मैं अभी आग सुलगा देता हूँ"—कह कर वह पास वाली दूसरी झोपड़ी में चला गया। वहीं उसका बूढ़ा बाप सो रहा था। उसकी खाट के नीचे लोहे की दमकल में आग भरी हुई थी। उससे थोड़ी सी आग निकाल कर उसने दूसरी दो दमकलों में रख ली और ऊपर से बहुत सा कोयला डाल कर उन्हें अमोल के पास ले आया। लाला गोपीचन्द के मुँह से कोई बात नहीं निकल रही थी। वे निश्चेष्ट होकर पड़े थे।

दासू ने बड़ी नम्रता से कहा—भैया जी, अब आप भी आराम कीजिए, बाबू जी की सेवा-टहल में कोई कमी नहीं पड़ने पाएगी।

अब पानी का बरसना भी बन्द हो चुका था। आकाश मे इधर-उधर तारे दिखाई देने लगे। खाट पर गिरते ही दोनों को गाढ़ी नींद आ गई। मगर दासू रात भर नहीं सोया। बहुत रात तक तो वह दोनों के पैर ही दबाता रहा। उसके बाद बीच-बीच में उसे कई बार उठ कर दमकल में कोयले डालने पड़े। कभी-कभी वह अपने बाप को भी देख आता था।

जब अमोल की आँखें खुलीं तो सूरज निकल आया था। रात वाली घटना वह भूल सा गया था। अपने को उस अजनबी जगह में पाकर वह चौंक कर उठ बैठा। दासू वहीं बैठा-बैठा रामायण पढ़ रहा था। उसे देखते ही अमोल को सारी बातें याद हो आई। उसकी आँखो में कृतज्ञता के आँसू उमड़ आए। एक बार उन्हीं आँखों से उसने अपने बाप की ओर ताका। वे अभी तक आराम की नींद सो रहे थे। अमोल ने उन्हें जगाना उचित नहीं समझा। वह चुपचाप अपनी खाट से उतर कर दासू के पास आ बैठा। वह रामायण में ऐसा तल्लीन हो गया था कि उसे कुछ मालूम न हो सका। कृतज्ञता के भार से दबा हुआ मस्तक उसके कन्धे पर झुक

गया। उसने चौंक कर देखा—वह उसका तरुण अतिथि था। दासू की आँखें भी छलछला आईं। रुँधे हुए स्वर में वह बोला—जाग गए भैया जी ! अच्छा चलिए, देखें तो मोटर की क्या हालत है ?

उत्तर की प्रतीक्षा किए बिना ही वह उठ कर खड़ा हो गया। दोनों सड़क की ओर चल पड़े। वहाँ जाकर देखा—मोटर में कुछ हुआ नहीं था, सिर्फ एक चक्के का टायर फट गया था। गाड़ी के पीछे एक दूसरा चक्का बँधा हुआ था। अमोल को मोटर के सभी कल-पुर्जे मालूम थे। उसने दासू की मदद पाकर बड़ी आसानी से गाड़ी दुरुस्त कर ली। अब उसकी प्रसन्नता का ठिकाना नहीं था। दोनों लौट कर झोपड़ी में पहुँचे तो देखा, लाला जी उठ कर बगीचे में टहल रहे हैं। अमोल ने हाथ में बेग लेकर कहा—बाबू जी, गाड़ी ठीक हो गई, चलिए अब घर चला जाय।

दासू की सेवा पर लाला जी मुग्ध हो गए थे। वे उसके उपकार का बदला चुकाना चाहते थे। उसकी ओर कृतज्ञता-भरी दृष्टि डाल कर अपने बेटे से उन्होंने कहा—इसने रात को हम लोगों की जान बचाई है, बेटा ! इसे कुछ देना चाहिए न ?

दासू लाज के मारे धरती में गड़ गया। क्या कुछ पाने के लिए ही उसने उनकी रक्षा की थी ? कर्त्तव्य-पालन का

पुरस्कार भी क्या ऐसा ही हुआ करता है? उधर अपने बाप की यह ओछी सहृदयता देख कर अमोल कट-सा गया। लज्जा और रोष के भावों को बलपूर्वक दबाता हुआ वह बोला—देना तो चाहिए जरूर, लेकिन उसे देने योग्य हमारे पास है ही क्या ?

"क्यों ? उन रुपयों में से दस रुपए निकाल कर दे न दो ! या जी चाहे, दो-चार और दे दो।"—लाला जी ने बड़े उत्साह से उत्तर दिया।

अमोल की आँखों में आँसू उमड़ आए। उसने उन्हीं आँखों से एक बार लज्जा में गड़े हुए दासू की ओर देखा और फिर अपने पिता की ओर मुँह करके कहा—मुझसे ऐसा न हो सकेगा बाबू जी ! चाँदी और सोने के इन टुकड़ों से मैं उसके हृदय का मूल्य नहीं चुका सकूँगा। आपकी इच्छा हो तो ऐसा करने की चेष्टा कीजिए ; लीजिए, इसी बेग में रुपए हैं।

लाला गोपीचन्द ने समझा कि दस-पन्द्रह रुपए देने की बात सुन कर लड़का रूठ गया है। इतनी कम रक़म देने में शायद वह अपना अपमान समझ रहा है। बचपन से अमोल की यह आदत थी। दान के समय वह अधिक से अधिक रुपए लुटाना चाहता था। इस काम में अगर उसके पिता उसे ज़रा भी रोकते तो वह बेतरह मचल जाता,

यहाँ तक कि खाना-पीना छोड़ बैठता। उसकी इस आदत ने लाला गोपीचन्द में भी उदारता की सृष्टि कर दी थी। वे भी दूसरे को देने में कुछ-कुछ सुख का अनुभव करने लग गए थे। इस समय भी उन्होंने वही समझा। बेग में पचास रुपए की एक थैली थी। उसे निकाला और दासू के हाथों पर रख दिया। दासू सिर से पैर तक काँप उठा! थैली उसके हाथों से नीचे गिर पड़ी। उसने उठा कर लाला जी के पैरों पर रख दी और हाथ जोड़ कर कहा—बाबू जी! जब आपने दे दी तो यह थैली मेरी हो चुकी। अब इस पर मेरा ही अधिकार है। मैं इसे आपके चरणों पर चढ़ा रहा हूँ। मेरी पूजा मान कर ही इसे आपको उठाना पड़ेगा।

लाला जी इसके उत्तर में कुछ नहीं बोल सके। उनकी आँखों में भी आँसू उमड़ आए। अमोल ने कहा—बाबू जी! यह थैली देख कर मैं लाज के मारे मरा जा रहा हूँ। इसे आप उठा लीजिए, नहीं ता मैं फेंक दूँगा।

गोपीचन्द को अपने बेटे का स्वभाव मालूम था। चटपट उन्होंने थैली उठा कर बेग के भीतर रख दी।

अमोल अपनी आँखों में कृतज्ञता और प्रेम का पानी भर कर दासू से सट कर खड़ा हो गया। दासू के रोम-रोम से अपनेपन का भाव टपक रहा था। गीले स्वर में वह बोला—भैया जी! अब देर न कीजिए। बहुत दिन चढ़ आया।

अमोल ने उसके दोनों हाथ पकड़ लिए। इस समय वह पागल हो रहा था। सब-कुछ भूल कर उसने उन हाथों को चूम लिया—हाँ, सचमुच चूम लिया। अब दासू की अञ्जलि अमोल के अश्रु-मुक्ताओं से भर गई थी। इस समय दुनिया में उससे बढ़ कर वैभवशाली कौन था? हृदय की सारी निधियाँ उसके हाथों पर नाच रही थीं।

२

इस घटना को बीते अभी पन्द्रह दिन भी नहीं हुए थे कि अमोल एक दिन सन्ध्या-समय दासू की कुटिया में पहुँचा। देखा तो वह बेचारा बुखार के मारे तड़प रहा था, उसके पास कोई नहीं था। अमोल के देखते ही उसने बड़ी दीनता से कहा—थोड़ा पानी......!

अमोल दौड़ कर कुएँ से पानी भर लाया। पानी पी चुकने के बाद उसकी तबीयत जरा ठिकाने आई। उसने आवाज सँभालते हुए बड़े कष्ट से पूछा—आप अच्छी तरह तो हैं न, भैया जी? इस समय कहाँ से आ रहे हैं? बाबू जी साथ में नहीं हैं?

अमोल ने उसके सिर पर हाथ फेरते हुए कहा—हाँ भाई! मैं बहुत अच्छी तरह हूँ। शहर से लौटा जा रहा था, जी में आया जरा तुमसे मिलता चलूँ। बाबू जी तो नहीं हैं, साथ में एक नौकर है। उसे मोटर में छोड़ आया

हूँ। मगर यह तो बताओ भाई, तुम यहाँ अकेले किस तरह रहते हो ? तुम्हारे और कोई नहीं है ?

अन्तिम प्रश्न सुनते ही दासू की आँखें भर आईं। उसने रोती हुई आवाज़ में उत्तर दिया—अभी दस ही दिन तो हुए हैं—आप लोगों के यहाँ से जाने के तीन-चार दिन बाद, मेरे बूढ़े बाप मुझे अकेला छोड़ कर चल बसे। इसी तरह का बुख़ार आया और उन्हें भगा कर ले गया। अब मेरी बारी है।

"पागल तो नहीं हो गए हो ?"—कहते हुए अमोल ने अपने रूमाल से उसके आँसू पोंछ लिए और फिर कहा—"तुम्हें अब मैं इस बग़ीचे में अकेला न रहने दूँगा। चलो, मेरे घर चलना पड़ेगा।"

"नहीं भैया जी ! मैं यह जगह छोड़ कर कहीं नहीं जा सकूँगा। आप मुझे माफ़ करें"—कहते हुए दासू ने अमोल का हाथ पकड़ लिया।

"यह न होगा भाई"—कह कर अमोल ने उसे खींच कर अपनी छाती से लगा लिया। अब वह उसी का क़ैदी था। गोद में उठा कर वह उसे अपनी मोटर की ओर ले भागा। दासू की आँखें आँसू बरसा रही थीं, मगर वाणी मूक थी। उसकी वैभवहीन काया के भीतर तरह-तरह की भावनाओं का सङ्घर्ष हो रहा था। वह ग़रीब इस सङ्घर्ष

की निर्दय चोटों को छिपा न सका। मोटर तक पहुँचते-पहुँचते उसके मुँह से निकल गया—भैया जी! आप नहीं जानते, आप क्या कर रहे हैं?

"जानता हूँ"—कह कर अमोल ने उसे गाड़ी मे लिटा दिया।

"क्या जानते हैं?"

"यही कि अपने भाई को थोड़ा-बहुत सुख पहुँचाने के लिए उसे घर लिवा जा रहा हूँ!"

"मगर मैं तो........."

"क्या? तुम क्या.........?"

"मैं तो चमार हूँ।"

"पहले मेरे भाई हो, पीछे कुछ और!"

"मगर क्या आप पहले से जानते थे?"

"हाँ, इसके पहले ही मुझे मालूम हो गया था।"

"तो जान-बूझ कर आप ऐसा क्यों कर रहे हैं?"

"मुझे इसमे सुख मिल रहा है। मैं इस समय वह चीज पा गया हूँ, जो सबको इतने सस्ते दामो मे नहीं मिलती है।"

"मेरा हृदय काँप रहा है। मैं इतने बड़े भाग्य का अधिकारी नहीं हूँ। हाथ जोड़ता हूँ, मुझे मेरी कुटिया मे रख आइए।"—कह कर दालू पागलों की तरह उठ बैठा।

अमोल ने उसे अपनी भुजाओं में कस लिया और आँखों में अपनी सारी सहृदयता के भाव भर कर स्नेह-विह्वल स्वर में कहा—तुम मेरे ऊपर विश्वास नहीं करते दासू? तुम इतनी घबड़ाहट क्यों दिखा रहे हो? तुम्हारे लिए मैं सब-कुछ सहने को तैयार हूँ। अब किसी तरह भी तुम्हें छोड़ न सकूँगा।

इस बार दासू कुछ न बोल सका। चुपचाप लेट रहा। उसका सिर अमोल की गोदी में था।

नौकर आश्चर्य-चकित होकर अपने मालिक की करतूत देख रहा था। वह भीतर ही भीतर क्रोध की आग में जला भी जा रहा था। शायद कुछ कहना भी चाहता था, पर हिम्मत नहीं पड़ती थी। अमोल ने कहा—चलो!

मोटर हवा से बातें करने लगी!

२

लाला गोपीचन्द कट्टर सनातनी थे। उनकी धर्मनिष्ठा देख कर बड़े-बड़े ब्राह्मण और पण्डित भी दङ्ग रह जाते थे। दो घण्टे से कम में उनकी पूजा नहीं होती। हर महीने गङ्गा-स्नान को जरूर जाते! 'सुधार' और 'उद्धार' इन शब्दों को वे सुनना भी पसन्द नहीं करते थे। उनकी समझ से इन्हीं दोनों बातों के कारण धर्म रसातल को भागा जा रहा था—इन्हीं दोनों शब्दों ने हिन्दू-समाज का सारा तेज और बल नष्ट कर दिया था।

अमोल के घर पहुँचते ही उस नौकर ने चुपके से उनके कानो में कह दिया—सरकार! बड़े बचा अपने साथ एक चमार को लेकर आए हैं। जुल्म हो गया! उसके साथ रास्ते भर ऐसा बर्त्ताव करते आए है, जैसे वह कोई सगा हो। यहाँ तक सरकार! कि कई बार अपने मुँह को सटाने में भी उनको बुरा नहीं मालूम हुआ। मेरे शरीर में तो आग लग गई। मगर करता क्या? ससुरा सारी राह बचा जी की गोद मे सिर रख कर सोता आया है। एक मन तो करे कि फेंक दूँ उठा कर मोटर के नीचे........!

"तो फेक क्यों नहीं दिया, दोनों हरामजादे के बच्चो को?"—लाला जी क्रोध मे आग-बबूला होकर कहने लगे—"जानता कि एक ही बेटा है। ऐसे नास्तिक और अधर्मी बेटे को लेकर अब मैं कौन सा मुँह दिखाऊँगा? और वह चमरा ससुर है कहाँ?"

"उसे तो सरकार! बच्चा जी अपने बॅगले वाली कोठरी मे तोसक-तकिया लगा कर सुला आए हैं!"—उस नौकर को आग में ईंधन डालने का अच्छा मौका हाथ लगा।

"कोठरी ही में? ठाकुर जी के मन्दिर में ले जाकर नहीं सुलाया? अच्छा, अभी चल कर देखता हूँ कि......!"

"क्या देखिएगा बाबू जी?"—उनकी बात पूरी होने के पहले ही अमोल ने सामने पहुँच कर उन्हे प्रणाम किया।

"हटो, दूर हो सामने से। नीच, चाण्डाल, धर्मघाती! जाओ, सामने से हट जाओ! तुम्हारा मुँह देखना भी पाप है।" धर्म की कोमल भावनाएँ हृदय-हीनता की राक्षसी माया में लिपट कर इतनी क्रूर हो उठीं कि लाला गोपीचंन्द अपनी मनुष्यता से भी हाथ धो बैठे। अमोल बाप की रङ्गत देख कर सब बातें समझ गया। अपने क्रोध को छिपाते हुए बड़ी नम्रता से बोला—"मेरा अपराध बता कर गालियाँ बकते, तो शायद ये इतनी गन्दी न मालूम पड़तीं।"

"अब भी अपराध पूछने को खड़े हो?"—लाला जी बड़े जोर से अपना घूँसा तान कर उसकी ओर बढ़े। मगर इसी समय उस नौकर ने उन्हें पकड़ कर पीछे खींच लिया।

अमोल ने दृढ़ता से जवाब दिया—जी हाँ, अपराध ही पूछने को खड़ा हूँ।

"नीच! तुम मेरे सामने से हट जाओ, नहीं तो मैं आज वह काम कर बैठूँगा, जिसका तुम्हें गुमान भी न होगा।"—लाला जी ने काँपते हुए दाँत पीस कर कहा।

"सो तो मैं देख ही रहा हूँ। जो कुछ आपको नहीं करना चाहिए, उसका बहुत सा हिस्सा तो आप कर चुके। थोड़ा सा और भी बाक़ी है, वह भी धीरे-धीरे हो ही जायगा। मगर सच्ची बात तो यह है कि मैं बिना अपना अपराध जाने यहाँ से एक पग भी नहीं टलने का।" अमोल

के एक-एक शब्द से दृढ़ता टपक रही थी, अङ्ग-अङ्ग से यौवन-सुलभ क्रोध की आभा छिटक रही थी; मगर वह तपस्वी की तरह शान्त था।

"अपराध की बात तुम्हें मालूम नहीं है, क्यों ?"

"मालूम होती तो मै आपको कष्ट न देता।"

"और रास्ते भर किसे चूमते-चाटते आए हो ?"

अमोल ने क्रोध-भरी आँखो से अपने नौकर की ओर देखा और उसी तरह शान्त-भाव से जवाब दिया—चूमता-चाटता तो किसी को नहीं आया हूँ........!

"खैर, केवल गोद मे सुला कर ही सही। मगर वह है कौन, जिसे तुम ठाकुर जी के मन्दिर मे न रख कर, अपनी ही कोठरी में सुला आए हो ?"

इस व्यङ्ग में कितनी हृदय-हीनता थी, कितना रोष था, और कितने कड़वे अमानुषिक भाव भरे हुए थे! सुकुमार अमोल अपने बापू की इस निष्ठुरता का आघात अधिक देर तक नहीं सह सका। वह तड़प कर बोल उठा—तो क्या इसी बात के लिए आपने यह रूपक बाँधा है ?..

"जी हाँ, रूपक बाँधा है। तमाशा दिखाने का व्यवसाय जो किया करता हूँ !"—कह कर लाला जी ने अपने नौकर की ओर देख कर कहा—"देखते हो इस छोकरे को! कैसी बढ़-चढ़ कर बातें किए जा रहा है ?"

नौकर अमोल के भय से कुछ न बोला। अमोल ने फिर पूछा—मैं जानना चाहता हूँ कि मेरा अपराध इतना ही है या कुछ और ?

"इतना ही क्या कम है ? और क्या चाहते हो ?"

"मैं और कुछ नहीं चाहता। अब आप जो कुछ पूछें, उसी का जवाब देना चाहता हूँ !" अमोल सीना तान कर इस तरह खड़ा हो गया, जैसे कोई सैनिक हो। तरुण सैनिक की इस दृढ़ता ने उस बूढ़े लड़ाके का दिल दहला दिया। लाला जी ने उसी तरह आँखें खोल कर, किन्तु काँपती हुई आवाज़ में पूछा—वह कौन है ?

अमोल ने अपनी आँखों में गर्व की ज्योति फैला कर जवाब दिया—वह है मेरा भाई !

"मुझे केवल दो ही पुत्र हैं।"

"मगर वह आपके इन दोनों पुत्रों से कहीं बढ़ कर क़ीमती है।"

"मैं साफ़-साफ़ जानना चाहता हूँ, वह है कौन ?"

"वही, जिसने उस प्रलय-रात्रि में आपकी और मेरी जान बचाई थी। दासू का नाम याद है ?"

लाला जी ने स्वप्न में भी इस प्रकार के उत्तर की आशा न की थी। उस दिन उन्होंने समझा था, वह लड़का जाति का माली होगा। रात भर उसने उनकी जैसी सेवा की थी,

वह कभी भूलने वाली बात नहीं थी। उसकी सहृदयता, सज्जनता और सेवा का चित्र उनकी आँखों के सामने आ गया। साथ ही उनके आगे अँधेरा-सा छा गया। चौंक कर वे दो क़दम पीछे हट गए और बोले—वह कौन जात है ?

"यह प्रश्न आपको उसी समय पूछना चाहिए था, जब मौत के मुँह से लौट कर उसकी कुटिया में आपने अपनी आँखें खोली थीं।"

बेटे के मुँह से ये व्यङ्ग-भरी बातें सुन कर लाला जी तिलमिला उठे। पृथ्वी पर लात पटक कर बोले—मैं जो पूछ रहा हूँ, उसका जवाब दो।

"तो सुनिए, वह जात का चमार है।"

"और उसी चमार का उस दिन तुमने हाथ चूम लिया था ?"

"वह तो आपके सामने की ही बात थी।"

लाला जी माथा ठोंक कर धरती पर बैठ गए। उस लड़के की शक्ल-सूरत, उसके आचार-व्यवहार, उसके रामायण पढ़ने की भक्ति-भरी तल्लीनता, उसके रहन-सहन की सफ़ाई आदि को देख कर कोई उसे उस अभागे समुदाय का सदस्य नहीं कह सकता था, जिसे लाला गोपीचन्द जैसे धर्म के उपासक, मनुष्य समझना भी पाप समझा करते हैं। उन्होंने उसे सचमुच उस बग़ीचे का माली

समझ लिया था। उन्हें-उसकी झोपड़ी में जाकर प्राण बचाने का पछतावा नहीं था। आपत्ति में पड़ कर वैसा करना धर्म-विरुद्ध नहीं है—यह उनके शास्त्रों में लिखा हुआ था। अगर उन्हें दुःख था, तो यही कि वह अछूत आज उनके बेटे का भाई बन कर उनके घर में आ टिका था, और उनके धार्मिक वातावरण को अपनी साँसों से अपवित्र बना रहा था। इससे भी बढ़ कर चिन्ता की बात यह थी कि उस चमार के छोकरे से हिलमिल कर अमोल भी अस्पृश्य हो गया था। अब वे उसे अपने घर में कैसे रख सकेंगे ?

कहते हैं—जो किसी से नहीं हारता वह अपने बेटे या अपनी स्त्री से अवश्य हारता है। मगर लाला गोपीचन्द उन कच्चे खिलाड़ियों में नहीं थे। अगर उनकी स्त्री जीती रहती, तो शायद वे अमोलचन्द से हार कर चुपचाप एक किनारे जा बैठते। मगर आज अमोल का पक्ष लेने वाला कोई नहीं था। उनके पक्ष में सारा समाज था ; उनका अतुल वैभव था ; उनकी सारी क्षमताएँ थीं। अमोल अकेला था, ग़रीब था और निर्बल था। लड़ाई छिड़ गई थी।

लाला जी कुछ देर तक मिट्टी की मूरत बने बैठे रहे। उसके बाद रोष में आकर खड़े हो गए और बोले—देखो अमोल ! भला चाहते हो तो उसे इसी दम मेरे अहाते से निकाल बाहर करो, नहीं तो मैं उसे गोली मार दूँगा......!

"मगर इसके पहले आपको मुझे गोली मारनी पड़ेगी।"

"देखा जायगा"—कह कर लाला जी पागलों की तरह बगले की ओर दौड़ पड़े।

अमोल इतनी तेजी से दौड़ा कि उनके पहुँचने के पहले ही वह दासू के कमरे में दरवाजे का मुँह रोके, वीर सैनिक की तरह खड़ा था। लाला जी ने अपनी सारी शक्ति लगा कर उसे जोर से एक धक्का मारा। उसके दोनों हाथ चौखट से छूट गए। वह धड़ाम से दासू के बिस्तरे पर जा गिरा। लाला जी भूखे बाघ की तरह गरज कर बोले—इस हरामजादे चमार का सिर उड़ा दूँगा; नहीं-तो इसे यहाँ से निकाल बाहर करो।

अमोल ने उछल कर बाप के दोनो हाथ पकड़ लिए और शेर की तरह गरज कर कहा—आप मेरे कमरे से इसी दम निकल जाइए।

"कमरा तुम्हारे बाप का नही है, मेरा है।"

"मेरी माँ को गाली दीजिएगा तो अच्छी बात नहीं होगी। मुझे दुःख है कि आप ही मेरे बाप है और मेरा ही यह कमरा है।" इस बार अमोल की आँखों में आँसू भर आए। न जाने क्या समझ कर लाला जी इस बार कुछ न बोल सके। दासू अब भी बुख़ार के मारे मरा जा रहा था। मगर वह बेहोश नहीं था। सारा तमाशा देख रहा था।

लाला जी को चुप देख कर वह धीरे से उठ बैठा और बोला—"बाबू जी ! मैं ख़ुद चला जाऊँगा—इस समय बड़े ज़ोर का बुख़ार है।"

लाला जी ने सहमी हुई आँखों से एक बार उसकी ओर देखा। आँखें आप ही आप झुक गईं। पसीने की बूँदें पोंछने को कपाल पर ज्योंही हाथ फेरा, त्योंही वह उनके घाव से छू गया। अभी तक वह घाव अच्छी तरह सूख भी नहीं पाया था, जिस पर कि आज से लगभग दो सप्ताह पहले इसी चमार के बच्चे ने मरहम-पट्टी बाँधी थी ! अब लाला जी वहाँ देर तक खड़े न रह सके। सिर झुकाए कमरे से बाहर निकल आए और बोले—मोटर ले आओ, मैं लाला वंशीधर के यहाँ जाऊँगा।

४

अब क़रीब-क़रीब रात के बारह बज चुके थे। अपने बाप के बाहर निकल जाने पर भी अमोल दासू के पास से नहीं हटा। उस रात उसने खाया-पिया भी नहीं। दासू बुख़ार के मारे तो बेचैन था ही, अब उसके हृदय में एक और भी आग लग गई। वह भी अपने बाप का एकलौता बेटा था—उसका दुलारा वैभव था। सहृदयता ही उसकी सम्पत्ति थी। लाला गोपीचन्द के व्यवहार से उसे मार्मिक चोट पहुँची। वह अमोल की भावी विपत्ति का स्मरण करके

और भी अधीर हो उठा। भीतर ही भीतर वह इसी आग में जलता रहा। अन्त मे रो पड़ा और अमोल के पैरो पर गिर कर बोला—भैया जी ! मैं तो आपसे वही कह रहा था कि मै जनम का दुखिया इतना बड़ा भाग्य अपने कपार में बाँध कर न रख सकूँगा ! मगर आपने माना नहीं। अब भी मुझे दया करके छोड़ दीजिए।

"मेरे जीते जो ऐसा न हो सकेगा भाई ! अगर तुम इस घर मे नहीं रह सकते तो मैं भी नहीं रहूँगा। चलते हो ? चलो, मैं भी तुम्हारे साथ ही चल रहा हूँ !"—कह कर अमोल ने उसे उठा कर बिस्तरे पर लिटा दिया। दासू कुछ नहीं बोला। मुँह ढाँप कर धीरे-धीरे सिसकने लगा।

सिसकते ही सिसकते उसकी आँखे बन्द हो गईं। जब खुली तो उसने देखा, अमोल भी सोया पड़ा है। वह चुपके से उठा और कमरे से बाहर निकल पड़ा। अब भी रात बहुत बाकी थी। दासू वहाँ से चला तो उसका हृदय रो रहा था, उसके पाँव नहीं उठ रहे थे। उसके मन मे बार-बार यही बात आ रही थी—भैया जी की क्या हालत होगी ? और यह ऐसी बात थी, जिसे वह कभी भूल ही नही सकता था। मगर लाचारी थी, छाती को पत्थर बना कर वह वहाँ से निकल भागा।

५

थकावट के कारण अमोल की आँखें ज़रा देर में खुली। दासू को बिस्तरे पर न पाकर वह बावला-सा हो उठा! उसी समय दर्जन भर आदमी बटोर कर लाला गोपीचन्द अपने बेटे को मनाने आ पहुँचे। उनका विश्वास था कि अमोल अब उनकी सारी बातें मान जायगा, नहीं तो अपने कमरे से उस चमार को भगाता ही क्यों?

प्यार दिखाते हुए वे बोले—बिना जाने-बूझे जो कुछ होना था, सो तो हो ही चुका, बेटा! अब चलो, पतिया-प्रायश्चित्त, यज्ञ-अनुष्ठान करके शुद्ध हो जाओ।

अमोल ने कड़क कर कहा—मैं बिलकुल शुद्ध हूँ! बिना जाने-बूझे नहीं—जान-बूझ कर ही मैंने यह काम किया है और जीवन भर यही करता रहूँगा।

"अच्छी बात है"—लाला जी ज़रा और भी मुलायम होकर खाँसते-खाँसते बोले—"इस बार मेरी बात मान लो, फिर चाहे जो करना।"

"कौन सी बात?"

"यही, प्रायश्चित्त करने की"—सफलता की आशा में प्रफुल्ल होकर लाला जी बोल उठे।

"बहुत अच्छा"—कमरे से बाहर निकलते हुए अमोल

ने कहा—"मैं ज़रा दासू को बुला लाऊँ। मेरे प्रायश्चित्त के इस अनुष्ठान का पुरोहित वही होगा।"

लाला जी भौंचक्के से चुपचाप खड़े रहे। अमोल तीर की तरह तेज़ी से निकल गया।

वह सीधे दासू की कुटिया में पहुँचा। दिन ढल चुका था। वह भूख-प्यास के मारे अधमरा हो गया था। मगर उसे इसकी परवाह नहीं थी। कुटिया में जाकर देखा, वह ख़ाली पड़ी थी। उसे इसकी आशा नहीं थी। पागलों की तरह "दासू-दासू" चिल्लाते हुए अन्त में वह पछाड़ खाकर वहीं गिर पड़ा। पता नहीं, कब तक वहीं पड़ा रहा। लेकिन जब इसकी आँखें खुलीं तो मालूम हुआ कि अपने बाप के घर में बिस्तरे पर लेटा हुआ है। और लाला गोपीचन्द माथा ठोंक कर लोगों से कह रहे हैं—अगर मैं मोटर लेकर वहाँ न पहुँच जाता, तो इसकी जान का कौन-सा भरोसा रह गया था?

६

लाला गोपीचन्द और वंशीधर बचपन के मित्र थे। वंशीधर के पास भी विपुल सम्पत्ति थी; मगर सन्तान के नाते उन्हें एक लड़की के सिवाय और कोई नहीं था। उसे वह प्राणों की तरह प्यार करते थे। दोनों ओर से तय था कि शान्ता और उसके साथ ही साथ लाला वंशी-

धर जी की विपुल सम्पत्ति अमोलचन्द को सौंप दी जायगी। अमोलचन्द और शान्ता वर्षों पहले एक-दूसरे के हो चुके थे—हाँ, दुनिया की दृष्टि में उन दोनों का अस्तित्व अभी तक भिन्न ही था।

इधर दासू वाला मामला खड़ा करके अमोल ने जो उत्पात मचा रक्खा था, उससे उसके बाप ही हैरान हो, यह बात नहीं थी। लाला वंशीधर को उसका कम दुःख नहीं था। हाँ, शान्ता सब-कुछ समझ-बूझ कर भी स्थिर-भाव से सारा तमाशा देख रही थी। उसे किसी बात की आशङ्का नहीं थी। उसके मन में न जाने इस बात ने क्यों जड़ जमा ली थी कि अमोल के जीवन से उसके जीवन को ब्रह्मा भी अलग नहीं कर सकते।

इधर पूरे पन्द्रह-बीस दिन से शान्ता ने अमोल को देखा तक नहीं था। वह बेचैन ज़रूर रहा करती थी, मगर उस बेचैनी का कोई इलाज नहीं था। मिलन की आकांक्षा में हृदय जिस वेदना का अनुभव करता है, उसका सब से बड़ा इलाज न मिलना ही है; क्योंकि ऐसी आकांक्षा की दारुण अतृप्ति में कभी-कभी मिलन-दुःख की तीव्रता वियोग से भी बढ़ जाती है। शान्ता चाहे इस मर्म को समझती हो या नहीं, लेकिन चेष्टा यही करती थी कि वह अपने प्रियतम से न मिले।

इधर अमोल का भी वही हाल था। दारू वाले मामले ने उसे कुछ का कुछ बना दिया। दिन-रात लोग उसके पीछे पड़े ही रहते थे। 'प्रायश्चित्त'-'प्रायश्चित्त' की लोगों ने रट लगा रक्खी थी। मगर वह कुछ बोलता ही नहीं था। अब वह किसी की बात का जवाब तक नहीं देता। लोग कुत्तों की तरह भौंक-भौंक कर भाग जाते और वह मस्ताने हाथी की तरह अपनी आन पर डटा रहता। यहाँ तक कि अब लोग उससे हार गए। समाज के भूखे भेड़ियों को शेर के साथ लड़ाई करने की हिम्मत नहीं रह गई—वे बेचारे गोपीचन्द के ऊपर टूट पड़े। जिस समाज के भरोसे उन्होंने अपने बेटे से लड़ाई छेड़ी थी, वही समाज अब उलट कर उन्हीं के साथ लड़ने लगा। लाला जी की सारी सबलता मिट्टी में मिल गई। लोगों ने कहना शुरू किया—कैसे बाप हो, बेटे को बस में नहीं कर सकते?

किसीने कहा—हम लोगों को दिखाने के लिए ऊपर से ऐसी-ऐसी बातें कर रहे हैं। भीतर से तो ये भी उसी के साथ हैं। नहीं तो यह भी कोई बात है कि बेटा बस में न हो?

एक सज्जन बोले—बेटे साले की क्या हस्ती है जी? यह सब इन्हीं लाला साहब का काम है। आज ही हुक्का-पानी बन्द हो जाय, फिर देखो कल उस छोकरे के होश ठिकाने आ जाते हैं कि नहीं?

समाज ने एक स्वर से चिल्ला कर कहा—हुक्का-पानी बन्द कर दो! लाला साहब के आस-पास का समस्त वायु-मण्डल काँप उठा—हुक्का-पानी बन्द कर दो!!

७

इस समय लाला साहब की दशा बड़ी दयनीय हो रही थी। न वे पुत्र को मना सकते थे, न समाज को। समाज बिना प्रायश्चित्त की पूड़ी-कचौड़ी चबाए मान नहीं सकता था। पुत्र समाज की इस क्षुधा-निवृत्ति का साधन बनने को किसी तरह भी तैयार नहीं था। लाला जी को अब भी आशा थी कि मेरी दशा पर शायद बेटे का दिल पसीज जाय। अपराधी की तरह वे अमोल के कमरे में गए। उस समय वह शान्ता की तस्वीर हाथ में लेकर उसके ऊपर आँखों के मोती बिखेर रहा था! बाप को देखते ही तस्वीर उसके हाथों से नीचे गिर पड़ी, मगर उसका शीशा नहीं टूटा।

लाला जी ने कहा—बेटा! अब भी मान जाओ। समाज के साथ लड़ाई नहीं निभ सकती।

अमोल आज कुछ निश्चय किए बैठा था। उसी निश्चय के परिणाम-स्वरूप वह अपनी प्रियतमा की तस्वीर को अपने हृदय के अमृत से नहला रहा था। बाप की बातें सुन कर—समाज का नाम सुन कर उसकी नसों में आग लग गई। वह कड़क कर बोला—मैं समाज से नहीं डरता।

"मगर मैं तो डरता हूँ।"

"तो आप डरा कीजिए।"

"तुम्हें इसकी कोई परवाह नहीं?"—लाला जी जरा सतेज होकर बोले।"

"रत्ती भर भी नहीं।"

"मुझे समाज को सन्तुष्ट करना पड़ेगा।"

"इसका अर्थ यह है कि मुझे घर से कोई नाता नहीं रह जायगा।"

लाला जी की आँखें लाल हो गईं! तमक कर बोले—मैं समझ लूँगा कि मुझे एक ही लड़का था। तुम पैदा ही नहीं हुए थे।

"अच्छी बात है, तो मैं चला।"—कह कर अमोल अपने हाथ में वही तस्वीर लेकर कमरे से बाहर निकल पड़ा।

लाला जी ने कहा—जाओ, मुझे तुम्हारी जरूरत नहीं।

इसी समय अमोल का छोटा भाई धवल दौड़ता हुआ आया और उसके पैरों से लिपट गया। अमोल इसे बहुत प्यार करता था। अवस्था में सिर्फ दो वर्ष का अन्तर था। अमोल की आँखों से भरभरा कर आँसू की हजारों बूँदें उसकी पीठ पर गिर पड़ीं। उसे गले लगाते हुए वह बोला—धवल, तुम मुझे प्यार करते हो?

"इसे तो मैं भी आज तक नहीं जान सका हूँ, भैया!

आपको कैसे बताऊँ ?"—कह कर वह अपने बड़े भाई के मुँह की ओर इस तरह देखने लगा, मानो कोई भिक्षा माँग रहा हो।

धवल का यह उत्तर कितना मार्मिक और सच्चा था। वह अपने भाई को जितना चाहता था, उतना शायद आज तक उसने किसी को चाहा ही नहीं था। मगर उसका प्यार जितना गम्भीर था, उतना ही गहन भी। उसे कोई सहज ही जान नहीं सकता था।

अमोल ने फिर पूछा—तो मैं जो कहूँगा वह मानोगे न ?

"आज तक आपने मुझे ऐसी कोई आज्ञा नहीं दी, जिसका पालन करते हुए मुझे थोड़ा सा भी कष्ट हुआ हो।"

"तो सुनो, मैं तुम्हें अपने हिस्से का घर-द्वार, धन-वैभव—सब कुछ दिए जाता हूँ। बाबू जी की सेवा में सुख से जीवन बिताओ। मेरी ममता का बन्धन तोड़ दो। मैं जाता हूँ—दो, तुम्हें एक बार जी भर कर चूम लूँ......।"

धवल धड़ाम से धरती पर गिर पड़ा। दुःख के समय—भाई के वियोग के समय—प्यार का इतना बड़ा धक्का वह सह नहीं सका। उसका गिरना देख कर नौकर-चाकर दौड़ पड़े।

वह हवेली के भीतर पहुँचाया गया। अमोल की बड़ी इच्छा हुई कि वह घर के भीतर घुस कर अपने भाई के पास कुछ देर तक बैठे, मगर उसे देखते ही उसके बाप ने किवाड़

बन्द कर दिए। उसका हृदय टूक-टूक हो गया। उलटे पाँव वह वहाँ से लौट पड़ा। स्नेह और ममता का सुनहरा रूप सन्ताप की आग में जल रहा था।

८

शान्ता की तस्वीर हाथ में लिए वह बेख़बर चला जा रहा था। कहाँ, इसका पता नहीं। सहसा एक घर के पास जाकर वह रुक गया। उसकी सारी बेख़ुदी, सारी तल्लीनता, समस्त विस्मृति न जाने कहाँ भाग गई! उसने देखा—उस दरवाज़े पर शान्ता खड़ी थी—हाँ, और वह शान्ता का ही घर था। उसे अपनी बेहोशी पर रोष हो आया। वहाँ तक आने की उसे कभी इच्छा नहीं थी। वही निगोड़ी उसे ले आई। वह झल्ला कर लौट पड़ा। अभी उसने मुँह मोड़ा ही था कि शान्ता सामने आ खड़ी हुई। उसके पाँव बँध गए। सिर झुका कर वह चुपचाप उसके सामने खड़ा हो गया। शान्ता ने उसके हाथ में अपनी तस्वीर देखी, तो उसकी आँखों में गर्व, उल्लास, आशा और वियोग का पानी भर आया। आर्द्र होकर वह पूछ बैठी—कहाँ भागे जा रहे हो?

अमोल से कुछ जवाब न बन पड़ा। वह उसी तरह सिर झुकाए चुपचाप खड़ा रहा।

उसने काँपते हुए हाथ से उसका हाथ पकड़ लिया और कहा—भीतर चलो।

अमोल इन्कार न कर सका। भीतर पहुँचते ही शान्ता ने उसे अपने पास बैठा कर बड़ी कातरता से पूछा—मुझे इसी तरह छोड़े जाओगे?

"मेरा क्या वश है?"—कह कर अमोल ने उसकी गोद में सिर रख दिया। वह बच्चों की तरह रो रहा था।

शान्ता ने, न जाने कैसे, उस दिन एक माला तैयार कर ली थी। रोज़ वह माला गूँथने बैठती, मगर गूँथ न पाती थी। आज उसे इस कार्य में सफलता मिली थी। माला को उसने बड़े यत्न से सन्दूक़ में बन्द कर रक्खा था। सो भी किस तरह? एक तस्वीर में लपेट कर। वह तस्वीर अमोल की थी। उसने तस्वीर से वह माला निकाल ली और अमोल को पहना दी। उसके बाद ही वह अपने जीवन-सर्वस्व के हाथों को अपना हाथ सौंपती हुई बड़ी धीरता से बोली—अब अगर चाहो तो तुम जा सकते हो।

अमोल ने उसके हाथों को लेकर उस पर अपना झुका हुआ मस्तक रख दिया। उसी समय लाला वंशीधर ने कमरे में प्रवेश किया। दोनों ज्यों के त्यों बने रहे—हिले तक नहीं। उन्हें इसका ज्ञान ही नहीं था कि कमरे में और भी कोई है। सहसा अमोल ने सिर उठा लिया और शान्ता की ओर देख कर स्नेह-विगलित स्वर में कहा—जाना तो पड़ेगा ही, सच्चे दिल से आज्ञा देती हो?

कैसा करुणाजनक दृश्य था ! दोनों एक-दूसरे को आँखें गड़ा कर देख रहे थे। दोनों के चेहरे पर विषाद था—आँखों में पानी ! वंशीधर अब खड़े नहीं रह सके। घुटने टेक कर बैठ गए और उन्होंने अमोल का गुलाबी मुखड़ा चूम लिया। शान्ता चौंक कर कोने में जा खड़ी हुई—अमोल बच्चों की तरह रो पड़ा। वंशीधर ने उसके आँसू पोंछते हुए कहा—बेटा ! आज से तुम मेरे हुए। मैं समाज की कोई परवाह नहीं करता। मैं अपनी आँखों से देख चुका हूँ—शान्ता तुम्हें माला पहना चुकी। तुम उसके हो चुके और वह तुम्हारी। बस, अब मुझे धूमधाम की जरूरत नहीं, सिर्फ़ सत्यनारायण प्रभु की पूजा कर लेने का विचार है। बस, मेरी इस विशाल सम्पत्ति का तुम दोनों अच्छी तरह उपभोग करो—आनन्द से जीवन बिताओ। यही मेरी कामना है।

इसी समय लाला गोपीचन्द भी आ पहुँचे। अमोल के गले से लिपट कर वे बुक्का फाड़ कर रो पड़े। मगर यह सुख का रोना था। वे रोते हुए बोले—बेटा ! मैं समाज के भय से पागल हो गया था। आज तुम्हारे दिल को मैंने बड़ी चोट पहुँचाई—बाप होकर भी इसके लिए क्षमा माँगता हूँ। समाज को लेकर मैं जीता न रह सकूँगा। मैं तुम्हें लेने आया हूँ। चलो, धवल तुम्हारे बिना तड़प-तड़प कर मर जायगा।

अमोल अपने बाप के चरणों पर लोटने लगा। उसे

उठाते हुए लाला गोपीचन्द बोले—धवल तुम्हारा नाम ले-लेकर ज्वर में भी चिल्ला रहा है, उसे इस समय १०५ डिग्री का बुखार है।

अपने छोटे भाई को देखने के लिए अमोल पहले ही से व्याकुल हो रहा था। पिता के मुँह से ऐसी बातें सुन कर वह चटपट उठ खड़ा हुआ। सब के सब बाहर निकल आए।

मोटर की ओर बढ़ते देख कर वंशीधर ने गोपीचन्द से कहा—ठहरो भाई, गाड़ी जुतवा रहा हूँ, उस पर हम दोनों चलेंगे। मोटर इन दोनों के लिए है।

"वाह जनाब!"—लाला गोपीचन्द ने आनन्द से मुस्कराते हुए कहा—"बेटी-दामाद का यह मान और बूढ़े समधी का इतना अपमान? रूठूँगा तो पता चलेगा!"

वंशीधर ने जवाब दिया—अब तुम्हारे रूठने की कौन परवाह करता है? मुझे तो जो चाहिए था, वह अनायास ही मिल गया।

आनन्द-विह्वल होकर दोनों एक-दूसरे के गले से लिपट गए। इस मिलन में कितना सुख था—कितना उल्लास!!

९

भाई-भौजाई को देखते ही धवल का ज्वर जाता रहा। दो तीन दिनों बाद वह जैसे का तैसा हो गया।

सन्ध्या का समय था। सब के सब बैठे गप-शप कर

रहे थे। इतने ही में एक नौजवान अपने कन्धे पर किसी आदमी को लिए आता दिखाई दिया। नज़दीक आने पर लाला गोपीचन्द ने देखा, उस नौजवान का समूचा शरीर कालिख से पुता हुआ है; उसे सहज ही कोई पहचान नहीं सकता। और उसके कन्धे पर जो आदमी है, वह और कोई नहीं, उन्हीं का नौकर था। वही नौकर, जो मोटर हाँकता था और जिसने उस दिन दासू के सम्बन्ध में अमोल के विरुद्ध उनसे शिकायत की थी। उसे उन्होंने बैङ्क से रुपए लाने को शहर भेजा था। मगर इधर से जाते ही रास्ते में मोटर बिगड़ गई और उसे हैज़े की बीमारी ने धर दबाया—वह वहीं मोटर पर लुढ़क गया।

उसे देखते ही गोपीचन्द ने घबड़ा कर पूछा—इसे क्या हो गया है?

उस गठीले और स्याही पुते हुए शरीर वाले नौजवान ने कहा—इसे हैज़े की बीमारी हो गई थी, अब सिर्फ़ कमज़ोरी है।

"और मेरी मोटर कहाँ है?"—घबड़ा कर उन्होंने पूछा।

"वह रास्ते में यहाँ से थोड़ी दूर पर पड़ी हुई है। शायद इधर से जाते समय कुछ कल-पुर्ज़ा बिगड़ गया था।"

"तुम कौन हो? कैसे जाना कि यह मेरा आदमी है?"

इस बार युवक हँस कर बोला—न जाने इसे कितनी दफ़े उसी राह से मोटर पर आते-जाते देखा है, और आपकी मोटर को इधर चार कोस के भीतर कौन नहीं पहचानता सरकार ?

"तो तुम इसे अपने कन्धे पर ढोकर ले आए हो ?"

युवक ने लजा कर धीरे से कहा—जी हाँ।

अमोल अभी तक चुपचाप बैठा सभी बात सुन रहा था। अब उसने चटपट खड़े होकर उस काले-कलूटे युवक का हाथ पकड़ लिया और भर्राए हुए स्वर में उसने उससे पूछा—मगर यह तो बताओ दासू ! इस तरह रूप बदल कर, समूचे शरीर में काजल पोत कर, तुम मेरे यहाँ क्यों आए ? इसीलिए न कि तुम्हें हम लोग पहचान न सकें ? मगर अपनी बोली तो तुम नहीं बदल सके !

लाला गोपीचन्द भी अकचका कर उठ बैठे और बोले—तो क्या यह वही दासू है ?

दासू के मुख से अपने आप निकल पड़ा—जी हाँ !

लाला जी पागलों की तरह उसके गले से लिपट कर बोले—मेरा अपराध क्षमा करना बेटा ! तुम तो देवता की तरह पूजा करने योग्य हो।

लाला वंशीधर ने कहा—देवता भी इस तरह समय पर काम नहीं आते—यह भगवान् का दुलारा दूत है।

दासू ने नम्रता से सिर झुका कर कहा—इतना मत लजवाइए, सरकार! मैं तो आप लोगों के चरणों की धूल हूँ—दीन-दुखियों का एक अभागा सेवक हूँ।

अमोल ने उन्मत्त होकर उसे गले से लगा लिया और कहा—तुम और कोई नहीं, मेरे भाई हो। देखो, इस बार भाग मत जाना। जाओ, नहा-धोकर शरीर साफ कर लो। मैं तब तक तुम्हारे आसरे बैठा हूँ।

१०

रात का पहला पहर बीत रहा था। दासू की कुटिया रोशनी से जगमगा रही थी। सारे बगीचे में लोग भरे हुए थे। आज उसी कुटिया में वंशीधर जी श्रीसत्यनारायण प्रभु की पूजा करने आए हैं। पूजा समाप्त हो गई। रामायण गाने की बारी आई। बड़े-बड़े रामायणी एकत्र हुए थे। जब गाने का समय आया तो अमोल ने पुकारा—दासू!

दासू ने पास आकर पूछा—क्या है, भैया जी?

"कुछ गाओ।"

"इस समय गा नहीं सकूँगा—आनन्द इतना बढ़ रहा है कि कलेजा छेद कर बाहर निकलना चाहता है।"

"नहीं, कुछ गाओ।"

"जो हुकुम हो"—कह कर ज्योंही उसने एक तान छेड़ी, त्योंही उसका शरीर धरती पर लोट गया—वह बेहोश होकर

गिर पड़ा। आनन्द का इतना मीठा, किन्तु अवहनीय भार वह वहन नहीं कर सका। वही कुटिया, जो क्षण भर पहले आलोक से जगमगा रही थी—अब अँधेरे की बाढ़ में डूब गई !!

अंगीकार

अंगीकार

सुबोध को देखते ही पण्डित रुद्रप्रताप जी के तन-बदन में आग-सी लग गई। मगर ऊपर से वे बहुत ही शीतल बने रहे। उस समय उनकी मुखाकृति अध्ययन करने योग्य थी। लेकिन सुबोध वैसा कर नहीं सका। उसकी आँखें आँसुओं में डूबी हुई थीं, हृदय भावावेश के मारे अधीर हुआ जा रहा था। पास पहुँचते ही वह उनके चरणों पर गिर पड़ा—नहीं, चरणों पर कहाँ गिर सका? वे तो चट-पट दूर खींच लिए गए थे। उस बेचारे का मस्तक तो धरती की धूल चूम रहा था। न जाने अस्पष्ट शब्दों में उसे क्या आशीर्वाद मिला! हाँ, इतना ज़रूर है कि पण्डित जी ने उसे काँपते हुए हाथों से उठा लिया और बहुत चेष्टा करने के बाद वे अपने स्वर में जितनी भी कोमलता ला सके, उसीकी अभिव्यक्ति करते हुए उससे पूछा—और सब समाचार तो अच्छे हैं न?

बस, इतने ही परिश्रम से उनके ललाट पर पसीने की

बूँदें बिखर गईं—वे इतना थक गए कि ज़ोर-ज़ोर से उनकी साँसें ऊपर-नीचे होने लगीं !

सुबोध ने रूमाल से आँखें पोंछते हुए गद्‌गद् स्वर में उत्तर दिया—जी हाँ, सब आपकी कृपा है।

"बैठो"—कह कर पण्डित जी ने उसे एक कुर्सी दिखा दी और आप भी पास ही वाली एक दूसरी कुर्सी पर बैठ गए। अब सुबोध ने अच्छी तरह उनके चेहरे पर निगाह डाली। उससे उदासीनता और बेचैनी के भाव टपके पड़ते थे। उसे कुछ-कुछ अनुभव होने लगा कि 'आवत ही हरषे नहीं, नैनन नहीं सनेह' वाली बात है। लेकिन इस अप्रिय सत्य पर सहसा विश्वास कर लेना उसके लिए बड़ा ही कठिन था। अभी दो ही बरस पहले यही सुबोध पण्डित रुद्रप्रताप जी के प्यार का पुतला था; इस पर वे जान देते थे; घण्टों अपनी गोद में सुला कर स्नेह से इसका मस्तक सहलाया करते थे। वही आज इतना बदल कैसे जायँगे ? क्या केवल इसी-लिए कि इसने उनकी इच्छा के विरुद्ध विदेश-यात्रा कर दी ? सुबोध इस समस्या को हल नहीं कर सका। कुछ देर चुप रहने के बाद उसने पूछा—यहाँ तो सब कुशल है न, बाबू जी ?

"सब ठीक ही है"—पण्डित जी ने उदासीनता की जीती-जागती भाषा में कहा—"ईश्वर किसी तरह चलाए जा रहे हैं।"

"दिन बीतते कुछ भी देर नहीं लगती, बाबू जी !" सुबोध अपनी कुर्सी को उनके नजदीक खिसकाते हुए बोला—"देखते ही देखते दो साल गुजर गए। मालूम होता है, वे सब बातें कल की ही हों।"

"हूँ"—कह कर पण्डित जी ने सिर हिला दिया और एकाध बार बनावटी रूप से खाँस कर गला साफ़ करते हुए पूछा—"अकेले ही आए या विलायत से कोई सङ्गी-साथी भी ले आए हो ?"

पण्डित जी के इस व्यङ्गपूर्ण प्रश्न का आशय समझते उसे देर न लगी। वह मर्माहत होकर बोला—सङ्गी-साथी कैसा, बाबू जी ?

निष्कपट वाणी के इस नेह-भरे भोलेपन की थोड़ी-सी मीठी-मीठी चोट पण्डित जी के कलेजे में भी लगी। वे भीतर ही भीतर एक तरह से लजा गए और बात की गति बदलते हुए हँस कर बोले—दो साल तक विलायत में पढ़ कर भी सङ्गी-साथी का मतलब नहीं समझ सके ? अरे, मैं यह पूछता हूँ कि तुम्हारे साथ वहाँ के कोई दोस्त-मित्र भी आए हैं या नहीं ?

सुबोध उनकी हँसी से ही उनके मन का भाव ताड़ गया। अब उसके हृदय में एक तूफ़ान उठ आया। मगर बड़ी सावधानी से उसे दबाते हुए उसने गम्भीर होकर जवाब दिया—जी नहीं, कोई नहीं आया।

इसी समय नौकर पण्डित जी के लिए पीने का पानी ले आया। पहले तो पण्डित जी ने उसे दूर ही से आँख-भौं चमका कर इशारा किया कि वह इस समय पानी लेकर बरामदे में पैर न रक्खे; मगर वह गँवार आदमी उनके उस रहस्य-भरे इशारे से कोई अर्थ नहीं निकाल सका। वह पानी लिए हुए सामने जाकर खड़ा हो गया। वे और कोई उपाय न देख कर झल्लाते हुए बोले—इतनी देर कहाँ लगा दी रे? कोई भी काम दो-तीन घण्टे के पहले नहीं करता। और ज़रा शाम हो जाने देते, तब आते पानी लेकर! यह समय भी खाली पेट पानी पीने का है? समझाते-समझाते हार गया, फिर भी यह पाजी कोई काम समय पर नहीं करता। जाओ, हटो सामने से! ले जाओ, इस समय अब पानी-वानी नहीं पीऊँगा। अभी जाकर मुझे नहाना-धोना है।

नौकर चुपचाप चला गया। सुबोध उनके पानी न पीने का अर्थ इतनी अच्छी तरह समझ गया कि अब एक क्षण भी उनके पास बैठा रहना उसके लिए आग की भट्ठी में बैठने के बराबर हो रहा था। वह घबड़ा कर उठ खड़ा हुआ और बोला—अच्छा, तो आप नहाइए-धोइए। मैं भी चलता हूँ। इतना कह कर वह कुछ देर खड़ा रहा। शायद उसे पण्डित जी से कुछ और आशा थी। मगर पण्डित जी ने उसे केवल इतना ही कहा—अच्छी बात है।

पण्डित जी ने हाथ में लोटा उठाया और सुबोध ने अपनी राह ली। वह आवेश में आकर वहाँ से चल तो पड़ा, लेकिन उसके पैर आगे की ओर बढ़ नहीं रहे थे। क़दम-क़दम पर वह इस भाव से रुक रहा था, जैसे पीछे कोई चीज़ छोड़ आया हो। मुश्किल से वह आठ-दस गज़ का रास्ता तय कर सका होगा कि पीछे से किसी ने उसका हाथ पकड़ लिया। सुबोध ने फिर कर देखा, यह उसकी 'सुधा' थी। वह अविचल भाव से चुपचाप खड़ा हो गया। उसका मस्तक झुका हुआ था।

सुधा ने काँपते हुए स्वर में कहा—कम से कम 'माँ' को भी तो एक बार देख लेते। इतनी जल्दी काहे की आ पड़ी थी?

सुबोध का समूचा शरीर पसीने में डूब गया। उसके मुँह से एक शब्द भी नहीं निकल रहा था। इतनी भी हिम्मत नहीं पड़ती थी कि वह एक बार सुधा के मुख पर अपनी एक हलकी सी निगाह भी डाल सके। वह उसी तरह सिर झुकाए चुपचाप खड़ा रहा।

सुधा ने फिर कहा—चलो न, माँ बुला रही हैं।

सुबोध ने कोई जवाब नहीं दिया। वह चुपचाप सुधा के पीछे-पीछे चल पड़ा।

भीतर पहुँचते ही सुधा की माँ ने दौड़ कर उसको छाती

से लगा लिया। आँखों में प्यार का अमृत उमड़ाती हुई वह बोली—दो ही साल में इतने बड़े निर्मोही हो गए बेटा। अपनी इस अभागिनी माता से मिले बिना ही आगे जा रहे थे? माया-ममता सब कुछ बिसर गई क्या, सुबोध?

सुबोध बच्चों की तरह सिसकने लगा। सुधा वहाँ खड़ी न रह सकी। माँ ने अपने आँचर से उसके आँसू पोंछते हुए कहा—चलो बेटा! बड़े अरमान से तुम्हारे लिए सुधा ने कुछ मिठाइयाँ बना रक्खी हैं और मैंने पकवान। खा-पी लो तब जाना।

सुबोध अस्वीकार न कर सका। माँ के साथ उसी घर में घुस गया, जहाँ सुधा चौका-पानी दुरुस्त करके एक थाली में पूरी, कचौड़ी, पकवान और तरह-तरह की मिठाइयाँ सजा रही थी।

सुबोध खा-पी रहा था और बीच-बीच में बातें भी हो रही थीं। इसी समय पण्डित रुद्रप्रताप जी भी नहा-धोकर हाथ में एक लोटा जल लिए हुए उसी घर में घुस गए। यह क्या? उनके हाथ से लोटा छूट कर जमीन पर गिर पड़ा। वे थर-थर काँपने लगे। सुबोध ने देखा, उनके नथने फड़क रहे थे। उसके हाथ की मिठाई थाली में गिर पड़ी! सुधा ने देखा, उसके बाप के दाँत कटकटा रहे हैं—डर कर वह कमरे से बाहर निकल गई! सुधा की माँ ने देखा,

उसके पतिदेव अपनी लाल-लाल आँखों से प्रलय की ज्वाला बरसा रहे हैं। वे भय-विह्वल स्वर में बोल उठीं—हाथ जोड़ती हूँ, तुम इस समय यहाँ से चले जाओ, मैं अपने बेटे को खिला रही हूँ!

"नहीं, माँ! अब मैं नहीं खा सकूँगा।"—कह कर सुबोध थाली छोड़ कर कमरे से बाहर निकल पड़ा!!

२

"तुम्हे सुधा के ऊपर भी कुछ ममता है या नहीं?"

"ममता हो चाहे न हो"—पण्डित रुद्रप्रताप जी ने कड़कते हुए कहा—"मगर तुम्हारी और उसकी मर्ज़ी का पालन मैं नहीं कर सकूँगा।"

"तो क्या उसे इसी तरह घुला-घुला कर मार डालोगे?"

"विधर्मी के साथ मैं अपनी बेटी का विवाह नहीं कर सकता?"

"सुबोध विधर्मी है? वह सुबोध, जिसे मैं अपना बेटा समझती हूँ? वह सुबोध, जिस पर सुधा जान देती है? वह सुबोध, जिसको तुम अपनी गोद में खिला चुके हो?"

"हाँ-हाँ"—पत्नी की बात को बीच ही में काटते हुए पण्डित रुद्रप्रताप जी चिल्ला उठे—"वही सुबोध, वही। मैं उसे विधर्मी से भी बढ़ कर समझता हूँ। विलायत जाकर कोई अपना धर्म और चरित्र नहीं बचा सकता। उसने न

जाने वहाँ कैसे-कैसे काम किए होंगे—उसका स्पर्श करना भी पाप है! वह अब मेरे किसी काम का नहीं।"

"मगर राजा साहब भी तो विलायत हो आए हैं। उनके साथ बैठ कर खाने-पीने से तो तुम्हारा धर्म भ्रष्ट होते मैंने कभी नहीं देखा?"

"मैं इस पर अधिक बहस करना नहीं चाहता। समाज के ख़िलाफ़ खड़े होने की ताक़त मुझमें नहीं है। उसके साथ किसी तरह भी सुधा का विवाह नहीं हो सकता।"

"अच्छी बात है, जो चाहो करो। मगर कहे देती हूँ, ऐसा पछताओगे कि जन्म-भर याद रहेगा। चिराग़ लेकर ढूँढ़ने पर भी तो ऐसा सुन्दर और गुणवान् लड़का न पा सकोगे।"

"क्यों? नन्दलाल उससे रूप और गुण में कौन सा कम है। उसके साथ सुधा रानी बन कर रहेगी, इसकी भी कुछ खबर है? सुबोध के पास क्या धरा है? न घर, न द्वार, न माँ, न बाप। बहुत होगा, कहीं पाँच सौ रुपए महीने की नौकरी लग जायगी। बस न, या और कुछ? और नन्द-लाल के पास देखो कितनी बड़ी जमींदारी है........।"

पति की एक-एक बात से सुधा की माँ का हृदय घायल हुआ जा रहा था। वह बोल उठी—तो यह कहो कि तुम उसके धन पर रीझ गए हो। सुबोध के विधर्मी होने की बात एक बहाना मात्र है!

पत्नी की इस धृष्टता पर पण्डित जी जल उठे। क्रोध-कम्पित स्वर में बोले—हाँ-हाँ, मैं उसके धन ही पर रीझ गया हूँ। मुझे अपनी बेटी के बदले उससे एक लाख रुपया लेना है—क्यों? मेरे साथ इस तरह की बातें करते तुम्हें शर्म भी नहीं आती? तुम समझ रही हो कि इस तरह की जली-कटी बातें सुन कर मैं चटपट सुबोध को अपना दामाद बना लूँगा और समूचे समाज के खिलाफ़ खड़ा होकर अपनी ही आँखों से अपना सत्यानाश देखूँगा—यही न? मगर यह तुम्हारा भ्रम है। मैं इस तरह त्रिया-चरित्र में पड़ने वाला आदमी नहीं हूँ।

"हृदयहीन हो, नहीं तो अपनी इकलौती बेटी पर ऐसा भीषण अत्याचार करने के पहले एक बार तुम नारी-हृदय का अध्ययन जरूर कर लेते। मै तुम्हे विश्वास दिलाती हूँ कि सुधा इस दुनिया में सुबोध के सिवाय और किसी को अपना हृदय नहीं दे सकती—उसके शरीर पर चाहे तुम जिसका अधिकार करा दो। मैं यह भी कहे देती हूँ कि नन्दलाल के प्रति उसका जरा भी प्रेम नहीं है। इतने पर भी अगर तुम मेरी बात नहीं मानते तो तुम्हारी मर्जी।"

"यह विलायत नहीं है कि लड़कियाँ जिससे चाहें उसी के साथ विवाह कर लें। यह हिन्दुस्थान है; लड़के-लड़की का विवाह यहाँ माँ-बाप की इच्छा से होता है। मैं यह

नहीं मानता कि नन्दलाल के साथ व्याही जाने पर सुधा सुखी नहीं रह सकेगी। यह सब तुम्हारी शैतानी है। तुम्हीं उसको मेम बनाया चाहती हो। मैं ऐसा नहीं होने दूँगा, इसे तुम खूब अच्छी तरह से समझ लो।"

"समझ लेती हूँ"—सुधा की माँ ने आँखों में आँसू भर कर कहा—"खूब अच्छी तरह से समझ लेती हूँ कि तुम मेरी सुधा को सुख की सबसे ऊँची चोटी पर बैठाना चाहते हो, और यह भी समझ लेती हूँ कि उस चोटी पर चढ़ाने के पहले ही उस अभागिनी के पैर फिसले बिना न रहेंगे। मगर लाचारी है—मैं भी अबला हूँ, वह और भी अबला है। तुम सबल हो—तुम्हारे पास समाज है, शक्ति है, साधन है—जो चाहो करो मैं चूँ नहीं करूँगी—करूँगी क्या? कर ही नहीं सकूँगी। और मेरे चूँ करने का मूल्य ही क्या.........?"

सुधा की माँ फूट-फूट कर रोने लगी। पण्डित जी उसे रोते देख, न जाने वहाँ से कब खिसक गए?

२

नन्दलाल के साथ सुधा के विवाह की बात पक्की हो गई। नन्दलाल प्रायः रोज सन्ध्या-समय आते और सुधा से कुछ देर—कभी-कभी बहुत देर तक बातें कर जाते थे। उनके सामने सुधा सदैव प्रसन्न रहती—इतनी मधुरता से

बातें करती कि नन्दलाल के ऊपर नशा-सा छा जाता था। जिस दिन वे बिना जल-पान किए ही जाने लगते और सुधा इस बात पर अड़ जाती कि वह बिना कुछ खाए-पिए उन्हें दरवाजा नहीं लाँघने देगी, उस दिन उन्हें यह मान लेने में कोई भी आपत्ति नहीं रह जाती थी कि सुधा उनको अपने प्राणों से भी बढ़ कर मानती है। वे आवेश में आ जाते और न जाने प्रेम की कितनी बड़ी-बड़ी गाथाएँ गाने लगते थे। सुधा अपने हृदय के समस्त आवेगों को दबा कर चुपचाप उनकी गाथाएँ सुन लिया करती थी, और उनके जाते ही अपनी एक ही ठण्ढी साँस में लपेट कर उन समस्त गाथाओं को वह ऊपर की ओर वायु-मण्डल में बिखेर देती थी। इसी तरह प्रेम का अभिनय हो रहा था। पण्डित रुद्रप्रताप जी इसे अपनी सबसे बड़ी विजय समझ कर फूले नहीं समाते थे। एक दिन उन्होंने अपनी पत्नी को ताना मारते हुए कहा—कहो जी! अब भी कहोगी कि सुधा सुखी न रह सकेगी?

"भगवान् करे वह जन्म-जन्मान्तर सुखी रहे"—सुधा की माँ ने अपनी डबडबाई आँखों को आँचर से पोंछते हुए जवाब दिया—"कौन ऐसी माता होगी, जो अपनी सन्तान को सुखी न रहने का अभिशाप दे?"

पण्डित जी ने कहा—तुम्हीं न कहती थीं कि नन्दलाल

के साथ सुधा सुखी नहीं रह सकेगी ? अब बताओ, क्या राय है ?

सुधा की माँ ने गम्भीर होकर कहा—सुनो जी, इस तरह की बातें कह कर मुझे जलाया तो करो मत। मैं अब भी ऐसा ही समझती हूँ, और सुनना चाहो तो कहती भी हूँ। समझ गए कि नहीं ?

पण्डित जी का विश्वास था कि इस बार वे अपनी पत्नी के पराभव का आनन्द लूटेंगे। वे समझते थे कि उसने जो कुछ भी बातें कही थीं, उनका कोई अस्तित्व नहीं था। मगर इस समय फिर उन्हीं बातों का दुहराया जाना उन्हें बड़ा कष्टकर प्रतीत हुआ। क्रोध के मारे भीतर ही भीतर जल-भुन कर उन्होंने भौंहों पर बल लाकर पूछा—तो क्या तुम अब भी कहती हो कि सुधा नन्दलाल को नहीं चाहती ?

"कम से कम मेरा यही विश्वास है। तुम्हें यह नहीं सूझता कि सुधा दिन-बदिन गलती जा रही है ? पहले का आधा शरीर भी तो नहीं रह गया !"

"तुम्हें तो इसी तरह की व्यर्थ-व्यर्थ बातें सूझती रहती हैं"—दाँत पीसते हुए पण्डित जी ने कहा—"तुम नहीं जानती हो कि सुधा नन्दलाल को कितना अधिक मानती है।"

सुधा की माँ ने गम्भीरता से कहा—हो सकता है, मैं ही भूल कर रही हूँ, मगर इतना याद रखना कि हाव-भाव

के भूखे प्रेमियों के पास नेम का वास्तविक रूप देखने के लिए आँखें नहीं रहा करतीं—वे जादू को माया में लिपटे रहने के कारण प्रेम का आन्तरिक रहस्य ही नहीं समझ पाते........!

"हाँ-हाँ समझ गया ; अपना सिद्धान्त अपने पास ही रक्खो।"—कह कर पण्डित जी क्रोध के आवेश में न जाने क्या-क्या बड़बड़ाते हुए वहाँ से चले गए !

४

"मैं तुम्हें जितना प्यार करता हूँ सुधा ! तुम भी क्या मुझे उतना ही प्यार करती हो ?"—नन्दलाल ने अपने मुँह में लड्डू का एक टुकड़ा डालते हुए पूछा।

"क्या आप चाहते हैं"—सुधा ने उनके गिलास में पानी डालते हुए कहा—"मैं भी आपको शब्दों के माया-जाल में फँसा कर ही आपकी इस शङ्का को निर्मूल कर दूँ ?"

"नहीं"—सुधा की बातों का कुछ भी मर्म न समझ कर नन्दलाल घबड़ाए हुए स्वर में बोले—"मैं तो सिर्फ यह जानना चाहता हूँ कि तुम्हारे हृदय में मेरे लिए कितनी जगह है।"

"शायद आप नहीं जानते"—सुधा ने अत्यन्त गम्भीर होकर जवाब दिया—"कि हम अबलाओं के पास 'हृदय' नाम की कोई चीज रह ही नहीं जाती। जिसे लोग 'हृदय' कहते हैं, वह पत्थर का एक पिण्ड है।"

"वह पत्थर का एक पिण्ड है ?"—नन्दलाल ने आश्चर्य से पूछा—"आज तुम इस तरह की बातें क्यों कर रही हो, सुधा ?"

"मेरा तो इसमें कोई क़ुसूर नहीं"—सुधा बहुत ही नम्र भाव से बोली—"बातों का सिलसिला तो आप ही ने शुरू किया है।"

"अच्छी बात है"—नन्दलाल ने ज़रा रुखाई से कहा—"फिर कभी ऐसी ग़लती न करूँगा।" जल-पान की थाली छोड़ कर वे कुर्सी पर जा बैठे।

"यह भी आप मेरे ऊपर अन्याय कर रहे हैं"—सुधा ने दीनता का भाव व्यक्त करके उनके आगे पान की तश्तरी रखते हुए कहा—"मैं आपको बातें करने से रोक नहीं रही हूँ। इस तरह की ग़लती—अगर यह ग़लती भी हो तो, करने का आपको अधिकार है। मैं इसे किसी तरह भी नहीं रोक सकती।"

नन्दलाल ने इसे अपनी विजय समझी और साथ ही सुधा की दीनता पर उन्हें दया हो आई। बोले—क्यों, रोक क्यों नहीं सकतीं ?

"इसलिए कि मैं स्त्री हूँ—अबला हूँ।"

"और शायद वह स्त्री, जो प्रेम करना नहीं जानती।"

"हो सकता है; क्योंकि मेरे समाज में स्त्रियों के प्रेम का कोई महत्व नहीं।"

"ऐसा कह कर तुम अपने समाज को गालियाँ दे रही हो।"

"यह भी ठीक हो सकता है, क्योंकि समाज के लिए इससे बढ़ कर और कोई गाली नहीं कि वह अबलाओं से प्रेम का कर वसूल किया करे।"

"तो क्या तुम समझती हो, सुधा !"—नन्दलाल ने कुछ सतेज होकर कहा—"मैं भी उन्हीं लोगो में हूँ, जो ऐसा किया करते हैं ?"

सुधा ने बहुत ही दबी जबान में उत्तर दिया—क्या मैंने कभी आपके बारे में ऐसी बात कही है ?

नन्दलाल इस मीठी कातरता के दर्द से सिहर उठे। पानी-पानी होकर बोले—मेरा विश्वास है कि मुझे तुम चाहती हो—और सच्चे दिल से चाहती हो।

सुधा के समूचे मुख-मण्डल पर एक अद्भुत प्रकार की लाली दौड़ पड़ी—पता नहीं यह क्रोध की लाली थी या लज्जा की। बड़ी ही कठिनता से वह बोली—यह आपकी कृपा है।

नन्दलाल गद्गद हो गए, साथ ही उनके अरमान की धारा भी उमड़ चली। उसी में बहते हुए वे बोले—मगर एक बात पूछूँ सुधा ! बताओगी ?

"पहले ही कैसे वचन दे दूँ"—सुधा ने कहा—"आप पूछिए भी तो सही, क्या बात है ?"

"यही कि तुम मुझे 'आप' कह कर क्यों पुकारती हो ?"

सुधा इस प्रश्न पर भीतर ही भीतर जल मरी; मगर ऊपर से खिलखिला कर हँसती हुई बोली—क्षमा कीजिएगा, अब से कोई न कोई गाली देकर पुकारा करूँगी; है मञ्जूर ?

"बड़े शौक़ से; और गाली मैं बता देता हूँ। अब से मुझे 'तुम' कह कर पुकारा करो।"

इस बार सुधा की जलन और भी बढ़ गई। वह हँस नहीं सकी। उसका समूचा मुख-मण्डल गम्भीर हो गया। कुछ देर तक वह उसी तरह चुपचाप उनके मुँह की ओर ताकती रही—उसकी आँखों से चिनगारियाँ बरस रही थीं, मगर नन्दलाल ने उसे प्रेम की स्निग्ध-ज्योति ही समझी !

उन्होंने फिर पूछा—बोलो, क्या कहती हो ?

"मेरी समझ में यह बात नहीं आ रही है"—सुधा ने विषाद-भरी वाणी में कहा—"कि आज एकाएक आप इस तरह का प्रश्न क्यों पूछ रहे हैं ?"

"क्यों"—नन्दलाल ने जैसे अकचका कर पूछा—"ऐसा प्रश्न नहीं किया जाना चाहिए क्या ?"

"किया जाना चाहिए"—सुधा ने और भी कातर होकर जवाब दिया—"मगर वहीं, जहाँ उपेक्षा का आभास मिले।"

"नहीं सुधा !"—नन्दलाल गद्‌गद होकर बोले—"इसका यह अर्थ नहीं है कि तुम मुझे प्यार नहीं करती हो। मुझे 'आप' की अपेक्षा 'तुम' शब्द अधिक मीठा मालूम होता है, इसीलिए मैं चाहता हूँ कि तुम मेरे इस अनुरोध को मान लो, बात और कोई नहीं है।"

"मगर मुझे तो आपको 'आप' ही कह कर पुकारने में सुख मिलता है"—सुधा ने धीरे-धीरे मुस्करा कर जवाब दिया—"क्या आप मेरा यह सुख भी छीन लेना चाहते हैं ?"

नन्दलाल यदि इस कथन का कुछ भी मर्म समझ जाते, तो फिर इसके आगे उन्हें एक शब्द भी बोलने की हिम्मत न पड़ती। मगर उन्हें तो सुधा के प्रत्येक शब्द से अनुरक्ति की भीख मिल रही थी। वे बाग़-बाग़ होकर बोल उठे—नहीं-नहीं, ऐसा क्यों करती हो ? जिसमें तुम्हें सुख मिले, वही करो। तुम्हारे ही सुख से तो मैं भी सुखी हूँ।

सुधा ने हँस कर कहा—सचमुच ?

नन्दलाल ने उत्तर दिया—और नहीं क्या झूठ ? तुम मेरे प्राणों का भी प्राण हो।

इस बार भी सुधा ने हँस कर कहा—सचमुच ?

"अब लगीं न तुम दिल्लगी करने ?"—नन्दलाल ने ज़रा मचलते हुए कहा—"नहीं, झूठ ! बिलकुल झूठ !! लो, मैं जाता हूँ—देर हो रही है। कल फिर आऊँगा।"

नन्दलाल जब चले गए, तो सुधा उसी कमरे में दरवाजा बन्द करके बहुत देर तक बैठी-बैठी रोती रही। प्रेम का वह अभिनय उसे अभिशाप बन कर जला रहा था और वह जान-बूझ कर उसमें जल रही थी। जलती न तो करती क्या? दूसरा कोई चारा भी तो नहीं था!!

५

सुधा की हालत देख कर डॉक्टरों ने साफ़-साफ़ कह दिया कि उसके शरीर में क्षय-रोग धीरे-धीरे अपना घर बना चुका है। वह दिन दूर नहीं, जब वह खून उगलने लगेगी!

देखते ही देखते उसके गालों की लाली ग़ायब हो गई; आँखों का सारा रस न जाने कहाँ बह गया; सौन्दर्य का वह स्निग्ध सौरभ न जाने कहाँ उड़ गया! अब उसके शरीर में यौवन का प्रकाश नहीं रह गया था। धुँधली सन्ध्या की तरह उसकी वह दुर्बल काया अन्धकार का क्रीड़ा-क्षेत्र बन गई!!

नन्दलाल के होश हवा हो गए। शुभचिन्तकों ने बताया—देखो जी! सुधा से अब मिलना-जुलना बन्द कर दो। उसका रोग ऐसा है जो सम्पर्क से भी हो जाता है।

बाप ने ढाढ़स बँधाया—देखो बेटा! उससे भी बढ़ कर सुन्दर लड़की के साथ तुम्हारे विवाह की बात पक्की कर ली है। अब रुद्रप्रताप जी के घर कभी भूल कर भी मत जाना।

नन्दलाल ने स्वयं भगवान् को धन्यवाद दिया—अच्छा हुआ जो इसके साथ मेरा विवाह न हुआ, नहीं तो जन्मभर रोते ही बीतता। क्षय क्या कुछ ऐसा-वैसा रोग है?

उसके प्रेम की सारी प्रतिज्ञाएँ काफ़ूर हो गईं! स्नेह के सारे सङ्केत विलीन हो गए! 'तुम' और 'आप' की मधुरता का सारा स्वाद नष्ट हो गया। अब न वह सुधा रही, न वह नन्दलाल रह गए। अब वे भूल कर भी सुधा के पास न जाते।

नन्दलाल का आना-जाना बन्द देख कर सुधा की माँ समझ गई कि क्या मामला है। पण्डित रुद्रप्रताप जी अभी तक कुछ नहीं समझ सके थे, या कुछ-कुछ समझ कर भी चुप थे।

सुधा की माँ ने आँखों में आँसू भर कर कहा—अब भी मेरी विनती मान लो। जाओ, सुबोध को बुला लाओ। उसे देखते ही सुधा उठ बैठेगी।

पण्डित जी जल-भुन कर बोले—तुम्हारे होश-हवास ठिकाने हैं या नहीं, दो-दो जगह कहीं किसी का विवाह हुआ है?

"तुम्हें शरम तो आती नहीं"—शेरनी की तरह कड़क कर सुधा की माँ ने जवाब दिया—"क्या तुम्हें अब भी आशा और विश्वास है कि नन्दलाल को तुम अपना दामाद बना

सकोगे ? वह उलट कर तुम्हारा घर झाँकने तो आएगा ही नहीं, विवाह की बात तो दूर रही।"

पण्डित जी इस बार न जाने क्यों सकबका से गए। शायद उन्हें भी कुछ ऐसी ही आशङ्का होने लगी थी। वे चुपचाप वहाँ से चलते बने।

६

"अन्त में जीत तुम्हारी ही हुई। मुझे स्वप्न में भी ख्याल नहीं था कि वह छोकरा इस तरह दग़ा देकर निकल भागेगा।"

"क्या हुआ ?"—सुधा की माँ ने पूछा।

"वही जो तुम कह रही थीं ?"—पण्डित रुद्रप्रताप जी रोनी सी आवाज़ में बोले—"नन्दलाल ने दूसरी जगह अपना विवाह कर लिया।"

सुधा की माँ को इस समय अपने पति पर दया नहीं आई—उसके हृदय में क्रोध की ज्वाला भभक उठी। तीखे स्वर में वह बोली—जाओ न अब, कहाँ जाते हो ? बेटी को पटरानी बनाने की साध पूरी हो गई न ? अब अपने किए पर रोते भी तो न बनेगा !

"सचमुच रोते भी नहीं बनेगा"—पण्डित जी की आँखें डबडबा आईं—कौन सा मुँह लेकर रोऊँगा अब मैं ? अब तो न इधर का रहा, न उधर का।"

"अपनी करनी का फल भोगो और करोगे क्या ?"

"सो तो भोगना ही पड़ेगा"—पण्डित जी ने बड़ी दीनता से कहा—"लेकिन क्या ऐसे समय में तुम भी मेरा साथ न दोगी, सुधा की माँ ?"

सुधा की माँ जैसे कट सी गई। उसका सारा मान, सारा रोष बात की बात में हवा हो गया। पति की यह दीनता उससे देखी न गई। उनके चरणों पर लोट पड़ी और स्नेह-गद्गद स्वर में बोली—तुम्हारा साथ छोड़ कर भला मैं किसकी छाया में रह सकूँगी, मेरे देवता ? मेरे अपराध क्षमा कर दो, मैंने तुम्हे बहुत चोटें पहुँचाई है।

पण्डित जी ने उसे आदरपूर्वक उठा लिया और सिर झुका कर कहा—क्षमा तो मैं तुमसे माँग रहा हूँ; मैंने तुम्हें पहचानने में बड़ी भूल की। अब बताओ, मुझे क्या करने को कहती हो ?

"मैं क्या बताऊँ ?"—सुधा की माँ ने सच्चे हृदय से कहा—"तुम जैसा उचित समझो, करो।"

"नहीं, जो कुछ तुम कहोगी वही करूँगा।"

पति की इस मधुर पराजय ने पत्नी के हृदय की सारी सुकुमार भावनाओं को हिला दिया। वह गद्गद स्वर में बोल उठी—मुझे एक भीख दो।

"माँगो ! दूँगा—सर्वस्व लुटा कर भी दूँगा।"

"सुधा की जीवन-भिक्षा माँगती हूँ।"

पण्डित जी के कलेजे पर जैसे किसी ने कटारी मार दी। तड़पती हुई वाणी में वे बोल उठे—जिस तरह भी तुम्हारी बेटी अच्छी हो सके, मुझे बताओ। मैं सब कुछ करने को तैयार हूँ।

"उसे और कुछ नहीं हुआ है, सुबोध को देखते ही वह उठ बैठेगी—ऐसा मेरा मन मुझे बार-बार कह रहा है।"

"तो क्या कहती हो?"

"सुधा को उसके जिम्मे सौंप दो।"

"मगर अब वह न माने तो?"

"तुम एक बार कोशिश तो करो।"

"अच्छी बात है—अभी जाता हूँ।"

७

सुबोध के पास से पण्डित रुद्रप्रताप जी लौटे तो क्रोध के मारे आग-बबूला हो रहे थे। पत्नी को देखते ही गरज उठे—कहता न था मैं तुमसे कि वह न मानेगा?

"क्या कहा?"

"कहेगा क्या? मुँह से तो कुछ नहीं बोला, मगर उसके व्यवहारों से साफ-साफ मालूम हो गया कि वह इस घर में पैर रखना भी पाप समझता है। छोकरा विलायत क्या हो आया, मानो स्वर्ग का देवता बन गया। सीधे मुँह बातें तक नहीं कीं।"

"अगर वह इस घर में पैर रखना भी पाप समझता है, और सीधे मुँह उसने तुमसे बातें भी नहीं कीं, तो कोई आश्चर्य नहीं। उसके साथ तुमने जैसा सलूक किया है, उसकी अपेक्षा यह तुम्हारे लिए कुछ अधिक अपमान की बात नहीं होनी चाहिए। मालूम होता है, तुम शान के मारे उससे कोई बातचीत न करके केवल उसके व्यवहारों की ही परीक्षा में अपनी सारी लियाक़त खर्च कर आए हो, क्यों?"

पत्नी की इन बातों ने पण्डित जी के ऊपर वही काम किया, जो कटे हुए घाव पर नमक किया करता है। वे क्रोध के मारे झल्ला कर बोले—वह भी मुँह से कुछ बातें निकालता था केवल मैं ही पागलों की तरह उसके आगे बैठा-बैठा बड़बड़ाता रहता?

"आख़िर उसने तुमसे कुछ कहा भी?"

"कुछ नहीं।"

"तुमने बात छेड़ी थी?"

"और नहीं क्या, उसकी सूरत देखने गया था?"

"कहीं इसी तरह उससे भी तो नहीं बातें कीं?"

"तुम समझती हो कि मैं उसके चरण धोकर पीऊँगा?"

"अगर मैंने ऐसा किया होता तो यही करती।"

"तो जाओ, तुम करो जैसा तुम्हारा जी चाहे......!"

"और तुम इतने सस्ते न छूट सकोगे"—सुधा की माँ तन कर खड़ी हो गई—"मेरी बेटी के प्राण तुम्हें बचाने होंगे। सुबोध को मनाना होगा—चाहे जिस तरह से हो। यह काम पूरा करके ही तुम छुट्टी पा सकोगे।"

"तुम मुझे इस घर में रहने दोगी या नहीं ?"

"तुम्हारी इस धमकी से मैं डर न सकूँगी ?"

"अच्छी बात है"—कह कर पण्डित जी तेजी के साथ आँगन से बाहर निकल गए। सुधा की माँ माथे पर दोनों हाथ पटक कर वहीं बैठ गई, और रोने लगी। उसे इस समय भरपेट रोने के सिवाय और कोई उपाय ही नहीं सूझता था।

पण्डित जी जिस समय आँगन से निकले, उस समय कुछ-कुछ अँधेरा छा गया था। उन्हें होश नहीं था कि वे किधर को जा रहे हैं। क्रोध, सन्ताप और अपमान की तीखी-तीखी ज्वालाएँ उनके शरीर को वेतरह बिंध रही थीं, वह एक तरह से पागल-से हो उठे थे। इसी तरह वे राह में चले जा रहे थे कि सामने ही जाते हुए नन्दलाल पर उनकी दृष्टि पड़ गई। उसे देखते ही उनकी आँखों में खून उतर आया।

दौड़ कर उसके पास जा पहुँचे और जोर से उसका एक हाथ पकड़ कर खींचते हुए बोले—तुम्हें शर्म तो नहीं आती होगी ?

सरे-आम—बीच सड़क पर अपना यह अपमान देख कर उस युवक का खून खौल उठा। वह सब कुछ भूल गया। पण्डित जी को जोर से एक झटका देते हुए अपना हाथ छुड़ा कर वह बोला—क्यों, शर्म काहे की बे ? कहीं चोरी की है ?

पण्डित जी क्रोध के मारे कॉप रहे थे। दाँत पीस कर बोले—चोरी नहीं, बेईमानी; नीच ! तूने मेरे साथ घोर बेईमानी की है। दग़ाबाज़ ! तूने धोखे से मेरे सोने के घर मे आग लगा कर उसे आज मिट्टी में मिला दिया है। बेहया ! तूने बेशर्मी के साथ मुझसे विश्वासघात किया है ! निर्लज्ज ! नारकीय !! अधम !!! तूने...... ।

"बस, बस, बहुत हो चुका ; अब ज़बान हिलाओगे तो मुँह के सारे दाँत तोड़ कर पेट मे घुसेड़ दूँगा"—कह कर नन्दलाल ने जोर से उनकी गर्दन दबा दी और अपने साथियों को हुक्म दिया—"मारो साले को, देखा जायगा।"

पण्डित जी पर भरपूर मार पड़ी। बेचारे बेदम से हो कर गिर पड़े। इसी समय उस जगह एक मोटर आकर खड़ी हो गई। मोटर से हड़बड़ा कर एक युवक उतर पड़ा। पण्डित जी बेहोश नहीं हो गए थे, युवक के ऊपर नजर पड़ते ही बुक्क फाड़ कर रो पड़े। सुबोध अधिक देर तक वहाँ खड़ा न रह सका, पण्डित जी को मोटर पर चढ़ा कर तेजी के साथ वहाँ से चल पड़ा।

८

पण्डित रुद्रप्रताप जी के घाव में मरहम-पट्टी बाँध चुकने के बाद सुबोध एक क्षण भी वहाँ नहीं रुक सका। सबकी आँख बचा कर चुपचाप वह उस कमरे से निकल गया। सुधा की माँ को रोने ही से फ़ुरसत नहीं थी। रोते ही रोते वह बोल उठी—भगवान् ने कोख में यह बेटी भी न दी होती, तो मेरा क्या बिगड़ा जाता था! इसी के पीछे न इतना हो रहा है! एक सुबोध की आशा थी, वह भी गई! न जाने अभागिनी के भाग्य में क्या लिखा है—स्वयं तो जायगी हीं, हमें भी ले बीतेगी।

बेचारी सुधा बहुत दिनों से जानती थी कि सारे अनर्थों की जड़ मैं ही हूँ। मगर वह करती क्या? उसके हाथ में तो कोई बात थी नहीं। माँ-बाप के झगड़े पर वह अपनी सूनी कोठरी में न जाने कितने आँसू बहा चुकी थी! माँ की ये बातें भीत की आड़ में खड़ी रहने के कारण उसने साफ़-साफ़ सुन लीं। अब उसके आँखों के आगे अँधेरा छा गया। उसने समझ लिया कि दुनिया में उसे सान्त्वना देने वाला अब कोई नहीं रह गया। वह सोचने लगी—उन्होंने भी 'नाहीं' कर दी। यहाँ आए तो मेरी ओर आँख उठा कर एक बार ताका तक नहीं। माँ भी कह रही हैं—"इसी के पीछे न इतना हो रहा है? स्वयं तो जायगी ही, हमें भी ले

बीतेगी !" अब मैं किसके भरोसे पर जीवन धारण करूँ? मेरे जीवन का मूल्य ही क्या है? क्यों न सारी झञ्झटों का अन्त कर दूँ? सबकी गालियाँ सुन कर जीवित रहने से क्या लाभ?.........

इसी तरह सोचते-सोचते उसने आत्मघात करने का दृढ़ सङ्कल्प कर लिया। उसे अपने जीवन से घृणा हो गई। इधर उसकी माँ उसके बाप के पास बैठी अपने भाग्य पर रो रही थी, उधर सुधा अपने कमरे मे बैठी एक भीषण काण्ड की सृष्टि कर रही थी!

उसने सन्दूक़ से एक तस्वीर निकाली और उसके साथ ही निकाली एक चमचमाती हुई कटारी। तस्वीर को सामने रख कर वह घुटने टेक कर बैठ गई। कुछ देर उसी तरह बैठी रहने के बाद वह एकाएक अपनी छाती में कटारी भोंकने ही को थी कि पीछे से किसी ने उसका हाथ पकड़ लिया। कटारी झन्न से ज़मीन पर जा गिरी। सुधा ने फिर कर देखा, सुबोध अपनी आँखों में आँसू भरे खड़ा था। उसने सुधा को छाती से लगा लिया और कहा—चलो, बाबू जी को देख आएँ।

दुखिया

दुखिया

मोटर बड़ी सफ़ाई से मोड़ ली गई, नहीं तो वह बच नहीं सकती थी। उस दैन्य-जर्जर शरीर के लिए एक ही धक्का बहुत था। वह गिर पड़ी—केवल गिर ही नहीं पड़ी, उसका सिर भी फट गया! उसके फटे-पुराने वस्त्र ख़ून से तर हो गए! मगर स्वयं उसे इन बातों की खबर थी या नहीं, यह वही जाने। जब उसने देखा कि अपराधी की तरह काँपता हुआ एक बहुत ही सुन्दर नवयुवक उसे उठाने की चेष्टा कर रहा है, तब वह इस तरह उठ बैठी, मानो उसे कुछ हुआ ही नहीं था। युवक राजमोहन ने चटपट अपनी जेब से एक रूमाल निकाल कर उसके घाव पर पट्टी बाँध दी।

अभी वह कुछ कहने ही जा रहा था कि उस भिखारिणी युवती की आँखें अपने बिखरे हुए अनाज पर जा पड़ीं। वह व्यग्र भाव से माथा ठोक कर बोल उठी—हाय! दो दिन से माई के पेट में एक दाना भी नहीं गया है। मेरे

आसरे में बैठी भूख के मारे न जाने वह किस तरह तड़प रही होगी ! अब घर जाकर उसे मैं क्या खिलाऊँगी ?

उसके दुर्बल हाथों में मिट्टी का एक छोटा सा बर्तन था। उसी में दिन-भर की माँगी हुई उसकी भीख थी। तरह-तरह के कच्चे-पक्के अन्न मिले हुए थे। घर जाकर उसी बर्तन में वह उन्हें किसी तरह उबाल लेती और माँ-बेटी मिल कर अपने-अपने पेट की जलन बुझातीं। मगर मोटर के धक्के ने उसकी सारे दिन की कमाई मिट्टी में मिला दी ! बर्तन चूर-चूर हो गया। सारे अन्न इस तरह बिखर गए कि उनका एकत्र किया जाना सम्भव नहीं था।

भूख के मारे तड़पती हुई अपनी बूढ़ी माँ का ध्यान आते ही वह अधीर हो उठी। बड़ी कातरता से एक बार राजमोहन की ओर देख कर वह जल्दी-जल्दी उन दानों को चुनने लगी।

इसी समय एक लाल पगड़ी वाले ने उसे धक्का देकर कहा—उठ यहाँ से। चल, थाने में चलना होगा।

थाना चलने की बात सुन कर वह डर के मारे काँप उठी। दैन्य-भाव से सिपाही की ओर देखती हुई बोली—मेरी माई भूख के मारे मर रही होगी—मुझे घर जाने दीजिए सरकार !

"उठती है या बैठी-बैठी बातें बनावेगी ?"—निर्दयता से

उस अवला का हाथ पकड़ कर झिटकते हुए लाल पगड़ी वाले ने कहा—"थाने चल कर रपट लिखाए बिना कहीं जाने का नाम लिया तो जीभ पकड़ कर खींच लूँगा।"

भिखारिणी डर के मारे और कुछ न कह सकी। वह अत्यन्त करुण-दृष्टि से राजमोहन की ओर देखने लगी। वह बेचारा सिर झुकाए चुपचाप खड़ा था।

२

थानेदार की आँखें उसी लाली में रँगी हुई थीं, जिसे देख कर मनुष्यता काँप उठती है। उसने अपनी भौंहें तान कर एक बार राजमोहन को सिर से पैर तक देखा, फिर भिखारिणी की ओर मुँह करके कड़कती हुई भाषा में कहा—तुम्हारा नाम क्या है?

"दुखिया"—उसने काँपते हुए कण्ठ से कहा।

"बाप का नाम?"—काग़ज़ पर पेन्सिल घसीटते हुए थानेदार साहब ने फिर उसी तरह कड़क कर पूछा।

"महरू कहार।"—दुखिया की आँखो के आगे अँधेरा छा गया।

"जात?"

"कहारिन।"

"रहती कहाँ है?"

"लालूचक में, सरकार!"

"अच्छा"—पेन्सिल रख कर, अपनी बड़ी-बड़ी मूँछों पर हाथ फेरते हुए थानेदार ने कहना शुरू किया—"अब मैं तुमसे जो-जो बातें पूछूँ उनका ठीक-ठीक जवाब दोगी ?"

"हाँ, सरकार !"

"तो बताओ"—थानेदार ने उसके माथे की ओर इशारा करते हुए पूछा—"यह खून कैसा बह रहा है ?"

"खून ?"—दुखिया ने घबड़ा कर लोहू से भींगे हुए अपने केशों पर हाथ रख कर कहा। साथ ही उसके चेहरे पर हवाइयाँ उड़ने लगीं।

"खून ?"—थानेदार ने दाँत पीस कर कहा—"और हमी से पूछती है खून ? तुम्हें मालूम नहीं कि तुम्हारे माथे में पट्टी बँधी हुई है, तुम्हारे बाल और कपड़े खून से तर हैं ?"

दुखिया कुछ जवाब न दे सकी। वह आँखों में आँसू भर कर दीन-भाव से थानेदार की ओर देख रही थी।

थानेदार भला इस मूक कातरता को क्या जान सकता था। उसने फिर उसी तरह पूछा—इस तरह मेरी ओर ताकने से क्या होगा ? बताओ, तुम्हारा सिर किसने फोड़ा ?

"फोड़ा तो किसी ने भी नहीं सरकार !"—दुखिया ने हाथ जोड़ कर जवाब दिया—"ठोकर खाकर अपने आप रास्ते में गिर पड़ी थी, उसी समय चोट लग गई होगी। मुझे तो कहीं पीड़ा भी नहीं होती।"

"पीड़ा कैसे होगी ?"—थानेदार ने आग-बबूला होकर राजमोहन की ओर इशारा करते हुए कहा—"इस बाबू से कितने रुपए लेकर इस तरह की बातें कर रही हो ?"

"इनसे रुपए क्यों लूँगी, सरकार ?"—दुखिया ने आश्चर्य का भाव व्यक्त करते हुए जवाब दिया,—"इन्हीं बाबू ने तो मेरी जान बचा ली। दूसरा कोई होता तो आँखें बन्द करके चल देता। घाव पर जो आप पट्टी देखते हैं, वह भी तो इन्हीं की बाँधी हुई है।"

"सिर इन्होंने फोड़ा तो पट्टी कौन बाँधने जाता—मैं ?" कह कर थानेदार ने हाथ में हण्टर उठा कर उसे धमकाना शुरू किया—"अब अगर सच्ची-सच्ची बातें न बताओगी, तो इसी हण्टर से खबर ली जायगी। बताओगी इनकी मोटर का धक्का खाकर तुम गिरी हो या नहीं ?"

"नहीं, कभी नहीं, मैं अपने आप ठोकर खाकर गिर पड़ी थी—इस बाबू ने मेरी जान बचाई है।"

"फिर भी वही बात ?"—कह कर थानेदार ने उस अबला पर सड़ाक से हण्टर जमा दिया। वह चीख मार कर रो पड़ी।

राजमोहन अब तक चुपचाप खड़ा-खड़ा थानेदार की सारी लीला देख रहा था। दुखिया के ऊपर ऐसा अत्याचार होते देख कर वह क्रोध के मारे काँप उठा। मगर वहाँ

गम्भीरता के साथ अपने उस भाव को दबाते हुए बोला—क्यों साहब ! आप उस बेचारी से मार-पीट कर बयान लिखवाया चाहते हैं ?

"आप इस समय चुप रहिए"—थानेदार ने उसे डपट कर उत्तर दिया—"मेरी बातों में दख़ल देने का आपको कोई हक़ नहीं है।"

"यह तो ठीक है"—राजमोहन ने नम्रतापूर्वक जवाब दिया—"मगर इस बेचारी को झूठ-मूठ तङ्ग करने से क्या फ़ायदा ? आपको जो कुछ पूछना हो, मुझसे क्यों नहीं पूछते !"

"इससे बयान लिखवा कर तब आपसे पूछूँगा; तब तक चुपचाप बैठे रहिए"—उसकी बातों का उत्तर देते हुए थानेदार ने एक सिपाही से कहा—"ले चलो, इस हरामज़ादी को कमरे में बन्द करो। तब यह सीधे मुँह बातें करेगी।"

एकान्त कमरे में ले जाकर थानेदार ने दुखिया को हर तरह से डराया-धमकाया, ख़ूब मारा-पीटा, कई प्रकार के लालच दिखाए, लेकिन उसने राजमोहन के विरुद्ध एक भी ऐसी बात न बताई, जिससे थानेदार की पाँचों उँगलियाँ घी में पड़ सकतीं।

थानेदार ने कहा—देखो, तुम्हें सरकार से मुक़दमा लड़ने को रुपए मिलेंगे, तुम नालिश करो।

दुखिया ने कहा—जिसने मेरी जान बचाई है, उसके ऊपर इलज़ाम लगाने के पहले मैं मर जाना ही पसन्द करूँगी।

थानेदार दाँत पीस कर रह गया। उसके हाथ से एक बड़ा ही अच्छा शिकार छूटा जा रहा था। वह क्रोध के मारे पागल-सा हो गया। दुखिया का झोंटा पकड़ कर, उसे कमरे से बाहर निकालते हुए, धक्का देकर बोला—मरना ही पसन्द करती हो तो जाओ, मरो।

दुखिया बेहोश होकर वहीं गिर पड़ी। अब थानेदार साहब की आँखें खुलीं। उसकी बेहोशी देख कर उनके होश भी हवा हो गए। उसके घाव से फिर उसी तरह खून का फ़व्वारा छूट पड़ा। उन्होंने कातर-दृष्टि से राजमोहन की ओर देख कर कहा—बाबू साहब! क़सूर माफ़ कीजिएगा! मुझसे बड़ी भारी गुस्ताख़ी हो गई। किसी तरह इसकी बेहोशी दूर करके इसे यहाँ से ले जाइए। मैं नहीं जानता था कि यह इतनी कमज़ोर है।

"नहीं तो अभी कुछ देर तक कमरे में बन्द करके इसे और मारते-पीटते; क्यों?"—कह कर राजमोहन ने अपने आग्नेय नेत्रों से एक बार थानेदार की ओर देखा। क्रोध के मारे युवक का खून खौला जा रहा था। लज्जा और भय के मारे थानेदार उसकी ओर आँखें उठा कर देख भी न सका।

राजमोहन दुखिया को मोटर पर बैठा कर वहाँ से चलता बना।

३

होश में आते ही दुखिया ने पूछा—मैं कहाँ हूँ, बाबू?

"तुम अस्पताल में हो दुक्खो!"—राजमोहन ने उसके घाव की पट्टी का बन्धन कसते हुए उत्तर दिया।

"यहाँ मुझे कौन ले आया? मेरी माई कहाँ है?"—कह कर दुखिया वेग से उठ बैठी।

"देखो, दुक्खो! इस तरह जोर करने से तुम फिर वेहोश हो जाओगी। आज रात भर यहीं आराम करो। सवेरे मैं तुम्हें माई के पास पहुँचा दूँगा।"—कह कर राजमोहन ने उसे बिस्तरे पर लिटा दिया।

"रात भर?"—दुखिया ने आँखों में आँसू भर कर पूछा—"रात-भर में तो मेरी माँ मर ही जायगी! उसने दो दिनों से कुछ नहीं खाया है।"

"तो तुम मुझे अपने घर का पता बता दो"—राजमोहन ने उसे दिलासा देते हुए कहा—"मैं तुम्हारी माँ के खाने-पीने का सब इन्तज़ाम ठीक करे देता हूँ।"

"हाँ, यह तो ठीक है, मालिक!"—दुखिया ने सिसकते हुए जवाब दिया—"मगर मेरे बिना तो वह मुँह में एक दाना भी नहीं डालेगी, मुझे यहाँ से ले चलिए।"

इसी समय राजमोहन का नौकर—वही जो मोटर में उनके साथ रहा करता था—दुखिया के लिए एक कटोरा गरम दूध ले आया।

राजमोहन ने उसके हाथ से कटोरा लेकर दुखिया के पास रखते हुए कहा—अच्छा, पहले तुम यह दूध पी लो, फिर पहुँचा दूँगा।

"नहीं, बाबू जी! मुझसे इस समय कुछ खाया-पिया न जाएगा। मेरी माई वहाँ भूख के मारे मर रही होगी। मुझे उसीके पास पहुँचा दीजिए।"—दुखिया अपनी माँ की उस दुःखद स्मृति में फूट-फूट कर रोने लगी।

राजमोहन को विवश होकर उसी की बात माननी पड़ी। उसे लेकर वह उसकी माँ के घर पहुँचा। वहाँ भीषण अन्धकार छाया हुआ था। दुखिया ने वहाँ की नीरवता भङ्ग करते हुए पुकारा—माँ!

मगर माँ ने कोई जवाब नहीं दिया।

दो क़दम और आगे बढ़ कर उसने अधीर वाणी में पुकारा—माँ!

मगर इस बार भी उसे कोई उत्तर न मिला। वह और भी जोर-जोर से पुकारने लगी। उसका इस प्रकार चिल्लाना सुन कर पड़ोस के दो-चार लोग आ जुटे। वे लोग आँगन के बाहर ही खड़े होकर तरह-तरह से सान्त्वना देने लगे।

एक ने कहा—अब माँ-माँ कह कर क्या चिल्ला रही हो बेटी! वह बेचारी तो आज दोपहर दिन ही में चल बसी। हम लोगों को भद्दुआ की बेटी ने जाकर सुनाया कि 'बुढ़िया मौसी' आँगन में चित पड़ी है। जब तक हम लोग आए, बेचारी के प्राण-पखेरू उड़ चुके थे। बहुत देर तक तो हम लोग तुम्हारे ही आसरे में बैठे रहे, मगर जब दिन डूबने पर हो गया, तब जाकर उसे गङ्गा जी में छोड़ आए। अब झूठ-मूठ रोने-कलपने से क्या होगा?

मगर उनमें से किसी ने भी नहीं देखा कि दुखिया इस तरह झूठ-मूठ रोने-कलपने के लिए अब तक खड़ी नहीं थी। उन लोगों की आधी बातें सुनते ही वह चीख मार कर आँगन में गिर पड़ी।

चलते समय उनमें से एक दूसरे सज्जन और भी ऊँची आवाज़ में कहते गए—अब रोने-धोने की कोई जरूरत नहीं बेटी! विधाता की रेख कोई नहीं मेट सकता। धीरज बाँध कर चुपचाप सो रहो।

पता नहीं, सान्त्वना के इतने सुन्दर शब्द दुखिया के कानों में पहुँचे भी या नहीं?

४

राजमोहन के घर आए दुखिया को सात महीने से भी अधिक हो गए। अपने स्वभाव और कार्य से वह अपने

मालिक और अपनी मालकिन को बराबर मुग्ध ही करती गई। राजमोहन तो उसे ममता और स्नेह की दृष्टि से देखते ही थे, उनकी स्त्री सुलोचना भी उसे बहुत मानने लगी थी। उसे हर तरह से खाने-पहनने का सुख दिया करती थी। जहाँ तक होता, उससे ऐसा ही काम लिया करती, जो हलका और सुखकर हो।

उसके इस सौभाग्य पर और किसी को डाह थी या नहीं, यह तो हम नहीं जानते; हाँ, लीला नाम की एक महरी उससे बहुत जला करती थी। दुखिया के पहले वही सुलोचना की ख़ास परिचारिका थी। अब उसे रसोई-घर के बर्तन माँजने पड़ते हैं। दिन-रात उसके ऊपर काम का भार लदा रहता है। और दुखिया? वह केवल मालिक-मालकिन की सेवा-टहल करके दिन-रात मौज किया करती है। अच्छा खाना खाती है, अच्छे-अच्छे कपड़े पहनती है। इतनी बातें क्या लीला का जी जलाने को काफ़ी नहीं हैं?

दुखिया का स्वभाव इतना मीठा था कि वह भूल कर भी किसी का दिल दुखाना नहीं जानती थी। किसी का थोड़ा सा भी दुःख देख कर उसका कोमल हृदय मोम की तरह पिघल पड़ता था।

एक दिन उसने देखा कि लीला का बायाँ हाथ कुछ

सूज गया है और वह बड़े कष्ट से वर्तन माँज रही है। दुखिया से न रहा गया। वह धीरे-धीरे उसके पास पहुँच कर कोमल स्वर में बोली—लीला जीजी! तुम्हारा हाथ सूज गया है, कष्ट हो रहा होगा। लाओ, आज मैं ही तुम्हारा काम कर दूँ।

यद्यपि ये बातें सच्चे हृदय से कही गई थीं, फिर भी लीला ने इसे व्यङ्ग ही समझा। वह झल्ला कर बोल उठी—मेरा काम तुम काहे को करोगी? मेरे क्या हाथ-पैर गल गए?

दुखिया को इस प्रकार के तीखे उत्तर की आशा नहीं थी। उसने फिर बड़े ही कोमल भाव से कहा—"हाथ-पैर तुम्हारे दुश्मन के भी न गले, बहिन! तुम्हारे क्यों गलेंगे? एक दिन तुम्हें थोड़ी सी मदद पहुँचा दूँगी तो क्या मेरा इज्जत-पानी उतर जायगा? लाओ, मैं वर्तन माँज देती हूँ।" इतना कह कर ज्योंही उसने वर्तन में हाथ लगाया, त्योंही लीला उसका हाथ पकड़ कर झिटकती हुई बोल उठी—"यह सब हमको अच्छा नहीं लगता है, दुक्खो! तुम मुझे इस घर से भगाने पर तुली हो क्या? मालकिन या मालिक देख लें तो सामत आए मेरी, तुम्हें क्या? तुम तो झमकती हुई कोठे पर चढ़ जाओगी! जाओ, मुझे चुपचाप अपना काम करने दो, मेरा जी मत जलाओ।"

"मैं तुम्हारा जी कहाँ जला रही हूँ, लीला ?"—दुखिया ने आश्चर्य और विषाद-भरी वाणी में, अपने ओठों पर एक उँगली रखते हुए, बड़ी ही कातरता से पूछा।

"इसको जी जलाना नहीं, तो और क्या कहते हैं ?"—लीला ने आँखें गुड़ेरते हुए जवाब दिया—"तुम जैसी दिन-रात में मिला कर पचासों बीड़ा पान चबाने वाली रानी, मुझ जैसी महरी के बर्तन माँजने आवे, यह दिल्लगी नहीं तो और क्या है ? तुम्हारे ये कोमल-कोमल हाथ क्या इसीलिए बने हैं ?"

दुखिया क्षोभ के मारे और कुछ न बोल सकी। उसने समझ लिया कि लीला का दिल उसकी ओर से साफ़ नहीं है। अपने मन में तरह-तरह की बातें सोचती हुई वह उदास होकर वहाँ से हट गई। आज उसके जीवन की सारी शान्ति एकाएक सिहर उठी !

५

लीला ने हाथ जोड़ कर कहा—मालकिन ! अब मुझे छुट्टी मिले।

सुलोचना ने चकित होकर कहा—क्यों लीला ?

"इसलिए कि इस घर में अब मेरा गुजारा न हो सकेगा ?"

"ऐसी क्या बात आ पड़ी ?"

"आ न पड़ी, तो एक न एक दिन आ ही पड़ेगी। आते क्या देर लगती है?"

"वही तो पूछ रही हूँ, क्या हुआ?"

"होगा क्या? जब इस घर की मालकिन ही मेरे ऊपर नाराज हैं, तब मैं कै घड़ी यहाँ टिक सकूँगी!"—लीला ने आँखों में आँसू भर कर कहा—"किसी दिन गुस्से में आकर कुछ कहा-सुनी हो गई, तो कौन जाने पीछे मेरे ऊपर क्या बीते? इसीलिए पहले ही से अपनी इज्जत-आबरू बचा कर चली जाऊँ, यही ठीक है।"

सुलोचना उसकी बातों का कोई मतलब न समझ सकी, उसने पूछा—तुम कह क्या रही हो लीला? कौन मालकिन तुमसे नाराज है? मुझसे तो तुम्हारा मतलब नहीं है?

"आप भला मुझ दासी पर क्यों नाराज होंगी, सरकार!"

लीला ने आँसू पोंछते हुए जवाब दिया—आप तो अपनी छोटी बहिन की तरह मुझे सदा से मानती आ रही हैं।

"फिर तुम कह किसके बारे में रही हो?"

"जो आजकल इस घर की पटरानी बनी हुई, मेरे मालिक बाबू को अपनी उँगली के इशारे पर नचा रही है, उसी के बारे में!"

सुलोचना यह उत्तर पाकर सिर से पैर तक काँप उठी।

उसने आतुरता से पूछा—साफ-साफ बताती क्यों नहीं? इस तरह पहेली पर पहेली गढ़े जाने से फ़ायदा?

"साफ-साफ क्या बताऊँ सरकार!"—उसने बिलख-बिलख कर कहना शुरू किया—"कहने की हिम्मत नहीं पड़ती। कौन जाने कहीं आप भी कुछ दूसरा ही समझ बैठें या मालिक बाबू से कह दें, तो मैं गरीबिन बेमौत मारी जाऊँ!"

सुलोचना का कलेजा धड़कने लगा। ललाट पर के पसीने की बूँदें पोंछती हुई वह बोली—लीला! आज तक तुम्हें मैंने कभी कोई कड़वी बात कही है? फिर तुम डर क्यों रही हो? क़सम ले लो, तुम्हारी कही हुई बातों में से एक शब्द भी अगर मैं उन्हें जानने दूँ; तुम्हे जो कुछ कहना हो निडर होकर कह जाओ।

"नहीं, मुझसे ये सब बातें मत कहवाइए, मैं न कह सकूँगी। हाय रे दैव! अपनी आँखों से यह लीला देखने को मैं जीती ही क्यों रही?"—कह कर लीला ने ऐसी विकलता का नाट्य किया कि सुलोचना सचमुच सिहर उठी।

उसने प्यार से लपक कर लीला का हाथ पकड़ लिया और कहा—तुम्हें बताना पड़ेगा!

"मगर आपको किसी से न कहने का वचन देना पड़ेगा।"

"मैं पहले ही दे चुकी हूँ, फिर भी......"

"सुनने के पहले अपने हृदय को पत्थर बना लेना पड़ेगा।"

"वह अपने आप बन जायगा, तुम कहो।"

"तो सुनिए......"

"कहो न, रुकती क्यों हो ?"

"मालिक बाबू...दुखिया के......"

सुलोचना थरथरा के वहीं बैठ गई। उसने बीच ही में उसे रोक कर कहा—बस, इसके आगे कुछ मत कहो। मैं सब समझ गई। तुम्हारा अनुमान ठीक हो सकता है।

"अनुमान नहीं, यह सच्ची बात है।"—लीला ने ढीठ भाव से ज़ोर देकर कहा—"इसे आपके सिवाय इस घर के सभी लोग बहुत दिनों से जानते हैं। मैं तो यह लीला देख कर मन ही मन आपकी दशा पर दिन-रात रोया करती हूँ। मगर कुछ कर नहीं सकती। फूँक-फूँक कर पाँव धरती हूँ। वह तो मुझे अपनी राह का काँटा ही समझती है। इसलिए मैं अब इस घर में नहीं रहना चाहती। पानी में रह कर मगर से कौन वैर करे ? आपका नमक खाती हूँ, आप ही की मैं पुरानी चेरी हूँ, इसलिए आपको आगाह कर दिया—अब आप जानें और आपका काम जाने। मैं जाती हूँ।"

"जाती कहाँ हो ? जब तक मैं हूँ, तुम्हें कहीं नहीं जाने दूँगी।"—कह कर सुलोचना ने उसके हाथ पकड़ लिए।

लीला उसके पैरों पर लोट गई और बोली—दुखिया मुझे यहाँ नहीं रहने देगी, सरकार! आप मुझे छुट्टी दीजिए।

सुलोचना अपने हृदय का वेग सँभालती हुई बड़े कष्ट से बोली—मगर सच कहो लीला! यह बात ठीक है? कहीं तुम्हे धोखा तो नहीं हो गया है? मालिक का तो स्वभाव ऐसा नहीं है!

"इसीलिए तो मैं कहती थी"—लीला ने मान-भरी वाणी में कहना शुरू किया—"आप मुझसे ये सब बातें मत कहलावें। अब मैं किस तरह आपको विश्वास दिलाऊँ कि मैंने जो कुछ कहा है, उसका एक अक्षर भी झूठ नहीं हो सकता। कुछ सुनी-सुनाई बातें तो हैं नहीं—दिन-रात अपनी आँखों से देखा करती हूँ। हाँ, आपकी आँखों में जरूर धूल झोंकी जाती है।"

"मैं तुम्हें झूठी नहीं बनाती, लीला!"—सुलोचना बहुत ही कष्ट से बोली—"मगर न जाने मेरा मन इसे क्यों नहीं क़बूल करता?"

"यह मेरा दुर्भाग्य है, और क्या?"—कह कर लीला ने एक माया-भरी आह खींची और फिर कहना शुरू किया—"न जाने आज किसका मुँह देख कर उठी हूँ। लोग चाहे जो

करें, मेरे बाप का क्या बनता-बिगड़ता था, जो मैं अपने पेट में एक बात न पचा सकी। जिसके हित की कहो, वही बैरी समझ बैठे, इससे बढ़ कर अभाग की बात और क्या होगी?"

इस बार सुलोचना के हृदय पर लीला के मायावी आँसू का पूरा-पूरा अधिकार हो गया। उसने प्यार से यह कह कर उसे बिदा किया—मेरे जीते जी तुम्हारे ऊपर कोई आँच न आने पाएगी, लीला! जाओ, अपना काम-धन्धा देखो।

लीला अपनी विजय की खुशी में झूमती हुई कमरे से बाहर निकल गई।

६

सुलोचना अपने पति को पहचानती थी। उसे लीला की बातों पर विश्वास भी हो रहा था और अविश्वास भी। विश्वास इसलिए कि दुखिया के ऊपर राजमोहन की बड़ी ममता थी और अविश्वास इसलिए कि वह इस प्रकार की ओछी बातों को अपनी कल्पना में भी स्थान देने को तैयार न थी। फिर भी उसके हृदय में हलचल मच गई, तरह-तरह की शङ्काओं ने उसकी नारी-सुलभ दुर्बलता को उत्तेजित कर दिया। वह सोचते-सोचते इसी विचार-धारा में बह चली—"कौन जाने आदमी का स्वभाव कब और किस तरह बदल जाता है? किसी के चरित्र का भीतरी

स्वरूप पहचानना बड़ा ही कठिन है। प्रलोभन को देख कर फिसल जाना कोई बड़ी बात नहीं—कामिनी और कञ्चन पर रीझते अधिक देर नहीं लगती। दुखिया के निखरे हुए यौवन पर अगर वे चुपचाप अपने को निछावर ही कर चुके हों, तो इसका पता मैं कैसे पा सकती हूँ—इसमें आश्चर्य ही क्या है? मर्द सब कुछ कर सकते हैं। और वह भी तो कुछ कम रसीली नहीं ? उसकी बड़ी-बड़ी आँखें, उसका हँस-मुख चेहरा, उसके बातचीत का सुन्दर ढङ्ग—सभी बातें तो मन को मोहने ही वाली हैं। सब सम्भव हैं—धोखे से भरी हुई इस दुनिया में इस तरह की बातें असम्भव नहीं हो सकतीं। लीला की बातें झूठ नहीं हो सकतीं—उसे इतनी हिम्मत नहीं कि मेरे सामने मेरे पति के बारे में इस तरह की बेबुनियाद बातें कर जाय।"

इस प्रकार सोचते-सोचते सुलोचना जोश में आकर खड़ी हो गई। उसके हृदय में एक प्रकार का भीषण तूफान उठ खड़ा हुआ। उसी के सहारे उड़ती हुई वह सीधे दुखिया के कमरे की ओर चल पड़ी।

दिया-बत्ती जलाने का समय हो गया था। उस समय दुखिया अपने कमरे ही में थी। उसने चुपचाप अपने बिस्तरे के नीचे से एक छोटी सी तस्वीर निकाली। वह शीशे में मढ़ी हुई थी। दरवाजे की ओर पीठ करके वह बैठ गई। तस्वीर

को वह अपने हाथों पर रक्खे हुए थी। बहुत देर तक वह उसी अवस्था में अविचल भाव से बैठी रही। अन्त में एक लम्बी आह खींच कर ज्योंही उसने तस्वीर के ऊपर सिर झुकाया, त्योंही पीछे से किसी ने उसकी पीठ पर ऐसी लात जमाई कि वह बेचारी पछाड़ खाकर वहीं लोटने लगी!

सुलोचना ने उसका झोंटा पकड़ कर खींचते हुए कहा—अभी तो एक ही लात खाई है! एक-आध बार और इस तस्वीर को चूम लो—शायद अब फिर कभी मौक़ा न मिले

सुलोचना ने तस्वीर उठा कर देखी, वह उसी के पतिदेव की थी। क्रोध के मारे उसके नथने फड़क उठे, आँखों से चिनगारियाँ निकलने लगीं। उसका समूचा शरीर थरथर काँपने लगा। दाँत पीस कर फिर एक लात जमाती हुई वह बोली—बताओ, तुम्हें यह तस्वीर किसने दी?

दुखिया ने रोते हुए जवाब दिया—बाबू जी के कमरे में इस तरह की कई तस्वीरें थीं। वहीं से मैं चुपचाप इसे उठा लाई हूँ।

"झूठ बोलोगी तो यहाँ से जीती न जाने दूँगी"—उस पर और भी एक लात जमा कर सुलोचना ने कहा—"डायन! यह क्यों नहीं कहती कि बाबू जी ने अपने आप भेंट की है?"

"नही सरकार"—दुखिया बड़ी दीनता से रोती हुई बोली—"उन्होंने नहीं दी। मैं ही इसे चुरा कर अपने कमरे में ले आई हूँ। उन्हें तो मालूम भी नहीं है।"

"यह भी नही मालूम है कि तुम इस तस्वीर को दिन-रात चूमा करती हो?"—सुलोचना ने क्रोध-कम्पित स्वर में व्यङ्ग किया।

"आज तक मैंने इसे एक बार भी नहीं चूमा है। आप ऐसी बातें क्यों कह रही हैं? मुझसे ऐसा कौन सा अप-राध हो गया?"—कह कर दुखिया कातर दृष्टि से अपनी स्वामिनी की ओर देखने लगी।

"झूठ बोलते शर्म नहीं आती?"—सुलोचना ने दाँत पीस कर पूछा—"अभी-अभी तुम इस तस्वीर को चूम नहीं रही थीं?"

"नहीं, कभी नहीं"—दुखिया ने जोर से इस बात का विरोध करते हुए जवाब दिया—"मैं इस तस्वीर को रोज़ इस तरह सिर झुका कर प्रणाम किया करती हूँ—इसे चूम कर नहीं, इसकी पूजा करके अपने दिल को शान्त किया करती हूँ।"

"क्यों?"—इस बार सुलोचना की आँखें भर आईं।

"यह नहीं जानती"—कह कर दुखिया उसके चरणों पर माथा रख कर रोने लगी।

७

सवेरे उठते ही सुलोचना ने देखा, उसके गहनों का डब्बा ग़ायब था। दुखियां का भी कहीं पता नहीं था। उसे विश्वास हो गया कि वही उसका डब्बा चुरा कर भाग गई है। बात की-बात में इस चोरी का समाचार घर के सभी लोग जान गए। चारों ओर तलाशियाँ हुईं, मगर कहीं कुछ पता न चला। अन्त में सुलोचना ने राजमोहन से कहा—दुखिया के सिवाय यह और किसी का काम नहीं हो सकता?

"मालूम तो ऐसा ही होता है"—गम्भीर मुद्रा बना कर सिर खुजलाते हुए राजमोहन ने अपनी पत्नी का समर्थन किया।

"तुमने आस्तीन में साँप पाल रक्खा था, यह उसी का फल है। मैं भी उसे पहले नहीं पहचान सकी।"—सुलोचना पछतावे का भाव दिखाती हुई बोली।

"तो अब क्या कहती हो?"—राजमोहन परास्त होकर बोले।

"थानेदार से कह दो।"

"पुलिस वाले व्यर्थ ही घर-भर के लोगों को तङ्ग कर देंगे।"

"तङ्ग क्या करेंगे? तुम थाने में जाकर उसकी हुलिया लिखा दो।"

"क्या जाने वह भाग कर रात भर में कहाँ से कहाँ चली गई हो ?"

"जहाँ भी चली जाय, पुलिस से बच कर कहाँ रहेगी ? तुम जाओ, अब ज्यादा देर मत करो ।"

राजमोहन थाने की ओर जा ही रहे थे कि दुखिया उन्हें सामने से भागती हुई नजर आई । तेजी से मोटर दौड़ा कर उन्होंने उसे पकड़ लिया और कहा—गहने का डब्बा कहाँ रख आई ?

दुखिया चुपचाप सिर झुका कर खड़ी रही ।

राजमोहन ने उसे जोर से एक झटका देते हुए कहा—तुम्हीं से पूछ रहा हूँ । उसमें पाँच हजार के गहने थे । उस डब्बे को किस बाप के घर रख आई ?

दुखिया पत्थर की प्रतिमा बनी उसी तरह चुपचाप खड़ी रही, मगर इस बार उसके पैर के नीचे से जमीन खिसक गई, आँखों के आगे सारी चीजें घूमती हुई सी नजर आने लगीं ।

राजमोहन ने धक्के देकर उसे मोटर से टकराते हुए कहा—बिना हण्टर खाए तुम बोलोगी नहीं । चलो, थाने में, चल कर गहना चुराने का मजा चखा देता हूँ ।

थानेदार के सामने पहुँचते ही दुखिया को उनके हवाले करते हुए राजमोहन ने कहा—लीजिए साहब ! आप इसको पहचानते हैं या नहीं ?

"नहीं साहब !"—थानेदार ने हैरानी में पड़ कर पूछा—"ये हैं कौन ? इन्हें तो मैंने कभी नहीं देखा।"

"कभी नहीं देखा !"—राजमोहन विचित्र भाव से हँसता हुआ बोला—"इसके तो आप हण्टर लगा चुके हैं। याद नहीं है ? आज से कुछ ही महीने पहले इसी जगह आपने बेहोश कर दिया था—अब पहचाना ?"

"अच्छा"—कहते हुए थानेदार का मुख विवर्ण हो गया। उसने फिर पूछा—"आज क्या मामला है ?"

"यही तो बताने आया हूँ"—गला साफ करते हुए राजमोहन ने कहना शुरू किया—"उसी दिन से यह हमारे ही घर में रहती थी। काम-धन्धा करती और मजे से खाती-पीती थी। कभी इसको किसी बात की तकलीफ़ नहीं हुई। कल रात की बात है कि यह चुपचाप पाँच हज़ार का गहना चुरा कर चम्पत हो गई। अभी जब मैं आपके यहाँ आ रहा था, तो इसे भागते हुए देखा और पकड़ कर आपके यहाँ ले आया हूँ। अब चाहे जिस तरह हो, इससे पता लगाइए कि गहने का डब्बा यह कहाँ रख आई है ?"

थानेदार ने कहा—पाँच हजार का गहना ! कहाँ से ग़ायब हुआ ?

"हाँ साहब !"—राजमोहन ने कहा—"सब सोने ही के

थे, चाँदी का एक भी नहीं। पूरे पाँच हजार का माल है। मेरी स्त्री के कमरे से गायब हुआ है।"

"चलो जी, इसे हवालात में बन्द करो!"—कह कर थानेदार ने एक सिपाही को बुलाया। दुखिया हवालात में बन्द कर दी गई।

थानेदार ने राजमोहन का बयान लिख लिया, और कहा—जरूरत पड़ने पर मैं आपके घर पर भी आ सकता हूँ, अगर आप बुरा न मानिए तब!

"नहीं साहब!"—राजमोहन ने दस-दस रुपए के दो नोट थानेदार के हाथों पर रखते हुए कहा—"इसमें बुरा मानने की कौन सी बात है! आप जरूर आइए।"

८

राजमोहन भोजन करके उठे ही थे कि नौकर ने खबर दी—सरकार! थानेदार साहब आए हैं।

एक कुरता पहन कर वे चटपट नीचे उतर आए। थानेदार ने कहा—साहब! ऐसा चोर तो मुझे आज तक कोई नहीं मिला। मामला कुछ दूसरा ही मालूम पड़ता है।

"क्यों? उसने क्या कहा?"

"उसने तो बिना किसी तरह की हिचकिचाहट के ही चोरी क़बूल कर ली है।"

"सचमुच?"

"हाँ साहब ! मैंने पूछा भी कि तुम्हारे मालिक कहीं तुम पर झूठा इलजाम तो नहीं लगा रहे हैं ? तो उसी तरह आँखों में आँसू भर कर वह बोली—मेरे सामने आप उन्हें झूठा मत बनाइए। मैंने सचमुच चोरी की है, मुझे जेल भिजवा दीजिए या फाँसी पर लटका दीजिए।"

राजमोहन का हृदय थर्रा उठा। अपने को सँभालते हुए वे बोले—अच्छा और यह नहीं बताया कि डब्बा कहाँ रख आई ?

"कहती है कि रात में जब मैं सड़क पर चली आ रही थी, तो दो-तीन आदमियों ने मिल कर मुझसे डब्बा छीन लिया !"

"तो अब क्या होगा ?"—राजमोहन ने घबड़ा कर पूछा।

"होगा क्या ?"—थानेदार ने गम्भीर भाव से कहा—"मेरा तो विश्वास है कि दुखिया ने यह चोरी नहीं की है। उसका चेहरा बता रहा है कि वह बिलकुल बेक़सूर है। यह काम किसी दूसरे का है। आपके यहाँ और भी कोई रहती है ?"

"है क्यों नहीं।"

"आप उसे ज़रा मेरे सामने तो लाइए।"

उसी समय लीला बुलाई गई। थानेदार के सामने आते-

आते वह पसीने में डूब-सी गई। उसके चेहरे पर हवाइयाँ उड़ रही थीं। थानेदार ने एक बार उसके चेहरे पर निगाह डाली और बिना कुछ पूछे तड़ातड़ हण्टर लगाना शुरू कर दिया। लीला जोर-जोर से चिल्लाने लगी। थानेदार ने उसके मुँह पर जोर से एक तमाचा मारते हुए कहा—जो पूछता हूँ, उसका सच-सच जवाब दे, नहीं तो खाल उतार लूँगा।

लीला ने बिना कुछ पूछे ही कह दिया—हाँ सरकार! मैंने ही गहने वाला डब्बा छिपा रक्खा है।

थानेदार ने पूछा—कहाँ छिपा रक्खा है? बता चलके!"

वह थानेदार के साथ गई और मकान के पीछे वाली एक फुलवाड़ी से डब्बा ले आई। वहीं उसने उसे जमीन के नीचे गाड़ कर छिपा रक्खा था।

थानेदार ने उसके हाथों में हथकड़ी डालते हुए पूछा—क्यों तुमने ऐसा काम किया?

"डाह के मारे"—लीला ने रोते हुए जवाब दिया—"केवल डाह के मारे मैंने ऐसा किया।"

"किसकी डाह से?"

"दुखिया की डाह से।"

"अच्छी बात है, अब चलो जेल में, तब इस डाह का मजा पा जाओगी!"—कह कर थानेदार ने अपने सिपाहियों को आज्ञा दी—"इसकी कमर में रस्सा बाँध कर ले चलो।"

जाते समय राजमोहन ने कहा—थानेदार साहब ! मेरी स्त्री इससे एक मिनट के लिए मिलना चाहती है ।

"अच्छी बात है"—कह कर थानेदार ने आज्ञा दे दी ।

लीला उसी तरह बँधी-बँधाई सुलोचना के सामने खड़ी थी । सुलोचना ने आँखों में आँसू भर कर पूछा—वह बात भी तो तुमने डाह के मारे ही कही थी न लीला ?

"हाँ सरकार !"—कह कर लीला रो पड़ी ।

"अच्छी बात है"—उसकी ओ से मुँह फेरते हुए सुलोचना ने कहा—"यह उसी पाप का फल तुम्हें मिला है । जाओ, अपना मुँह काला करो । नरक में जाकर सड़ती रहो ।"

* * *

दुखिया ज्योंही हवालात के कमरे से निकली, त्योंही सुलोचना उसके पैरों पर गिर कर रोने लगी । राजमोहन उसी जगह अपराधी की तरह सिर झुकाए चुपचाप खड़े थे ।

दुखिया ने चटपट अपने पैर छुड़ाते हुए सुलोचना को गले लगा लिया, और रोते ही रोते कहा—यह आप क्या कर रही हैं ?

"मुझे क्षमा करो, दुक्खो बहिन !"—सुलोचना उसी तरह रोती हुई बोली—"मैंने तुम्हारे साथ बड़ा अन्याय किया ।"

"मैं इसका दण्ड दूँगी"—दुखिया ने उसकी आँखों के आँसू पोंछते हुए बड़ी गम्भीरता से कहा।

"दो"—कह कर सुलोचना ने सिर झुका दिया।

"यह नहीं"—उसके गले से लिपट कर दुखिया ने कहा—"इसके दण्ड में मुझे वही तस्वीर चाहिए।"

सुलोचना के भीगे हुए अधरों पर मुस्कुराहट छा गई। उसने भाव-भरी आँखों से एक बार अपने पति की ओर देखा। उसी समय दुखिया भी राजमोहन के चरणों पर गिर पड़ी।

शिवाद्वाल

भिक्षा-दान

उस गाँव में क्या, उसके आस-पास दस-बीस गाँवों में रामदयाल चौबे के ऐसा निर्धन और असहाय प्राणी कोई था ही नहीं। सरला ही उसके उजड़े हुए संसार की एकमात्र सम्पत्ति थी। अपनी उसी इकलौती निधि के एक-एक रक्त-विन्दु में उसने अपने प्राणों का बसेरा बना लिया था। अन्धकार में डूबी हुई उसकी वैभवहीन कुटिया को वही एक ज्योति थी। उसी पर उसके जर्जर जीवन के अवलम्बहीन अरमान टिके हुए थे।

वह चौदह वर्ष की हो चुकी थी। बेचारा ब्राह्मण उसकी विवाह-चिन्ता में दिन-रात डूबा रहता था। यों तो वह रूप की रानी थी। कितने ही धन के बावले उसके साथ ब्याह करने को ललच रहे थे। मगर रामदयाल अपनी उस अनमोल सम्पत्ति को किसी ऐसे सुपात्र के हाथों सौंपना चाहता था, जिसमें विद्या, बुद्धि, शील और सौन्दर्य का आकर्षक

समन्वय हो। दिन-रात दौड़-धूप करते रहने पर भी उसे ऐसा वर नहीं मिल रहा था। यहाँ तक कि अब वह खीज उठा था। चारों ओर से निराश होकर कभी-कभी वह मन में कहने लगता—देखता हूँ, इस लड़की के भाग्य में वह वदा ही नहीं है, जिसके लिए मैं खून-पसीना एक कर रहा हूँ। अब तो इसे किसी के हाथों सौंपना ही पड़ेगा। इस तरह जवान वेटी को अपने घर में कब तक रक्खे रहूँगा। अगर इस साल भी व्याह रुक गया, तो समाज में मुँह दिखाने लायक़ न रह जाऊँगा। अब चाहे जैसा भी लड़का मिल जाय, उसी के साथ......! इतना सोचते-सोचते सहसा उसकी विचार-धारा रुक जाती। उसे चट अपनी स्त्री की याद हो आती। उसे ऐसा मालूम पड़ने लगता, जैसे उसकी स्त्री मृत्यु-शय्या पर पड़ी हुई कातर-भाव से उसकी ओर देख रही है। वह धीरे-धीरे, पास ही बैठे हुए अपने पति का हाथ पकड़ कर कहने लगती है—मैं तो अब मर रही हूँ, मगर देखना, मेरा अरमान न मिट जाय।

रामदयाल उसकी बातों का कोई मतलब न समझ कर, सजल नेत्रों से उसकी ओर देखता है और बड़े क्लेश से पूछता है—मुझे तो तुमने अपना अरमान कभी बताया ही नहीं, फिर मैं कैसे समझूँ कि तुम क्या कह रही हो?

"अरमान कलेजे से बाहर निकालने की चीज़ नहीं है।

कभी मेरे कलेजे को टटोल कर देखते तो जो कह रही हूँ, उसे समझते देर न लगती।"

"मगर अपने इन निर्बल हाथों से मैं तुम्हारा कलेजा टटोलता कैसे ? नारी-हृदय का आवरण हटाना क्या इतना सहज है ? अब भी मुझे समझा दो, तुम क्या कह रही हो ?"

"बस, और कुछ नहीं ; मेरी 'सरला' को यों ही कहीं फेंक मत आना। उसे किसी अच्छे घर में रख आना, जहाँ वह सुखों की रानी बनी रहे। यह फूल किसी ऐसे देवता को चढ़ा देना, जो इसे अपने सिर-आँखों पर रख सके। थोड़े से लोभ में पड़ कर या विपत्तियों से घबड़ा कर किसी दानव के पैरों पर मत पटक देना, जो इसे एक ही बार में मसल डाले। सरला कभी दुख का मुँह न देखे, यही मेरा अरमान है ; और मेरा यह अरमान मिटने न पाए, इतनी ही तुमसे विनती है। इसे भूलोगे तो नहीं !"

"नहीं, कभी नहीं भूलूँगा। यही अरमान मेरे कलेजे में भी घर किए बैठा है। मरते दम तक मैं सरला के ही सुखों की चिन्ता करता रहूँगा। मुझे इस जीवन में और कुछ नहीं करना है।"

"अच्छा, तो......"—कह कर वह ज्योंही रामदयाल के चरणों की ओर अपना हाथ बढ़ाया चाहती है, त्योंही

उसके गले में आवाज़ अटक जाती है। उसकी आँखें पथरा जाती हैं और रामदयाल पछाड़ खाकर उसके ऊपर गिर पड़ता है।

बस, यही एक याद थी, जो उसकी समस्त विचार-धारा का मुख मोड़ देती। उसकी आँखों से सहृदयता का स्रोत उमड़ पड़ता। उसकी सारी खिजलाहट मिट जाती। उसके अलसाए हुए उद्योग में जीवन आ जाता। वह धीरता के साथ मन ही मन कह उठता—चाहे जैसे हो, सरला को किसी देवता के ही गले का हार बनाऊँगा, नहीं तो वह कुमारी ही रहेगी। मैं उसे किसी ऐरे-ग़ैरे के गले हरगिज़ नहीं मढ़ सकूँगा।

मनोभावों के इस दारुण संग्राम में पड़ कर वह चूर-चूर हो रहा था, लेकिन उसे इसकी परवाह नहीं थी। वह सरला को सुखों की रानी बनाने की धुन में जी-जान से लगा हुआ था। वह इतना ग़रीब था कि अच्छे घर-वर वाले उसकी ओर आँखें उठा कर देखते भी नहीं थे। जिनके विवाह होने की सम्भावना नहीं रह गई थी, जो धनी होकर भी रूपवान् या लिखे-पढ़े नहीं होते थे, अथवा जो घर में दो-तीन पत्नियों के रहते हुए भी रूप-लालसा से अधीर होकर फिर एक विवाह करना चाहते थे, ऐसे ही ऐसे लोग रामदयाल के पास अपने विवाह का प्रस्ताव लेकर आते। उसे तरह-तरह

के प्रलोभन दिखाते थे ; और वह ब्राह्मण अपनी उमड़ती हुई वेदना के समस्त उच्छ्वासों को एक करुणा-कम्पित 'नाहीं' में समेट कर उनकी लालसा के चरणों पर फेंक देता था। वे लोग निराश होकर लौट जाते थे। इसी तरह राम-दयाल को भी कितने ही दरवाज़ो पर से निराश होकर लौट आना पड़ता था। जिस घर में उसे मन-भाया वर मिलता, वहाँ उसे 'नाहीं' के धक्के खाने पड़ते थे ; किन्तु दीनता-जर्जर काया को इन धक्कों की क्या परवाह ? दुनिया के साथ वह इसी प्रकार निराशा का विनिमय कर रहा था। इधर सरला उसकी सूनी झोपड़ी में बैठी-बैठी पूरे वेग के साथ अपने रूप-किरणों का प्रसार किए जा रही थी। सौन्दर्य की उस उमड़ती हुई धारा को भला कौन रोकता ?

२

दो पहर दिन का समय था। वासुदेव खा-पीकर अपने मित्र सन्तोष के साथ बँगले के बरामदे में बैठा शतरञ्ज खेल रहा था। इसी समय उसने देखा, रादयाल चौबे उसकी आँखें बचा कर तेजी के साथ क़दम बढ़ाए अपने घर की ओर चले जा रहे हैं। वासुदेव बालकों की तरह सरल अट्टहास मार कर चिल्ला उठा—हाँ चाचा जी ! इसी तरह चुपके-चुपके चल दिए न ?

रामदयाल के पैर आप ही आप रुक गए। वह सकुचा

कर वहीं खड़ा हो गया। शतरञ्ज की गोटियाँ फेंक कर वासुदेव अपने चाचा के पास पहुँच गया और बोला—भागे क्यों जा रहे थे चाचा ? अब तो मैं बिना खाए-पिए यहाँ से जाने दूँगा नहीं। चलिए, खा-पीकर जाइएगा।

"इसीलिए तो मैं तुम्हारी आँखें बचा कर भागा जा रहा था।"—चौबे जी ने पुलकित होकर उसके सिर पर हाथ फेरते हुए कहा—"जब-जब यहाँ आता हूँ, तुम्हे मेरे खाने-पीने ही की चिन्ता आ पड़ती है।"

"क्यों ? यह कोई बुरी बात है ? मगर आप तो कभी खाते ही नहीं। जब-जब कहता हूँ, कोई न कोई बहाना बता देते हैं। क्या आप मुझसे नाराज़ हैं चाचा ?"

"नाराज़ और तुमसे ?"—रामदयाल ने स्नेहपूर्ण शब्दों में उत्तर दिया—"अपने बच्चों से भी कोई नाराज़ होता है बेटा ? और फिर तुम्हारे जैसे सुशील बच्चों से ? यह तुम क्या पूछ बैठे बासो ?"

"तो चलिए न ! इस धूप में कोस भर का रास्ता तय करने से क्या फ़ायदा होगा ? थके-माँदे भी तो मालूम होते हैं, कहीं दूर से आ रहे हैं क्या ?"

"हाँ बेटा ! नयागाँव चला गया था। चलो, थोड़ी देर बैठ भी जाऊँ और तुमसे बातें भी करूँ।"—कह कर रामदयाल बासो के साथ बँगले की ओर लौट पड़ा।

बँगले पर पाँव रखते ही उसकी दृष्टि सन्तोष पर पड़ी। सौन्दर्य और स्वास्थ्य का वैसा मनोहर पुतला रामदयाल ने आज तक जैसे देखा ही नहीं था। वह निर्निमेष नेत्रों से बहुत देर तक उसी युवक की ओर देखता रह गया। अन्त में वासुदेव की ओर आँखें फेर कर बोला—ये कौन है बेटा?

वासुदेव ने कहा—ये मेरे मित्र सन्तोष बाबू हैं। मेरे ही साथ इस साल एम० ए० की परीक्षा पास की है। समूचे सूबे में इन्हीं का स्थान सब से ऊँचा रहा। घर के बड़े अमीर और शील-स्वभाव के बड़े ही सुन्दर हैं।

"ब्राह्मण हैं?"—रामदयाल ने आनन्द से गद्‌गद होकर पूछा।

"जी हाँ, अपनी बिरादरी के तो हैं। इन्हीं की ममेरी बहिन से तो मेरा विवाह हुआ है।"

रामदयाल की प्रसन्नता का कोई ठिकाना नहीं था। साथ ही उनका कलेजा भी ज़ोर-ज़ोर से धड़क रहा था। वे कुछ और भी पूछना चाहते थे, किन्तु पूछने की हिम्मत नहीं पड़ती थी। वासुदेव उनके मन की बात ताड़ गया। उसने कहा—अच्छा, तो अब आप नहाइए-धोइए। खा-पीकर आराम कीजिए। तीसरे पहर घर चले जाइएगा।

"नहीं बेटा! सरला से कह आया हूँ कि दोपहर तक लौट आऊँगा। मेरे ही आसरे बैठी होगी। जब तक

पहुँच न जाऊँगा, यह अपने मुँह में एक बूँद पानी भी नहीं डालेगी। कई बार समझाया कि बेटी, जब मुझे देर हो जाय तो तुम खा लिया करो। मगर वह मानती ही नहीं। ऐसी तपस्विनी लड़की तो मैंने कहीं देखी ही नहीं। मगर न जाने उसके भाग्य में क्या लिखा है !"—कहते हुए रामयाल की आँखें डबडबा आईं।

वासुदेव का हृदय टूक-टूक हो गया। उसने पूछा—नयागाँव गए थे, क्या हुआ ?

"होगा क्या बेटा ?"—चौबे जी ने बहुत ही दुखित होकर उत्तर दिया—"उस लड़के के साथ तो मैं सरला का ब्याह कभी कर नहीं सकता। उसके पास धन है, रूप है और थोड़ी सी विद्या भी है ; मगर उसका व्यवहार तो मुझे बड़ा ही बुरा लगा। मेरे सामने ही एक छोटी-सी बात पर बिगड़ कर उसने एक नौकर को इस तरह पीट दिया कि उसके समूचे शरीर का चमड़ा ही फट गया। इसके साथ ही ऐसी गन्दी-गन्दी गालियाँ बक रहा था कि मैं तो लाज के मारे सिर उठा कर उसकी ओर देख भी नहीं सका। मेरी सरला क्या ऐसे राक्षस के साथ सुख से रह सकेगी बेटा ?"

"नहीं, ऐसे आदमी के साथ तो ब्याह ठीक नहीं !"

"देखता हूँ, इस साल भी मैं बेटी का ब्याह नहीं कर

सकूँगा...” चौबे जी और कुछ कहने ही को थे कि बीच ही में पण्डित वृकोदर शास्त्री न जाने कहाँ से कूद पड़े। वे उस गाँव के सबसे बड़े कर्मकाण्डी पण्डित थे। आते ही मुँह फाड़ कर चिल्ला उठे—“कर कैसे सकोगे, तुम्हें व्याह तो करना नहीं है—झूठ-मूठ रङ्ग बाँधते फिरते हो।”

“यह आप क्या समझेंगे पण्डित जी!”—बड़ी ही दीनता के साथ रामदयाल ने उत्तर दिया—“बेटी का व्याह करना किसे कहते हैं, यह वही जानते हैं, जिन्हें कभी ऐसा करना पड़ा है।”

“अभागे हो और क्या!”—पण्डित जी पेट पर हाथ फेरते हुए बोले—“सब बात पक्की हो गई थी, उससे कहा था कि तुम्हें खाने-पीने को भी कुछ दे-दे, मगर तुमने नहीं माना। अब मारे-मारे फिर रहे हो न? देखना है, सरला के लिए तुम किस देव-योनि से वर पकड़ लाते हो। उस लड़के के साथ सम्बन्ध ठीक कर लेते तो तुम्हारी दरिद्रता भी मिट जाती और लड़की भी सुख की छाया में पहुँच जाती। मगर क़िस्मत में सुख बदा हो तब तो! यहाँ तो दरवाज़े-दरवाज़े ठोकरें खाना लिखा है। यह करम-रेख कौन मेटेगा?”

“मैं तो आपको अपनी करम-रेख मेटने नहीं कहता पण्डित जी!”—क्रोध से काँपते हुए रामदयाल ने कहना शुरू किया—“और न मैं कभी आपके दरवाज़े पर ठोकरें

ही खाने जाता हूँ। आपको मेरी इतनी फ़िक्र क्यों हो रही है ? इसीलिए कि आपके इशारों पर मैं नहीं चलता ? आप जिन-जिन सुपात्रों (?) के साथ सरला का सम्बन्ध स्थिर करते हैं, उसे मानना या न मानना तो मेरा काम है। थोड़े से चाँदी के टुकड़ों पर मुझे रिझा कर आप मेरी सरला का सर्वनाश कराया चाहते हैं। इसे क्या मैं समझता नहीं हूँ ? आप यह भूल जाइए कि रामदयाल ग़रीब है, इसलिए उससे जो चाहूँगा, करवा लूँगा। मैं अपने को पहचानता हूँ और आपको भी अच्छी तरह जानता हूँ। इस तरह अकारण ही आपे से बाहर मत हो जाया कीजिए।"

रामदयाल का यह आत्म-तेज देख कर पण्डित वृकोदर शास्त्री जी कुछ बोल न सके। साथ ही उन्होंने यह भी देखा कि वासुदेव उनकी ओर आग्नेय नेत्रों से देख रहा है। उनकी सारी हिम्मत हवा हो गई। वे चुपके से उठे और क्रोध की ज्वाला में जलते हुए वहाँ से चल दिए।

उनके चले जाने पर वासुदेव, चौबे जी की ओर देख कर, प्रसन्नतापूर्वक बोला—आपने ख़ूब जवाब दिया चाचा जी ! इन पाखण्डियों को इसी दुतकार की ज़रूरत है। क्या ये हज़रत इस बात की कोशिश कर रहे थे कि आप बिना घर-वर का विचार किए ही, थोड़े से रुपए लेकर, सरला को किसी के माथे मढ़ दें ?

"हाँ बेटा! ऐसा कोई दिन नहीं जाता है, जब मेरे द्वार पर रुपयों की गठरी लिए कुछ लोग न पहुँचते हों, और इस प्रकार के व्यवसाय में इन महाशय का हाथ सदैव आगे ही रहता है। मुझसे कई बार कह चुके कि अमुक आदमी तुम्हें इतना धन दे रहा है, ले लो, और अपने सिर का भार उतार डालो। ये लोग समझते हैं कि ग़रीबी के साथ आत्म-सम्मान का कोई नाता ही नहीं रह गया है। मैंने इनकी एक बात भी नहीं मानी, न जीते जी कभी ऐसी बात मान ही सकता हूँ। इसलिए मेरे ऊपर आग-बबूला हो उठे हैं। अगर वश चले तो अभी जीते ही जला दें, लेकिन अफ़सोस! मेरे ऊपर इनकी एक नहीं चलती—बेचारे परेशान हैं!"

"आख़िर आपने निश्चय क्या किया?"—वासुदेव ने जिज्ञासु-भाव से पूछा।

"निश्चय क्या करना है बेटा!"—कहते हुए चौबे जी उठ कर खड़े हो गए—"उसके भाग-भोग होंगे तो कोई न कोई सत्पात्र मिल ही जायगा, नहीं तो इस वर्ष भी ब्याह नहीं होगा। मैं उसे जीवन भर कुमारी रखना पसन्द कर लूँगा, समाज से बिलकुल अलग रह कर उसके उपहास की चोटें सहते रहना मुझे सहर्ष स्वीकार है; मगर यह तो न होगा कि उसे किसी ऐसे घर में फेंक दूँ, जहाँ वह जीवन भर मेरा नाम ले-लेकर रोती रहे।"

"तो, क्या आप उसे आजन्म अविवाहिता रखने का साहस करते हैं चाचा जी ?"—वासुदेव ने अपने आश्चर्य-विस्फारित नेत्रों में एक प्रकार का अलौकिक उल्लास भर कर पूछा—"क्या आप समाज को इस वीरता के साथ ठुकरा सकते हैं।"

"क्यों नहीं ठुकरा सकता हूँ !"—कहते हुए चौबे जी के चेहरे पर गम्भीरता की लाली दौड़ गई—"समाज में रह कर ही मैं उससे कौन सा सुख पा रहा हूँ ? मेरे ऊपर उसका कौन सा एहसान है ? जिस समाज के पास हृदय नहीं, दूसरों की व्यथा समझने और उसे दूर करने की आकुलता नहीं, निस्स्वार्थ सहानुभूति के भाव नहीं, उस समाज को ठुकरा देना कौन सी बड़ी बात है ? जिस समाज में पं० वृकोदर शास्त्री जैसे धर्म के ठेकेदार रहते हों, उसके प्रति यदि मेरे-जैसे अभागों की अनुरक्ति नहीं रह जाय, तो इसमें आश्चर्य की बात ही क्या है बेटा ? और तुम क्या कह रहे थे कि सरला को मैं आजन्म कुमारी रखने का साहस कर सकता हूँ या नहीं ? इसमें साहस की कौन सी बात है ? मूर्खों और नर-पशुओं के पैर की जूती बन कर जीवन बिताने की अपेक्षा आजन्म अविवाहिता रहना क्या अच्छा नहीं है ? हमारे समाज में बाल-विधवाएँ कैसे रहती हैं ? उनसे तो एक कुमारी बालिका का जीवन अच्छा ही रहेगा। मैं तुम्हें विश्वास

दिलाता हूँ वासो ! यदि मेरी सरला के अनुरूप ही मुझे कोई वर नहीं मिला तो सचमुच मैं उसे ब्रह्मचारिणी बना कर ही रक्खूँगा ।"

इतना कह कर चौबे जी ने बड़ी ही मार्मिक दृष्टि से एक बार सन्तोष की ओर देखा । वह सिर झुकाए न जाने क्या सोच रहा था ? चौबे जी ने एक लम्बी साँस खींच ली और कहा—अच्छा, तो अब मुझे छुट्टी दो बेटा ! किसी दूसरे दिन तुम्हारे यहाँ आकर खा जाऊँगा । इस समय न जाऊँगा तो मेरी बच्ची भूखी ही रह जायगी ।

"अच्छी बात है"—कह कर वासुदेव ने उनके चरण छू लिए । सन्तोष भी वैसा ही करना चाहता था, पर लाज के मारे कर न सका । उसके मुँह से एक शब्द भी नहीं निकल सका । जब चौबे जी चले गए, तब उसने अपना सिर ऊपर उठाया । उसकी आँखों से झरझरा कर आँसू की बूँदें गिर पड़ीं । पता नहीं क्यो ?

३

बहुत देर तक दोनों मित्र अपने-अपने विचारों में इस तरह डूबे रहे कि वहाँ सन्नाटा सा छा गया । दोनों ही सरला की भविष्य-चिन्ता में लीन हो गए थे । दोनों ही एक-दूसरे से कुछ पूछना चाहते थे, पर पूछ न सकते थे । अन्त में सन्तोष ने ही उस नीरवता का आवरण हटाते हुए पूछा—

मैं तो इन बूढ़े महाशय का खौलता हुआ ख़ून, इनकी दृढ़ता भरी बातें और इनके आत्म-तेज को देख कर दङ्ग रह गया भाई ! ये तुम्हारे अपने चाचा हैं बासो ?

"नहीं, अपने चाचा तो नहीं हैं"—वासुदेव ने भी अपनी गम्भीरता का वह व्यापक रूप समेटते हुए कहना शुरू किया—"हाँ, हैं अपनी ही बिरादरी के आदमी। मेरे बाबू जी से इनकी बड़ी दोस्ती थी। इसी लिए हम लोग इन्हें 'चाचा जी' कह कर पुकारते हैं। केवल सूरत-शकल ही ऐसी है—भीतर ज्ञान का ख़ज़ाना भरा पड़ा है। जटिल से जटिल बातों का मर्म समझ लेना और समझा देना इनके बाएँ हाथ का खेल है। मगर इनके ऐसा ग़रीब भी भगवान् किसी को न बनाए।"

"क्या बहुत ग़रीब हैं ?"—सन्तोष ने व्याकुल भाव से पूछा।

"कहा तो कि भगवान् दुश्मनों को भी ऐसा ग़रीब न बनाए। बेचारे दिन में खाते हैं तो रात में नहीं और रात में खाते हैं तो दिन में नहीं। यह हालत है। मगर लोभ तो मानो छू नहीं गया है। भूखों मर जायँ तो मर जायँ, मगर किसी के यहाँ न हाथ पसारते हैं, न पत्तल बिछाते हैं। नस-नस में आत्म-सम्मान का भाव भरा हुआ है।"

"तो इनकी जीविका कैसे चलती है ?"

"तुम्हें यह जान कर आश्चर्य होगा कि रस्सी बाँटने का काम ये बहुत ही सुन्दरता से करते हैं और यही इनके जीवन-निर्वाह का एक सहारा है। इसके अलावा इन्हे समय पर जो भी काम करने को कहा जाय उससे पीछे नहीं हटते। ब्राह्मण होकर भी ये नीच-जातियों के साथ हिल-मिल कर मजदूरी करने में नहीं शर्माते। अगर किसी को रुक्का-पुरजा भी लिखवाने की जरूरत पड़ती है, तो वह भी ये कर देते है। इनके ऐसा कर्मवीर ब्राह्मण तो मैंने कहीं देखा ही नहीं !"

"इनके घर में कौन-कौन हैं ?"—सन्तोष ने उत्सुकता से पूछा।

"बस, वही एक लड़की है। जब वह छोटी सी थी, तभी इनकी स्त्री का देहान्त हो गया। इन्होंने ही उसे पाल-पोस कर बड़ी किया है।"

"इनका घर यहाँ से कितनी दूर है ?"—पूछते हुए युवक सन्तोष के चेहरे पर लाज की एक हलकी सी लाली दौड़ गई।

वासुदेव ने उसकी ओर भाव-भरी दृष्टि से देखा और पूछा—क्यो ? चलोगे वहाँ ? बहुत दूर नही है, सिर्फ दो मील की दूरी पर है।

इस बार सन्तोष कुछ नहीं बोला। उसने चुपचाप अपना सिर झुका लिया।

वासुदेव ने उसके सिर पर हाथ फेरते हुए कहा—सन्तोष!

"क्या कहते हो?"—कह कर सन्तोष ने उसकी ओर देखा। उसकी आँखों में लजीली भावनाओं का अभिसार हो रहा था।

वासुदेव ने गद्गद होकर पूछा—मेरी एक विनती स्वीकार करोगे सन्तोष?

"आज तक तुम्हें किसी बात के लिए मेरी विनय करने की जरूरत भी पड़ी है बासो?"

"नहीं!"

"फिर इस तरह क्यों पूछते हो? आज ऐसी कौन बड़ी भारी बात आ पड़ी, जिसके लिए तुम मेरी विनती करके मुझे व्यर्थ ही नरक में ढकेल रहे हो!"

"बात सचमुच बहुत बड़ी है।"

"मैं उसकी गुरुता का थोड़ा-बहुत अनुमान कर रहा हूँ। तुम इसकी चिन्ता मत करो। खुले दिल से जो पूछना हो, पूछो।"

"तुम सरला से....."—इसके आगे वासुदेव की वाणी आँसुओं की आकस्मिक धारा में बह गई। वह कुछ बोल न सका।

सन्तोष ने घबड़ाए स्वर में पूछा—तुम इस तरह रोने क्यों लगे बासो? अपनी बात तो पूरी कर लो।

"बात तो तुम समझ ही रहे हो सन्तोष !"—वासुदेव ने अपनी आँखें पोंछते हुए कहा—"मेरे इस रोने का मर्म तुम अवश्य ही नहीं समझ रहे होगे। सरला का नाम याद आते ही मैं अपने आँसुओं का वेग नहीं सँभाल सकता। वह मुझे अपना ही भाई समझती है और मैं भी उसे अपनी इकलौती वहिन की तरह प्यार की दृष्टि से देखता हूँ। तुम जानते हो, वहिन और भाई का सम्बन्ध कितना मधुर होता है ! सम्बन्ध की वही मधुरता मुझे आज इस तरह रुला रही है।"

सन्तोष कुछ देर तक गम्भीरता की मूर्ति बन कर चुप बैठा रहा। फिर बोला—तो क्या तुम्हारी यही राय है ?

"हाँ सन्तोष ! ऐसा करके तुम मेरे ऊपर तो एहसान करोगे ही, साथ ही उस ग़रीब का भी बड़ा भारी उपकार हो जायगा। मेरी अनाश्रिता वहिन तुम्हारी छाया में पहुँच कर कृतकृत्य हो जायगी। तुमने प्रतिज्ञा भी की है कि जब विवाह करोगे तो किसी ग़रीब की ही लड़की से। क्या मैं आशा करूँ कि आज तुम अपनी प्रतिज्ञा का व्यावहारिक रूप से पालन करोगे ?"

सन्तोष के हृदय में द्वन्द्व होने लगा। सहसा वह कुछ निर्णय न कर सका। बहुत देर तक चुप रहने के बाद उसने कहा—क्या एक बार मैं उस लड़की को देख सकता हूँ ?

"बड़ी ख़ुशी से"—वासुदेव के हृदय में आशा की किरणें जगमगा उठीं।

"अच्छी बात है। तब सौदा देख कर ही बातचीत पक्की होगी।"—मुस्कराते हुए सन्तोष ने दिल्लगी के भाव से कहा।

वासुदेव इस मीठी चुटकी से कुछ झेंप तो जरूर गया, मगर उसके हृदय में आनन्द की तरङ्गें उठ रही थीं। उसका विश्वास था कि सरला के सामने जाते ही सन्तोष अपने अस्तित्व तक को खो बैठेगा, केवल उस पर रीझ जाने की तो बात ही क्या? इसी विश्वास के बल पर मुस्कराते हुए उसने भी जवाब दिया—तो आज ही चलेंगे? देखना, वह गाँव भी कितनी सुन्दर जगह में बसा हुआ है।

४

घर पहुँच कर पं० रामदयाल स्नान-भोजन करके बैठे ही थे कि उन्हें एका-एक बुख़ार ने घर दबाया। उसका आक्रमण इतना तीव्र था कि वे बेचारे बैठे न रह सके। उनका अङ्ग-प्रत्यङ्ग दर्द के मारे टूट रहा था, समूचा शरीर तवे की तरह जल रहा था। वे आक्रान्त होकर अपनी टूटी हुई चारपाई पर गिर पड़े।

जिस समय वासुदेव ने सन्तोष को साथ लेकर उस झोपड़ी में प्रवेश किया, उस समय रामदयाल बुख़ार की

बेहोशी में छटपटा रहे थे। सरला उनके पास ही चुपचाप बैठी हुई थी। सन्तोष ने देखा, सौन्दर्य के उस छलकते हुए प्याले मे करुणा और विषाद की बूँदें कातर-भाव से मँडरा रही हैं। सुषमा और सन्ताप का इतना सुन्दर, इतना करुण और इतना मोहक सम्मिलन उसने कभी नहीं देखा था। वह अपने हृदय को वश में न रख सका। अभी तक सरला ने उसकी ओर आँख उठा कर देखा भी नहीं था, उसके पहले ही सन्तोष अपने अस्तित्व को खो बैठा। अनुराग, प्रतिदान की अपेक्षा नहीं करता। आशक्ति और आकर्षण के लिए स्वीकार-वाणी की आवश्यकता नहीं हुआ करती। सन्तोष ने उसे देखते ही उस पर अपने को निछावर कर दिया। वासुदेव ने एक बार अपने पराजित मित्र को देखा और आँखों के इशारे से पूछा—कहो, क्या हाल है?

सन्तोष की आँखों में मदभरी प्रसन्नता झूम रही थी। उसने अपनी मतवाली अदा से कह ही तो दिया—कुछ मत पूछो।

वासुदेव का दिल खिल उठा—वह सन्तोष की मुखाकृति से ही सारा रहस्य समझ गया।

वासुदेव के साथ एक अपरिचित आदमी को देख कर सरला बहुत ही सकुचा गई। वह वहाँ से भागने का उपक्रम कर ही रही थी कि वासुदेव ने उससे पूछा—चाचा जी की तबीयत ख़राब हो गई है क्या?

सरला ने चुपचाप अपना सिर हिला दिया। वह सङ्कोच के मारे जैसे मरी जा रही थी।

वासुदेव ने फिर पूछा—क्या बुखार चढ़ आया ?

इस प्रश्न के उत्तर में भी सरला एक बार सिर हिला कर अपने पैर के नाख़ून से ज़मीन ख़ुरचने लगी। उसके ललाट पर लज्जा-जनित पसीने की बूँदें चमक रही थीं।

वासुदेव ने कहा—देखो सरला, इनसे सङ्कोच करने की कोई ज़रूरत नहीं। ये भी अपने ही घर के आदमी हैं। इनसे तब तक बातचीत करना, मैं ज़रा वैद्य जी को बुला लाऊँ।

वासुदेव वैद्य जी को बुलाने चला गया और बेचारा सन्तोष उसी अपरिचित जगह पर चुपचाप ज्यों का त्यों खड़ा रहा। उसे बैठने भी कौन कहता ? वासुदेव के जाते ही सरला वहाँ से चुपचाप खिसक कर दीवार की आड़ में जा खड़ी हुई। अब उसने सन्तोष को ख़ूब अच्छी तरह देखा। सौन्दर्य के उस लजीले पुतले को अधिक देर तक उस तरह खड़ा रहने देना अब उसे अच्छा नहीं लगा। उसने सङ्कोच के साथ धीरे-धीरे पास पहुँच कर अपने अतिथि के आगे एक फटा-पुराना कम्बल बिछा दिया। उसने बड़ी चेष्टा की कि एक बार सन्तोष से कहे—आप बैठ जाइए न, इस तरह खड़े क्यों हैं ? मगर उसके मुँह से

एक शब्द भी न निकल सका। कम्बल बिछा कर वह उसी तरह चुपचाप दीवार की आड़ में जा खड़ी हुई और अपनी प्यासी आँखों से बार-बार उस तरुण अतिथि की रूप-माधुरी पीने लगी। सन्तोष भी पराजित भाव से उसी आसन पर बैठ कर वासुदेव के आने की प्रतीक्षा करने लगा।

इसी समय वासुदेव वैद्य को लेकर आ गया। वैद्य ने पं० रामदयाल को देख कर कहा—कोई चिन्ता नहीं, दो-तीन दिनों में ये अच्छे हो जायँगे। अभी बुखार हटा देना ठीक नहीं होगा। यह दवाई देता हूँ, कल सवेरे से बुखार अपने ही आप उतरने लगेगा।

वैद्य के चले जाने पर वासुदेव ने कहा—कहाँ गई ओ सरला! आज तो तुमने कुछ खाने-पीने को भी नहीं कहा। न जाने कहाँ जाकर छिपी बैठी हो! मगर इससे तो काम चलेगा नहीं। आज रात भर चाचा के पास रहना पड़ेगा। कुछ खिलाओ-पिलाओगी नहीं तो तुम्हारे घर कोई कैसे आएगा पगली?

वह बेचारी लाज के मारे धरती में गड़ सी गई। साथ ही उसे यह भी याद हो आया कि घर में अनाज का एक दाना भी नहीं है। फिर बेचारी किस बूते पर किसी से खाने-पीने का आग्रह करती? अपनी दरिद्रता का उसे

आज ही सच्चा अनुभव हुआ। वह वहीं बैठ कर धीरे-धीरे सिसकने लगी—उसका हृदय टूक-टूक हुआ जा रहा था।

इसी समय वासुदेव उसके पास पहुँच कर बोला—छिः! तुम रो क्यों रही हो सरला? तुम्हें कमी किस बात की है? भाई के रहते हुए भी क्या बहिन को इस तरह अधीर हो जाना चाहिए? लो, इन रुपयों से तब तक तुम काम चलाना, जब तक चाचा जी अच्छे नहीं हो जाते। रात में मैं एक बार चाचा जी को देखने आ जाऊँगा। जरूरत पड़ी तो रह भी जाऊँगा। अभी चलता हूँ, सन्तोष को घर पर छोड़ आऊँ।

वासुदेव जब आते, सरला को कुछ न कुछ अवश्य दे दिया करते थे। सरला भी उसे किसी तरह अस्वीकार नहीं कर सकती थी। वह एक बार अस्वीकार करके देख चुकी थी कि इससे उसके वासो भैया को कितना दुख होता है, इसीसे आज भी बिना कुछ कहे-सुने उसने भाई के हाथ का वह दान ग्रहण कर लिया।

अपने उमड़े हुए आँसू को पोंछती हुई वह बोली—तो आप इस समय अब घर क्यों जाइएगा भैया? रह न जाइए। रात में बाबू जी की तबीयत अधिक खराब हो जाय तो मैं क्या कर सकूँगी?

"मैं तो कह न रहा हूँ कि रात मे फिर आ जाऊँगा। मोटर से आते-जाते देर ही कितनी लगती है?"

"नहीं, आप अब घर मत जाइए। आज आपको यहीं रहना पड़ेगा। मैं भोजन बनाने जा रही हूँ।"

"सन्तोष को तो पहुँचा आऊँ न!"

"क्यों? वे मेरा बनाया हुआ खाना नहीं खा सकते?"

"जब मेरे हाथ का बनाया खाते हैं तो तुम्हारे यहाँ खाने में उन्हे क्या आपत्ति होगी? वे कोई पराए घर के तो हैं नहीं, अपने ही हैं।"

"तो मैं भोजन का प्रबन्ध करने जा रही हूँ। बाबू जी तो अभी नींद मे हैं न?"

"हाँ, वे अभी सोए हुए हैं। जागेंगे तो हम लोग तो हैं ही। तुम जाओ, अपना काम देखो।"

सरला हुलास के साथ वहाँ से चली गई। पास ही की दुकान से वह खाने-पीने का सामान ख़रीद लाई और उत्साह के साथ भोजन बनाने की तैयारी में लग गई।

उस रात उसने इतने प्रेम से भोजन बनाया कि खाने वाले उँगली बचा-बचा कर खाने लगे। बहुत ही मामूली-मामूली चीज़े बनाई गई थीं, मगर उनमें एक अपूर्व स्वाद था। दोनों मित्रों ने बड़े चाव से भोजन किया और रामदयाल की खाट के पास ही कम्बल बिछा कर दोनो सो रहे।

वासुदेव ने पूछा—सन्तोष ! तुम्हें तो इस तरह जमी पर सोने में बड़ा कष्ट हो रहा होगा ?

सन्तोष ने प्रेम-गद्गद वाणी को कँपाते हुए कहा— यदि इस तरह का कष्ट मुझे रोज़ मिला करे वासो, तो मैं अपने को सबसे बड़ा सौभाग्यशाली समझूँ ।

वासुदेव ने अपने हृदय की एक धुँधली सी शङ्का मिटाने के लिए फिर पूछा—सच कहना सन्तोष, तुम्हें मेरी बहिन पसन्द आई ?

सन्तोष ने रुँधे हुए स्वर में कहा—सचमुच इस समय मेरा हृदय उसके चरणों पर लोट रहा है । मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूँ वासो, तुम्हारी वहिन किसी स्वर्ग की देवी है, और उसे पाकर इस पृथ्वी पर कोई भी युवक अपने को धन्य समझ सकता है । हाँ, यह एक प्रश्न है कि मेरे जैसे लोग इस स्वर्गीय वैभव के अधिकारी हो सकते हैं या नहीं ?

"अगर सरला किसी के योग्य है तो वह तुम हो !"—यह कह कर वासुदेव ने अपने प्रेमोन्मत्त मित्र का हाथ चूम लिया ।

५

पूरे आठ दिनों के बाद पं० रामदयाल अच्छे हो गए । इस बीच में प्रतिदिन वासो और सन्तोष उनके पास जाया-आया करते थे । अब सरला और सन्तोष निस्सङ्कोच भाव

से मिलते और खूब हिलमिल कर बातें करते थे। दोनों एक-दूसरे पर मन ही मन रीझ गए थे। और इसकी अभिव्यक्ति उन दोनों की बातचीत से कभी-कभी हो जाती थी। रामदयाल के हृदय में इन दोनों के हेल-मेल से आशा की एक किरण फूट पड़ी थी, किन्तु आशङ्का और अन्धकार का सम्पूर्ण पर्दा अभी फट नहीं सका था। वे अभी तक निश्चयपूर्वक समझ ही नहीं पाए थे कि आगे क्या होने वाला है। अभी तक वासुदेव ने भी उन्हें कुछ नहीं बताया था।

सूर्योदय हो ही रहा था कि एकाएक पं० रामदयाल अपने दरवाज़े पर मोटर की आवाज़ सुन कर चौंक पड़े। देखा, तो वासो और सन्तोष हैं। गाड़ी से उतरते ही रामदयाल ने दोनों को प्रेमपूर्वक छाती से लगा कर पूछा—आज इतने सवेरे कैसे आ पहुँचे बेटा?

"आज सन्तोष जा रहे हैं चाचा जी!"—वासुदेव ने उल्लास-भरी वाणी में जवाब दिया—"इसीलिए आपके चरण छूने आए हैं!"

रामदयाल कुछ बोलने ही वाले थे कि सन्तोष ने उनके चरणों पर अपना सिर रख दिया। दीनता की असाध्य पीड़ाओं से दिन-रात पिघलते रहने वाला हृदय इस अयाचित सुख और सम्मान से ऐसा थर्राया कि रामदयाल किसी

तरह भी अपने को न रोक सके। वे बुक फाड़ कर बच्चों की तरह रो पड़े और रोते ही रोते उन्होंने सन्तोष को उठा कर अपने गले से लगा लिया। स्नेह और ममता के इस आलिङ्गन में उस ग़रीब ब्राह्मण के जीवन का सारा अरमान लिपटा हुआ था। दोनों उसी तरह कुछ देर तक एक-दूसरे के गले से लिपटे रहे।

वासुदेव अब अधिक देर तक नहीं ठहर सका हुलास से बोल उठा—चाचा जी, सन्तोष अब सब तरह से हमारे हो गए। इसी अगले महीने में विवाह हो जाना चाहिए।

रामदयाल को अपने कानों पर विश्वास नहीं हुआ, किन्तु हृदय में उल्लास की धारा इतनी बलवती हो उठी कि मुँह से आप ही आप निकल पड़ा—इससे बढ़ कर मेरे लिए सौभाग्य की और कौन सी बात होगी बेटा?

इसके बाद रामदयाल ने सन्तोष से पूछा—अभी जा रहे हो बेटा?

सन्तोष ने नम्रता से जवाब दिया—जी हाँ।

"अच्छी बात है, तुम चलो आँगन में बैठो, मैं अभी आता हूँ।"—कह कर रामदयाल वासुदेव से बोले—"चलो बेटा, ज़रा मेरे साथ चलो।"

रामदयाल वासुदेव को साथ लेकर पास ही के एक

बाज़ार में चले गए। रास्ते में वासुदेव को मालूम हुआ कि वे सन्तोष को एक जोड़ा धोती पहनाया चाहते हैं, क्योंकि उसने उनके यहाँ भात खाया है।

उधर आँगन में पैर रखते ही सन्तोष ने देखा कि सरला आसन पर बैठ कर 'रामायण' का पाठ कर रही है। सवेरे नहा-धोकर वह प्रतिदिन 'रामायण' और 'गीता' का पाठ किया करती थी। वह रामायण पढ़ने में इतनी लीन थी कि सन्तोष का आना उसे बिलकुल नहीं मालूम हो सका।

सन्तोष के प्रेम का प्याला आज बरबस छलका पड़ता था। सरला के पास पहुँच कर वह और भी अधीर हो उठा। सहसा उसके मुँह से निकल पड़ा—अब मैं जा रहा हूँ।

सरला ने चौंक कर देखा, उसके पीछे सन्तोष खड़ा था। वह सँभल कर उठ बैठी और मुस्कराती हुई बोली—यहाँ आते ही जाने की जल्दी पड़ जाती है!

"नहीं, आज मैं अपने घर जा रहा हूँ।"

"घर?"—एक प्रकार से जैसे चौंक कर सरला ने पूछा—"आज ही घर जा रहे हैं?"

"हाँ, इसी समय।"—सन्तोष की आँखों में आँसू उमड़ आए।

सरला कुछ बोल न सकी। उसने एक ठण्ढी साँस खींच ली। उसकी आँखें भी डबडबा आईं।

सन्तोष ने सान्त्वना के स्वर में कहा—ईश्वर चाहेंगे तो फिर भेंट होगी।

सरला का नारी-हृदय विचलित होकर रो उठा। उसने रुँधे स्वर में कहा—जाते समय मुझे एक भीख दिए जाएँग?

"तुम्हें देने योग्य मेरे पास है ही क्या?"—सन्तोष ने गद्गद भाव से उत्तर दिया।

"बस, इतनी ही भीख माँगती हूँ कि मुझे भूल मत जाना।"—कह कर सरला ने अपने आँचर से आँसू पोछते हुए ज्योंही उसके पैरों की ओर हाथ बढ़ाया, त्योंही सन्तोष ने लपक कर उसका हाथ पकड़ लिया। दोनों की नस-नस में एक साथ ही बिजली दौड़ गई। उसी समय दक्षिण पवन ने अपने कोमल झटकों से दोनों को एक कर दिया—संयोग की उस मीठी बेहोशी में दोनों अपना-अपना अस्तित्व भूल गए। जब होश आया तो देखा, सामने ही आशीर्वाद का दूर्वा-दल लेकर पं० रामदयाल खड़े-खड़े आनन्द के आँसू बहा रहे थे। वासुदेव भी उनके पास ही थाल में धोती और जनेऊ लिए मुग्ध-भाव से सिर झुकाए खड़ा था।

६

सरला को सन्तोष के घर आए अभी पाँच ही सात दिन हुए थे। पं० रामदयाल भी वहीं थे। बँगले पर बैठे-

बैठे कुछ लोगो के साथ बातचीत हो रही थी। इसी समय वहाँ एक भिखारिन आई।

"कुछ मिले बाबू जी"—भिखारिन के मुँह से इतना सुनते ही पं० रामदयाल घबड़ा कर खड़े हो गए। लोगों ने देखा, उनका मुँह विवर्ण हो रहा था। भिखारिन के पास वे ज्योंही पहुँचे, त्योंही वह चिल्ला उठी—"जीजा जी!"

रामदयाल थरथरा कर बैठ गए और हाँफते हुए बोले—शीला! अभी तक तुम हो ही?

"हाँ, जीजा जी! पापियों को इतनी आसानी से मौत भी नहीं मिलती।"—कह कर वह धड़ाम से उसी जगह बेहोश होकर गिर पड़ी।

बहुत देर के बाद जब उसे होश हुआ तो उसने पूछा—जीजा जी!

"क्या कहती हो शीला?"—रामदयाल ने आँसू से उमड़ते हुए स्वर मे उत्तर दिया।

"मेरी बेटी तो है न?"

"हाँ, शीला! यह उसी का घर है।"—कह कर रामदयाल ने लज्जा और शोक के मारे सिर झुका लिया।

"यह उसी का घर है?"—भिखारिन आश्चर्य से आँखें फाड़-फाड़ कर चारो ओर देखने लगी।

"हाँ शीला, यह उसी का घर है। भेंट करोगी?"

"नहीं"—कह कर वह उठ खड़ी हुई और बड़े वेग से एक ओर को भाग गई। सभी लोग वहाँ खोए-से खड़े थे। किसी की समझ में यह न आया कि वह भिखारिन कौन थी। मामले का रङ्ग बेढब देख कर सन्तोष के पिता पं० रामभूषण जी ने रामदयाल से पूछा—आप क्या कह गए समधी? यही उस भिखारिन की बेटी का घर है, यह बात तो मेरी समझ में नहीं आई।

रामदयाल ने भय से काँपते हुए कह दिया—वह सरला की माँ थी।

"तो क्या वह आपकी स्त्री थी?"—रामभूषण जी ने आश्चर्य से पूछा।

"जी नहीं, वह मेरी साली थी।"

"सब बातें स्पष्ट-रूप से कह डालिए!"—क्रोध से काँपते हुए रामभूषण जी ने कहा—"देखता हूँ, आपने मेरा सत्यानाश कर दिया।"

रामदयाल को झूठ बोलने का अभ्यास नहीं था। साथ ही वे भावी आशङ्का से डर के मारे काँप रहे थे। कुछ देर तक चुप रहने के बाद उन्होंने गम्भीरतापूर्वक कहना शुरू किया—"अब मैं यह बात छिपा नहीं सकता। वह भिखारिन मेरी साली थी। विवाह के बाद ही उसके पति का देहान्त हो गया। उसके बाद उसका देवर उसे

यह विश्वास दिला कर कि वह उसे जीवन भर किसी तरह का कष्ट नहीं होने देगा, अपने घर में रखने लगा। उसी चाण्डाल के कारण बेचारी को जब गर्भ रह गया, तब उसने उसे अपने घर से निकाल दिया। एक दिन आधी रात के समय वह मेरे घर आई और अपनी बहिन को एक लड़की सौंप कर न जाने कहाँ भाग गई। हमें भी कोई सन्तान नहीं थी। उस लड़की को बड़े प्यार से हमने पाला-पोसा और वही आज आपकी पुत्र-वधू है। यह बात आज तक कोई नहीं जान सका था—इसकी जरूरत ही नहीं पड़ी थी। आज ऐसा संयोग आ पड़ा है कि मैं अब इसे गुप्त नहीं रख सकता। जो सच्ची बातें थीं, मैंने आपको बता दीं—आगे आपकी जैसी मर्जी।"

वहाँ जितने लोग बैठे थे, सबके ऊपर जैसे बिजली टूट कर गिर पड़ी। सन्तोष के चारों ओर अँधेरा छा गया। रामभूषण क्रोध के मारे पागल होकर चिल्ला उठे—तो क्या उसी पापिनी की बेटी से तुमने मेरे बेटे का विवाह कराया है?

रामदयाल ने गम्भीर होकर जवाब दिया—उस अबला को मैं पापिनी कैसे समझूँ? नारी-जगत् में वासनाओं और पापों की सृष्टि करने वाले तो हम पुरुष ही हैं। उन बेचारियों का क्या दोष? सरला-जैसी पुत्र-वधू पाकर भी

क्या आप उसकी अभागिनी माँ के ऊपर दया नहीं कर सकते ?

"मैं अब तुम्हारा व्याख्यान नहीं सुनना चाहता"—रामभूषण जी जोश के साथ खड़े होकर बोले—"अपनी सरला बेटी को लेकर इसी समय तुम मेरे दरवाज़े से दूर हो जाओ। मैं एक क्षण भी उसे अपने घर में नहीं रखना चाहता ?"

रामदयाल की आँखों से आग की चिनगारियाँ निकलने लगीं। उन्होंने भी क्रोध में तमक कर कहा—अच्छी बात है।

इतना सुनते ही सन्तोष मूर्च्छित होकर गिर पड़ा। इधर और लोग उसकी बेहोशी दूर करने में लगे थे, उधर रामभूषण जी पागलों की तरह चिल्ला रहे थे—बेटा मर जाय तो मर जाय, मगर मैं इस पापिनी को अपने घर में नहीं रहने दूँगा। यह इसी दम यहाँ से अपना मुँह काला करे।

सन्तोष उसी तरह बेहोशी की हालत में हवेली के भीतर पहुँचाया जा रहा था और उसी समय बेचारी सरला निर्दयतापूर्वक आँगन से बाहर निकाली जा रही थी। बाहर आते ही वह रामदयाल के गले से लिपट कर चिल्ला उठी। रामदयाल ने भी रोते हुए कहा—चलो बेटी ! विधाता को यही मञ्जूर था।

७

लाख उपचार करने पर भी सन्तोष खाट से नहीं उठ सका। यहाँ तक कि अब उसके जीने की आशा नहीं रह गई। पं० रामभूषण जी का धीरज भी टूट गया। एक ही बेटा था। अपने किए पर वार-वार पछताने लगे। सन्तोष जब कभी होश में आता, तब कातर-भाव से उसकी आँखें इधर-उधर कोई ऐसी चीज़ टटोला करतीं, जिसका वहाँ अभाव था। वेहोशी की हालत में भी वह सरला के ही सम्बन्ध में अनाप-शनाप बका करता। कभी रोने लगता, कभी खिलखिला कर हँस पड़ता। पता नहीं, उसे क्या हो गया था? किसी को उसके जीने की आशा न रह गई। अब रामभूषण जी से न रहा गया। वे अपने पाप का प्रायश्चित्त करने को अधीर हो उठे।

*   *   *

प्रातःकाल का समय था। रामदयाल नहा-धोकर अपने आँगन से वाहर निकले ही थे कि एक आदमी आकर धड़ाम से उनके पैरो पर गिर पड़ा। वही पं० रामभूषण जी थे। रामदयाल जी की सहृदयता सजग हो उठी। उन्हें आदर के साथ उठाते हुए आँखों में आँसू भर कर वे बोले—आप यह क्या कर रहे हैं?

रामभूषण जी फूट-फूट कर पहले खूब रोए, अन्त में

उन्होंने हाथ जोड़ कर कहा—मैं आज आपके पास भिखारी बन कर आया हूँ। मेरा इकलौता बेटा मर रहा है। उसी के लिए आप से भिक्षादान लेने आया हूँ। मेरी पुत्र-वधू मुझे लौटा दीजिए।

रामदयाल ने अपनी आँखें पोंछते हुए कहा—यह भीख तो मैं अब न दे सकूँगा। मेरे अधिकार की बात नहीं है। उसी भिखारिणी से यह भीख माँगनी होगी, जो आज मेरी इस कुटिया की स्वामिनी बन कर, सरला की माँ के रूप में भीतर बैठी हुई है। अगर वही अपनी बेटी आपको भीख के रूप में दे सके, तो चलिए, माँग लीजिए। क्या सन्तोष की हालत खराब है ?

"हाँ, वह बच नहीं सकेगा, अगर कहीं मुझे यह भीख न मिली !"—कह कर रामभूषण जी फिर बुक फाड़ कर रो पड़े।

उन्हें रामदयाल आँगन में लिवा ले गए और सरला की माँ से कहा—शीला ! तुम्हारे समधी आज तुमसे भीख माँगने आए हैं, सरला को इनके साथ जाने दोगी ?

शीला क्रोध से तमतमा कर कुछ कहना ही चाहती थी कि रामभूषण जी दौड़ कर उसके पैरों पर गिर पड़े। वह कुछ बोल न सकी। पैर छुड़ा कर दूर हट गई और सरला को उनके आगे खड़ी करती हुई बोली—देखिए,

मेरी बेटी पर अपना दया-भाव रखिएगा। मैं आज अपने हाथों से इसको दान कर रही हूँ; मगर जब कभी इसका जी चाहे, इसे मेरे पास भी आने दीजिएगा, रोक-टोक न कीजिएगा। जाओ बेटी! इस समय रोना मत। तुम्हारे स्वामी बीमार हैं।

सरला अधीर होकर अपने ससुर के पैरों पर गिर पड़ी। रामभूषण जी उसे प्यार से उठाते हुए बोले—मुझे माफ़ करना बेटी! तुम मेरे जीवन की सबसे बड़ी और महँगी भीख हो। चलो, मेरे मरते हुए बेटे को जीवन का 'भिक्षा-दान' दो!

दुर्लभ प्यार

दुर्लभ प्यार

विवाह और गौना हो जाने के चार-पाँच वर्ष बाद अगर किसी को सन्तान न हो, तो उसे वन्ध्या मान लेने में आपत्ति या सन्देह के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता। जिस समाज में अठारह-उन्नीस वर्ष की अवस्था तक पहुँचते-पहुँचते बालिकाएँ कम से कम दो बच्चों की माँ बन जाने की अनमोल क्षमता रखती हों, जिस समाज के वातावरण में शैशव और वृद्धत्व के बीच वाली अवस्था का परिपालन धर्म-विरुद्ध और अनैसर्गिक समझा जाता हो, उसी समाज के अन्न-जल से पल कर पूरे इक्कीस वर्ष तक निस्सन्तान रहती हुई, अपने यौवन-देवता के आशीर्वाद की रक्षा करना कोई ऐसा-वैसा अपराध नहीं था, जिसके लिए मालती किसी के आगे आँचर पसार कर क्षमा की भीख भी माँग सकती। उसका पक्ष इतना दुर्बल था कि उसके उदार पति भी उसे किसी प्रकार की सहायता नहीं पहुँचा सकते थे।

मौलिका

अनन्त के परिवार में और कोई था ही नहीं—स्त्री के अतिरिक्त सिर्फ़ एक विधवा चाची थीं। वे सदैव अपने पूजा-पाठ में ही लगी रहतीं। इस काम से अगर थोड़ा-बहुत अवकाश मिल जाता तो अपने उस अमूल्य समय को वे निस्स्वार्थ-भाव से पड़ोसियों के उपकार-कार्य में लगा देती थीं। अगर कोई सास अपनी पतोहू पर कठोर दृष्टि रखती, तो उस पतोहू के पास पहुँच कर उसके प्रति अपनी हार्दिक समवेदना प्रकट करती हुई, उसे अपनी स्वत्व-रक्षा के लिए उत्तेजित कर आना और उधर सास के पास पहुँच कर उसे पतोहू को हर तरह से अपने वश में रखने के लिए नए-नए शासन-विधान बतला आना; अगर किसी का बच्चा बीमार पड़ जाय तो उसे निर्भीक भाव से यह बतला आना कि किस डाइन की करतूत से ऐसा हुआ है और किस तरह खुले-आम उसका झोंटा पकड़ कर घसीटने से ही बच्चा चटपट खाट छोड़ कर उठ बैठेगा; किसी जवान औरत को भूत लग गया हो तो उसे यह मालूम करा देना कि भूत किसका भेजा हुआ है और किस तरह उसी के आँगन में सौ-पचास ढेले फेंकते ही भूत भाग खड़ा होगा; पति और पत्नी के छिपे हुए विग्रह को सार्वजनिक रूप देकर बिना बुलाए ही निष्पक्ष-भाव से उसका निवटारा कर आना, इत्यादि ऐसे अनेक लोकोपकारी कार्य थे, जिनके

साथ उनकी स्वार्थ-भावना का कोई सम्पर्क नहीं था। निस्स्वार्थ सेवा-भाव से ही वे ऐसा किया करती थीं। यहाँ तक कि अड़ोस-पड़ोस की जिन स्त्रियो को लड़ने-झगड़ने तक की तमीज़ नहीं रहती, उन्हें वे उनके घर पहुँच कर, बिना किसी प्रकार की फीस लिए ही, इस तत्परता के साथ—दिल लगा कर—पढ़ा आया करतीं कि दो ही चार दिनो के भीतर वे विग्रह-तत्व को बारीक से बारीक बातो की पूरी जानकारी हासिल कर लेती थीं। गाँव के लोग इन्हें 'अम्माँ जी' कह कर पुकारा करते थे।

उनके और तो कोई था ही नहीं, इसलिए अनन्त ही को वे अपना सर्वस्व मानती थीं। मगर उसकी स्त्री मालती को वे किसी तरह भी न अपना सकीं। वह उनके किसी मसरफ़ की नहीं थी। न उसे लड़ाई-झगड़े की रुचि थी, न आदत। घर-गृहस्थी के धन्धों से जो अवकाश मिलता, उसे वह अपने लिखने-पढ़ने और सीने-पिरोने में लगाती। अड़ोस-पड़ोस की स्त्रियो से तो उसका कोई सम्पर्क ही नहीं था। इस बात के लिए लोग उसे ताने भी दिया करते थे, पर वह इसकी परवाह न करती। अम्माँ जी को ऐसी स्त्रियों से स्वाभाविक चिढ़ थी—समाज के भीतर मङ्गल भावनाओं का प्रसार करने वाली ऐसी देवियो के अस्तित्व से वे मन ही मन चिढ़ा करती थीं। समय-समय पर मालती के ऊपर

उन्होंने कई तरह के जाल फेंके, मगर वह चिड़िया ऐसी नहीं थी, जो दानों के लालच में फँस जाती। अनन्त को बचपन से ही वे अपना चुकी थीं। वह स्वभाव का इतना दब्बू और भीरु हो गया था कि अम्माँ जी उससे जो चाहतीं, करवा लेतीं। उसे इस धारणा ने ग़ुलाम बना लिया कि अम्माँ जी जो कुछ करती हैं, उसी की भलाई के लिए। उनका पूजा-पाठ, जप-तप, दान-यज्ञ सब कुछ उसी की मङ्गल-कामना के लिए किए जाते थे। अम्माँ जी को उसके मन का यह भाव अच्छी तरह मालूम था। इसी के सहारे वे धीरे-धीरे मालती की ओर से उसका मन फिराने में समर्थ हुईं। इस काम में उन्हें मालती की स्वाभाविक उदासीनता से भी कुछ कम सहायता न मिली। उसका नीरव सन्ताप भी उसके सत्यानाश का प्रधान कारण बन बैठा। अम्माँ जी से रात-दिन उकसाए जाने वाले अनन्त के दुर्बल हृदय में यह बात जड़ जमा बैठी कि उसके ऊपर उसकी स्त्री का कुछ भी प्रेम नहीं है—उसे वह सदैव उपेक्षा की ही दृष्टि से देखती है।

अम्माँ जी के वात्सल्य स्नेह से दब कर मालती का जीवन-भार कितना अवहनीय हो उठा था, उसकी पवित्र जीवन-धारा में कैसी-कैसी गन्दी नालियाँ मिलाए जाने की चेष्टा की जा रही थी, इसे न तो अनन्त जानता ही था, न

जान कर इसका कोई प्रतिकार ही कर सकता था। इसी से मालती किसी के आगे अपने दुर्बल आँसू नहीं बिखेरती, तपस्विनी की तरह चुपचाप कमरे के एक कोने में बैठ कर अपने सन्ताप की घड़ियाँ गिनती जा रही थी।

इधर अम्माँ जी की कृपा से गाँव भर के लोगों ने उसे 'बॉफ-बॉफ' कह कर पुकारना शुरू कर दिया था, उधर अनन्त के हृदय में इस लगन की आग लगाई जा रही थी कि वह अपनी वंश-रक्षा का उद्योग करे। ऐसी अनुकूल परिस्थिति में पहुँचते ही अम्माँ जी की हिंसा-वृत्ति और भी अधीर हो उठी। अब उनकी गुप्त भावनाएँ अभिव्यक्ति का मार्ग ढूँढ़ने लगीं। आखिर एक दिन मालती की एक छोटी सी ग़लती पर आग-बबूला होकर, उन्होंने कह ही तो दिया—इस छोकरी ने दो अच्छर पढ़ क्या लिए मानो हाथ पर चन्द्रमा उतार लिया! धरती पर तो पैर ही नहीं पड़ते, मालूम होता है आकाश के तारे तोड़ने जा रही हो। देखना है, इस तरह रानी बन कर कब तक भमकती फिरती हो। सारा गुमान न ढह जाय तो मेरा नाम लेना।

मालती से कोई बात छिपी नहीं थी। इस स्पष्ट घोषणा ने उसकी आँखों के सामने उसका भविष्य खड़ा कर दिया। उस समय वहाँ अड़ोस-पड़ोस की कुछ बाहरी स्त्रियाँ भी

मौजूद थी। अबला का हृदय वेदना, ग्लानि और अहङ्कार के निर्दय धक्कों से एक साथ ही चूर-चूर हो गया। अपनी विह्वलता का वेग वह किसी तरह न सँभाल सकी। बिना कुछ कहे-सुने वहाँ से हट कर अपने कमरे में चली गई। हृदय का भार हलका करने के लिए वह एक बार जी खोल कर रोना चाहती थी; मगर रो न सकी। वात-विच्छिन्न लतिका की भाँति लटपटा कर खाट पर गिर पड़ी!

इस समय उसे अपना जीवन उस असहाय नौका की तरह मालूम पड़ रहा था, जिसका कर्णधार शराब की बेहोशी में डाँड़ खेना भूल गया हो। नौका के डूब जाने की उसे उतनी परवाह नहीं थी, जितनी कर्णधार के बेमौत मरने की चिन्ता। मगर वह बेचारी कर ही क्या सकती थी?

२

शाम को जब अनन्त जलपान करने बैठा तो देखा, अम्माँ जी का चेहरा कुछ तमतमाया हुआ था। सहसा उसे कुछ पूछने की हिम्मत न हुई। इसी समय उसके कानों में कहीं से सङ्गीत की ध्वनि आई। बात का एक सिलसिला जारी करने के लिए उसने पूछा—यह गाना किसके यहाँ हो रहा है अम्माँ?

"जिसके यहाँ लछमी (लक्ष्मी) वास करती हैं"—अम्माँ जी ने विषभरे शब्दों में एक ठण्डी साँस खींच कर उत्तर

दिया—"और किसके यहाँ ? तुम्हारे यहाँ भी कभी ऐसा दिन आवेगा क्या ?"

"आज तुम कुछ नाराज सी मालूम होती हो अम्माँ !"—अनन्त ने अपने हृदय के असली भावों को दबा कर बड़े ही कोमल शब्दों में कहा—"क्या यह पूछना कुछ अनुचित हुआ ? अगर ऐसी बात पूछ कर मैंने कोई ग़लती की हो, तो मुझे माफ करना, मैं जानता नहीं था।"

अम्माँ जी इस क्षमा-याचना से मन ही मन बहुत खुश हुईं। मगर ऊपर से गहरे दुख का भाव व्यक्त करती हुई बोलीं—मैं नाराज होकर ही क्या कर लूँगी बेटा ? मैं तो समझाते-समझाते हार गई। भगवान् मुझे मौत भी नहीं देते, न जाने कब तक इस मसान में बैठ कर रोती रहूँगी। तुम कैसे समझ सकोगे कि आज यह गीत सुन-सुन कर मेरा कलेजा किस अरमान की छुरी से कटा जा रहा है।

"तुम कह क्या रही हो अम्माँ ?"—अनन्त ने बड़ी ही दीनता से पूछा—"तुम्हे कौन सा कष्ट है ? आज तुम्हें हो क्या गया है ?"

"वही तो कहती हूँ अन्तू !"—अम्माँ जी ने आँचर से अपनी आँखों के मायावी आँसू पोछते हुए कहना शुरू किया—"आज मैं तुम्हारी माँ होती तो तुम मेरा दुःख समझते। लाख अपना दूध पिला कर पाला-पोसा है, मगर

हूँ तो चाची हो ; फिर मेरे कलेजे का मर्म तुम क्यों समझने लगे ? सच्ची बात भी कहूँगी तो ऊपर से चाहे कुछ न कहो, मन में उसे बनावटी और झूठी ही समझोगे।"

अन्नू के कलेजे में इन बातों ने घाव कर दिया। बात ऐसी नहीं थी। अम्माँ जी की एक-एक बात को वह श्रद्धा और विश्वास के साथ सुनता था, उसे झूठी और बनावटी समझने का उसने अब तक कभी स्वप्न भी नहीं देखा था। आँखों में आँसू भर कर उसने पूछा—आज मुझसे कौन सा अपराध हो गया है अम्माँ ! इस तरह की कठोर बातें तो तुमने मुझसे आज तक कभी नहीं कहीं। आज अचानक तुम्हें क्या हो गया है ? क्यों इस तरह मेरे ऊपर प्रहार किए जा रही हो ? बताती क्यों नहीं, तुम्हें क्या दुःख है ?

"दुःख ? हाय ! इससे बढ़ कर और कौन सा दुःख होगा बेटा !"—आँसुओं से उलझे हुए स्वर में अम्माँ जी ने कहना शुरू किया—"इससे बढ़ कर और कौन सा दुःख होगा कि जहाँ मैं आज तुम्हारे तीसरे बेटे को अपनी हुलास भरी छाती से लगा कर पटरानी की तरह सुख की सेज पर पड़ी रहती, वहाँ अभी तक एक का भी मुँह नहीं देख सकी हूँ—क्या जाने देख भी सकूँगी या नहीं ! रामू तुमसे सात साल का छोटा है और आज हुलास के साथ बेटे के जन्म पर बधाई के गीत सुन रहा है, और एक तुम हो कि

सारी जवानी बीती जा रही है, पर तुम्हें इसकी कोई चिन्ता ही नहीं। हाय! मेरे लिए वह दिन न जाने अभी कितनी दूर है, जब मैं भी रामू की माँ की तरह अपने आँगन में उछल्-उछल कर गीत गाऊँगी!"

अनन्त लज्जा और सन्ताप के धक्कों से चूर-चूर हो गया। बार-बार चेष्टा करने पर भी वह अपने आँसुओं की उमड़ती हुई धारा को रोके न रह सका। मगर वह शीघ्र ही सँभल गया और चटपट आँसू पोंछते हुए दीन-भाव से बोला—इसमें किसी का क्या वश है, अम्माँ? भगवान् जो चाहते हैं, उससे अधिक तो कुछ हो नहीं सकता।

दुष्ट-प्रकृति के लोग दुर्बल आँसू का उपहास ही भर नहीं करते, उसे अपनी इच्छा-पूर्ति का साधन भी बना लेते हैं। अन्तू के हृदय पर अपने प्रहार की ऐसी मार्मिक चोट पहुँचते देख, अम्माँ जी का हौसला और भी बढ़ गया। इस बार उन्होंने बड़ी गम्भीरता से कहा—इस तरह भगवान् के मत्थे दोष मढ़ने से तो किसी का काम नहीं चलता बेटा! जो जैसा बोएगा, वैसा ही काटेगा भी।

"तो इसमें मेरा क्या दोष है अम्माँ?"

"तुम्हारा दोष नहीं; दोष मेरे करम का है बेटा! जिस दिन तुम्हारे बाबू जी इस छोकरी के साथ तुम्हारा ब्याह कर रहे थे, उसी दिन मैंने कह दिया था कि बलरामपुर

गाँव की लड़कियाँ बड़ी कुलच्छनी होती हैं, उनसे आज तक किसी का वंश नहीं चला। उस गाँव की बेटियाँ जहाँ-जहाँ गई हैं, वहाँ कुछ न कुछ अनिष्ट ही हुआ है। जिस घर में घुसी हैं, उसे मसान ही बना कर छोड़ा है। मगर उनको न जाने इस चुड़ैल में कौन सा गुण देख पड़ा कि मैं लाख रोई-पीटी, पर उन्होंने मेरी एक न सुनी। आख़िर इसका फल भी हाथोंहाथ पा गए। घर में पैर रखते ही इस अभागिनी ने नाश का डङ्का बजा दिया। आते ही पहले तो ससुर को ही चट कर गई; फिर मुक़द्दमा उठ खड़ा हुआ—सीतापुर वाली ज़मीन नीलाम हो गई; काली गैया मर गई; आख़िर को वह झबरा कुत्ता भी इस डाइन की नज़र से न बच सका। अब न जाने किसको खाएगी—क्या करेगी! ऐसी राक्षसी से भी किसी का वंश चला है? इसी से तुम सुख पाने की आशा किए बैठे हो?"

मालती का यह निर्दय अपमान अनन्त न सह सका। उस अभागिनी को चाहे आज वह प्यार की दृष्टि से न देखता हो, मगर वह उसी के जीवन-सूत्र में बँधी हुई है, इस बात को वह कभी भूल ही नहीं सकता था। राह में पड़े हुए एक साधारण ठोकरे को भी जब हम हाथों में उठा लेते हैं, तब वह हमारा हो जाता है! उसके ऊपर हमारी ममता का एक अधिकार प्रतिष्ठित हुए बिना नहीं

रहता। उस समय हमारे हाथों से छीन कर उसे यदि कोई जूतों से ठुकराने की चेष्टा करे, तो न जाने क्यों हमारे खून में एक प्रकार की गर्मी आ जाती है! हम अपनी खुली आँखों से उसे ठोकरें खाते देख ही नहीं सकते। मालती तो रक्त-मांस की बनी हुई एक मोहिनी प्रतिमा ही थी। उसकी ओर से अन्तू का हृदय बिलकुल ही ममता-शून्य हो जाय, यह सम्भव नहीं। उसके समूचे शरीर में क्रोध की ज्वाला भभक उठी; मगर मुख से वह एक शब्द भी नहीं बोल सका।

उसके चेहरे की रङ्गत देखते ही अम्माँ जी समझ गईं कि शिकार घायल होकर तड़प रहा है, अब यह किसी प्रकार का प्रतिघात नहीं कर सकता। निशाना साध कर कुशल बहेलिए ने दूसरा तीर छोड़ा। यह सीधे जिगर में चुभने वाला तीर था। वह बोलीं—इस तरह मेरे ऊपर लाल-पीले क्यों हो रहे हो अन्तू? अगर मेरी बातें तुम्हें बुरी लगती हैं तो लो, आज से मैं कान पकड़ती हूँ। ज़बान काट लेना अगर फिर कभी कुछ कहूँ। तुम समझते होगे कि वह दिन भर अपने घर में बन्द पड़ी रहती है—कुछ बोलती ही नहीं। वह ऐसी बातें कहती है कि सुनो तो मुँह छिपाने की भी जगह न रह जाय। जो कोई आता है, उसी के आगे यह कह-कह कर रोती है कि तुम्हीं हिजड़े हो।

तुम्हीं बताओ कि वह छोकरी तुम्हें हिजड़ा कह-कह कर इस बेहयाई के साथ चार लोगों के सामने गालियाँ दे और मैं कान में उँगली डाल कर चुप मारे बैठी रहूँ? अगर यही मञ्जूर हो तो बीबी की गालियाँ सुनते रहो। तुमको उसमें मज़ा मिल सकता है, मगर मैं तो जीते जी यह सब नहीं सुन सकती। न हो मुझे अपनी बहिन के घर छोड़ आओ—जिन्दगी के बाक़ी दिन किसी तरह वहीं गुज़ार लूँगी।

इस अन्तिम वाक्य तक पहुँचते-पहुँचते अम्माँ जी ने अपनी आँखों को न जाने किस तरह बरसात की नदियाँ बना दीं। मालूम होता था, किसी मार्मिक वेदना से उनका हृदय टूक-टूक होकर आँसू के रूप में बाहर निकल रहा है।

अन्नू के क्रोध की धारा बात की बात में उलट गई; अभी तक वह अम्माँ जी की ओर बह रही थी, अब वही बेचारी मालती को निगलने के लिए विक्षिप्त हो उठी।

"तो, वह मुझे इस तरह की गालियाँ देती है अम्माँ?"—कह कर वह जलपान की थाली को एक ओर ठुकराते हुए आवेश में खड़ा हो गया और क्रोध से काँपते हुए स्वर में बोला—"उसकी इतनी हिम्मत! कहो तो अभी—इसी दम—उसकी बोटी-बोटी काट कर कुत्ते को खिला दूँ।"

अम्माँ जी की भीतरी प्रसन्नता का क्या पूछना! मगर

ऊपर से चटपट अन्तू का हाथ पकड़ती हुई बोलीं—तुम्हारी जो मर्ज़ी हो वह करो अन्तू, बाप रे बाप! इस तरह ख़ूनी मिज़ाज तो तुम्हारा कभी नहीं था। आज तो जैसे तुम वह अन्तू ही नहीं रह गए। मुझसे पूछ रहे हैं कि कहो तो उसकी बोटी-बोटी काट कर कुत्तों को खिला दूँ। मैं किस लिए किसी की बोटी कटवाऊँ और किस ग़रज़ से किसी को कुत्तो से नुचवाऊँ? आख़िर तुम दोनों तो एक ही होगे, बीच में पीसी जाऊँगी मैं। सो बाबा, न रहेगा बाँस न बजेगी बाँसुरी—न मैं यहाँ रहूँगी, न यह सब फ़साद होगा। मुझे एक आदमी सङ्ग कर दो, मैं अपनी बहिन के पास चली जाऊँ। मेरे जाने पर चाहे उसकी बोटी काटो, चाहे उसे गले का हार बना कर रक्खो। मैं क्या समझती नहीं हूँ, ग़ुस्सा तो है मुझ पर और झाड़ रहे हो उस पर।

यह दूसरा तीर था, जिसका आघात अन्तू सह नहीं सका। ज़ोर से अम्माँ जी को एक झटका देते हुए वह क्रोध के मारे पागल होकर मालती के कमरे की ओर दौड़ पड़ा। मगर कमरे में पहुँचते ही जैसे वह सब कुछ भूल गया। वहाँ जाकर उसने देखा कि उसकी अभागिनी पत्नी तकिए में सिर गाड़ कर किसी तस्वीर को अपने आँसुओं से नहला रही है। और भी पास पहुँच कर देखा, वह तस्वीर उसी की थी। पता नहीं उसका सारा क्रोध कहाँ भाग गया!

आत्म-विस्मृत होकर उसने आप ही आप मालती के कन्धे पर हाथ रख दिया। इस आकस्मिक स्पर्श से वह ध्यानमग्न अबला चौंक कर उठ बैठी। होश में आते ही उसका नारी-दर्प सतेज हो उठा। वह न जाने किस आवेश में आकर कह बैठी—ख़बरदार! मुझे मत छूना। मैं वन्ध्या हूँ—पाप की काया हूँ—छुओगे तो मलिन हो जाओगे; अम्माँ जी रूठ जायँगी; तुम्हारे लोक-परलोक दोनों बिगड़ जायँगे। मेरे सामने से हट जाओ। मैं पूजा कर रही हूँ, उसमें विघ्न मत पहुँचाओ।

न जाने आज कितने दिनों बाद वह मालती के कमरे में आया था। जिस दिन चुपके से उसके कानों में उसकी स्नेहमयी अम्माँ जी ने यह मन्त्र फूँक दिया था कि उस छोकरी को संसर्ग-दोष से हो जाने वाला एक बड़ा ही भयङ्कर गुप्त-रोग है और यह बात उसे एक ऐसी स्त्री-चिकित्सिका ने बताई है, जो चेहरा देखते ही झट बीमारी का नाम बतला देती है, उसी दिन से वह उसके पास जाते हुए और भी घबड़ाता था। पता नहीं, उसके ऊपर अम्माँ जी ने कौन सा जादू डाल रक्खा था कि वे उसे जो कुछ भी कह देतीं, उसे सिर झुका कर मान लेने के सिवाय उससे और कुछ करते ही नहीं बनता। मगर आज उसका वह डर भी न जाने कहाँ जा छिपा था। इस

समय मालती की उस करुण छवि पर उसका तरुण हृदय न्योछावर हो रहा था। उसकी वे व्यङ्ग-भरी बातें, उपेक्षा की वे मार्मिक चोटें, उसे कुछ-कुछ मीठी सी लगने लगी थीं ! अब वह मोम का पुतला नहीं, रक्त-मांस की काया में लिपटा हुआ कोमल भावनाओं का अनमोल वैभव बन गया था। मालती की वे छोह-भरी बातें सुन कर उसने याचक-भाव से उसकी ओर हाथ बढ़ा कर पूछा—किसकी पूजा कर रही हो ? उस तस्वीर की ! लाओ, देखूँ तो वह कौन है ? अगर वह मैं ही हूँ तो तुम्हें उसकी पूजा न करने दूँगा। वह तुम्हारी पूजा के योग्य नहीं—घृणा और उपेक्षा के योग्य है। उसे लाओ मुझे वापस कर दो।

पति की यह पश्चात्ताप-भरी वाणी सुन कर मालती का विद्रोही हृदय और भी विह्वल हो उठा। तस्वीर को छाती से लगाती हुई बड़ी ही कातरता से वह बोली—ईश्वर के लिए तुम मेरे कमरे से चले जाओ। यही समझ कर मेरे ऊपर दया करो कि यह तुम्हारी तस्वीर नहीं है। यह तस्वीर उनकी है, जिन्होंने एक दिन प्यारपूर्वक मेरा हाथ पकड़ा था—जिसकी मैं हूँ और आजीवन बनी रहूँगी। तुम इस बीच मे कूदने वाले कौन होते हो ? मेरा यह सुख भी क्या तुम्हारे लिए सह्य नहीं है। जाओ, मुझे सता कर भी तो तुम सुखी नहीं हो पाते ; फिर इस पाप की छाया में क्यों खड़े

हो ? मलिन हो जाओगे तो शायद मैं तुमसे और भी घृणा करने लगूँगी । देखो, मुझे छूना मत !

मालती की उस मान-भरी वाणी का मर्म, उसके भूखे हृदय की तड़पती हुई प्रेम-भावनाओं का वह मीठा रहस्य, अभागा युवक अभी अच्छी तरह समझ भी नहीं सका था कि अम्माँ जी उसके पास पहुँच कर बोल उठीं—तुम्हारे जैसे मर्दों को अगर कोई हिजड़ा कहे तो कोई बेजा भी नहीं है अन्तू ! एक ही घूँट में हया-शरम सब पी गए ? कुत्ते की तरह दुम दबाए खड़े हो और मेम साहब गालियाँ दे-देकर तुम्हें कमरे से निकाल रही हैं ? मुँह में कालिख लगा कर डूब नहीं मरते ? सुनते रहो तुम इसी तरह गालियाँ । लो, मैं जाती हूँ ।

अन्तू के ऊपर घड़ों पानी पड़ गया । मालती के लिए यह कोई नई बात नहीं थी । वह चुपचाप खड़ी रही—उसकी आँखों से आग की चिनगारियाँ निकल रही थीं ।

अम्माँ जी ज्योंही कमरे के बाहर निकलीं, त्योंही अन्तू भी निकल गया और उनके पैरों पर गिर कर रोता हुआ बोला—अम्माँ, मैं सचमुच हिजड़ा हूँ—कापुरुष हूँ—तुम्हारे बिना मैं जीता न रह सकूँगा । मुझे भी अपने साथ ले चलो । कुछ दिनों के लिए हवा-पानी बदल जाने से तबीयत अच्छी हो जायगी, तब तुम्हें साथ लेकर फिर लौट आऊँगा ।

अम्माँ जी को मुँह माँगा वरदान मिला। उन्होंने उसे उठा कर छाती से लगाते हुए कहा—हाँ बेटा! चलो, कुछ दिनों के लिए भी तो इस चुड़ैल से तुम्हारा साथ छूटे, नहीं तो यह तुम्हें जीता न छोड़ेगी। जाओ, कामताराय की गाड़ी किराए पर ठीक कर लाओ। पिछली पहर रात बाक़ी रहेगी तभी चल देना होगा, नहीं तो सवेरे धूप निकल आने पर तकलीफ़ होगी।

अनन्त उधर गाड़ी ठीक करने गया, इधर अम्माँ जी यात्रा की तैयारी में लग गईं। और मालती? वह बेचारी उसी तस्वीर को छाती से लगा कर अपनी खाट पर गिर पड़ी!

२

अम्माँ जी की बहिन भी विधवा थीं। उन्हें चौदह वर्ष की एक लड़की के सिवाय और कोई नहीं रह गया था। लड़की देखने-सुनने में जितनी सुन्दरी थी, उसका शील-स्वभाव भी उतना ही मधुर और आकर्षक था। कुछ लिखना-पढ़ना भी जानती थी। घर-गृहस्थी के कामों में बड़ी ही निपुण और फ़ुर्तीली। अम्माँ जी बहुत दिनों से इसी कोशिश में थीं कि एक बार अन्तू के साथ उसका साक्षात्कार हो जाय। बात असल यह थी कि उसे वे मालती की सौत बना कर अपने कलेजे की आग बुझाना चाहती थीं। ब्याह

की सारी झञ्झटों से बिना हाथ-पैर डुलाए ही छुटकारा पा जाने का प्रलोभन दिखा कर उन्होंने अपनी दुखिया बहिन को भी इस बात के लिए सोलहो आने राज़ी कर लिया था। बहुत दिनों से चुपके-चुपके यह जाल तैयार किया जा रहा था। अब परिस्थिति की अनुकूलता के साथ, चारा डाल कर शिकार के आगे फैला दिया गया।

बहिन के घर पहुँचते ही अम्माँ जी ने अपना काम शुरू कर दिया। उन्हें यह समझते देर न लगी कि कल्याणी की रूप-मदिरा के पहले ही प्याले ने अन्नू को बेहोश बना दिया। दो ही दिनों के भीतर उसके चेहरे की रङ्गत ने उन्हें यह भी बतला दिया कि वह एकाएक अपने कलेजे के भीतर किसी नए अरमान की आग लगा बैठा है—किसी वस्तु की आकांक्षा में वह भीतर ही भीतर बड़ी बुरी तरह तड़पने लग गया है। बात भी सच्ची थी। कल्याणी को देखते ही उसके अतृप्त यौवन का अभिशाप उतावला हो उठा था, उसकी सौन्दर्य-सीमा में पहुँचते ही वह जीवन के एक दारुण अभाव का अनुभव करने लगा था। इस अभाव की पूर्ति के लिए अनायास ही जिस वस्तु पर उसकी पलकें जा बिछी थीं, वह उसे जितनी सुन्दर और लुभावनी प्रतीत होती थीं, उससे कहीं बढ़ कर अलभ्य और अनमोल। उस पर से अब न तो वह अपनी आँखें ही खींच

सकता था, न उसकी ओर हाथ ही बढ़ाने की उसकी हिम्मत होती थी !

कल्याणी केवल रूप की ही रानी नहीं थी, उसके पास सहृदयता और स्नेह की वे आँखें भी थीं, जिनके सहारे किसी की वेदना का मर्म टटोला जाता है। यौवन के उस बिलखते हुए सौन्दर्य पर, कञ्चन सी लुभावनी उस सन्तप्त काया पर, उसे एक प्रकार की ममता हो आई। अन्तू की रस-भरी आँखों में उसने सुषमा की उस करुण याचना को तड़पते देखा, जिसकी ओर मानवता आप से आप दौड़ पड़ती है। जीवन की इसी अबाध धारा में बहती हुई वह उसके बहुत पास पहुँच गई। अम्माँ जी और उसकी माँ इस धारा को और भी बलवती बना रही थीं। आकर्षण और आसक्ति का यह अयाचित विनिमय देख कर वे फूली न समाईं।

केवल मौसी और माँ के कहने ही से नहीं, स्वयं अपनी इच्छा से भी कल्याणी सदैव अन्तू के सेवा-सत्कार का पूरा ध्यान रखती थी। उसके नहाने-धोने, खाने-पीने आदि बातो का सारा प्रबन्ध उसी के हाथों में था। उमंग और प्रसन्नता के साथ वह उसकी सुख-सुविधाओं में लगी रहती, मगर अन्तू के चेहरे पर सन्तोष और शान्ति का कोई चिन्ह उसे नजर न आता। इस बात ने धीरे-धीरे उसके हृदय में भी

सन्ताप की सृष्टि कर दी। देखते ही देखते गुलाब का वह हँसता हुआ फूल भी कुम्हला गया।

अम्माँ जी और उसकी माँ किसी पड़ोसिन के घर मिलने गई थीं। अन्तू खाट पर लेटा-लेटा कोई पुस्तक पढ़ रहा था! सहसा उसने देखा, कल्याणी हाथ में जल-पान की थाली लिए चुपचाप खड़ी है। उसके मुख-मण्डल पर विषाद की छाया मँडरा रही थी, आँखों में जीवन उमड़ रहा था। अन्तू के करवट बदलते ही उसने सिर झुका लिया।

यह पहला ही अवसर था, जब कल्याणी इस भाव से उसके सामने आ खड़ी हुई थी। युवक के हृदय में एक ठेस-सी लगी, वह चटपट उठ बैठा और कल्याणी की ओर ममता-भरी दृष्टि से देख कर बोला—तुम कब से आकर खड़ी हो कल्लो! आज तुम्हारी तबीयत अच्छी नहीं है क्या?

कल्लो की प्रत्येक नस का प्याला मादकता के रस से लबालब हो उठा। ममता के इतने मीठे शब्द उसने जैसे और कभी सुने ही नहीं थे। वह चुपचाप उसी तरह खड़ी रही—कुछ बोल न सकी।

जिसे हम प्यार करने लगते हैं, उसका छोटा से छोटा दुःख भी हमारे बड़े से बड़े दुःख को ढँक लेता है—उसका

मुरझाया हुआ मुखड़ा देखते ही हम अपनी समस्त वेदनाओं को भूल जाते हैं। अन्तू का भी यही हाल हुआ। कल्याणी की उस हाहाकारमयी नीरवता ने उसे खाट से खींच कर उसके सामने ला खड़ा कर दिया। वह उसके कन्धे पर हाथ रख कर बोला—तुम्हारा यह रूप तो मुझसे देखा नहीं जाता कल्लो! बताओ, आज तुम्हारी आँखों में आँसू कैसे छलक रहे हैं?

कल्याणी सिर से पैर तक काँप उठी, उसके हाथ की थाली झन्न से जमीन पर आ गिरी। उससे कुछ उत्तर देते न बना। वह उसके गले में हाथ डाल कर बच्चों की तरह सिसकने लगी!

इसी समय अम्माँ जी घबड़ाई हुई कमरे में घुस आईं और हाँफती हुई बोलीं—कल्लो, मेरे साथ चलो, तुम्हारी माँ को बड़े ज़ोरों से क़ै और दस्त हो रहे हैं। मालूम होता है, उसे हैज़ा हो गया।

दोनों को जैसे किसी ने थप्पड़ मार कर जगा दिया। वे चौंक कर एक-दूसरे से अलग हो गए। कल्याणी लाज के मारे मर सी गई, मगर माता का वह हाल सुनते ही मौसी के पीछे-पीछे बड़ी व्याकुलता के साथ कमरे से बाहर निकल पड़ी। अन्तू एक लम्बी साँस खींच कर उसी जगह बैठ गया। इस समय उसकी आँखों के आगे सौन्दर्य का एक

साकार वैभव नाच रहा था। विमुग्ध भाव से आत्म-विस्मृत होकर उसने दरवाज़े की ओर अपनी सूनी बाँहें फैला दीं, मगर वहाँ कोई हो तब तो ?

४

कल्याणी की माँ के मरते ही सारे गाँव में हैज़ा फैल गया। लोग घर-द्वार छोड़ कर इधर-उधर भागने लगे। देखते ही देखते गाँव सूना हो गया।

अम्माँ जी ने कहा—अब तो यहाँ रहना अच्छा नहीं बेटा ! चलो घर चलें।

"हाँ, अम्माँ ! मैं भी तुमसे यही कहने वाला था।"—कह कर अनन्त खाँसने का बहाना करके कुछ रुक गया और बोला—"कल्लो यहाँ अकेली कैसे रहेगी अम्माँ ?"

अम्माँ जी उसके मन का भाव तुरन्त ताड़ गईं। मुस्कराती हुई बोलीं—तू भी निरा पागल ही है अन्तू ! वह भला अब यहाँ क्यों रहेगी ? उसे तो तू अपनी बना ही चुका है।

अन्तू लाज के मारे मर सा गया, साथ ही न जाने इतनी बात सुनते ही उसका हृदय क्यों काँप उठा !

अम्माँ जी फिर कहने लगीं—मैं भी इसी दिन की राह देख रही थी बेटा ! आख़िर भगवान् ने तुम्हें सुबुद्धि तो दी ! वह चाहेंगे तो इसी आषाढ़ में उसे मैं अपनी बहू

बना लूँगी। तब तक घर लिवा चलती हूँ। वहाँ तुमसे और भी इसका हेल-मेल बढ़ जायगा और मेरी निगरानी में तब तक यह घर-गृहस्थी की बहुत सी बातें सीख जायगी। तुम्हारे ऊपर वह अपने को हर तरह से वार चुकी है—तुम्हें देवता से भी बढ़ कर मानती है। तुम्हारे बड़े भाग (भाग्य) थे, जो ऐसी चीज़ मिल गई। अब देखूँगी वह चुड़ैल (मालती) किस तरह तुमको हिजड़ा कह कर गालियाँ सुनाती है।

अन्तू के चेहरे का रङ्ग सफ़ेद हो गया। मालूम होता था, जैसे वह कोई पाप का सौदा कर रहा हो। घबड़ा कर बोल उठा—अभी इसे अपने साथ ले चलना ठीक नहीं जँचता अम्माँ! मुझे इसके सम्बन्ध में एक बार अच्छी तरह सोच लेने दो।

"अब भी सोचना-समझना बाक़ी ही है?"—अम्माँ जी ने क्रोध के आवेश में कड़क कर कहा—"हिम्मत नहीं थी तो इतने दिनों तक उसके साथ हेल-मेल कर उसका धरम क्यों भ्रष्ट किया? उसे छूकर नापाक क्यों बना दिया? गाँव भर के लोग आज इस बात को जान गए हैं कि कल्लो अब किसी और के साथ ब्याही जाने जोग (योग्य) नहीं रह गई। बताओ, इसका तुम क्या जवाब देते हो?"

अन्तू इस आक्रमण का किसी तरह कोई प्रतिकार

न कर सका। उस दिन अम्माँ जी ने अपनी आँखों से वह प्रेम का विनिमय देख लिया था और उसी के आधार पर उन्हें यह कहने का पूरा अधिकार था कि कल्याणी अब किसी और के साथ ब्याहने योग्य नहीं रह गई। प्रेम का दर्शन सभी स्वच्छ आँखों से ही नहीं किया करते। गन्दी आँखों को उसमें भी विकार-छाया का ही साक्षात्कार होता है। आज दुनिया को यह कहने से कोई नहीं रोक सकता था कि अन्तू ने उस बालिका को धर्म-भ्रष्ट कर दिया! वह बेचारा कुछ बोल नहीं सका, चुपचाप सिर झुकाए बैठा रहा।

अम्माँ जी ने निशाना ठीक बैठते देख कर फिर उसी तरह डपट कर पूछा—बोलते क्यों नहीं? इस तरह चुप्पी साधने से तो अब छुटकारा मिल नहीं सकता। जब तुम्हें इसके साथ ब्याह नहीं करना था, तब ऐसा किया क्यों?

वह अपनी सारी शक्ति लगा कर एक बार ज़ोर-शोर से इस बात का विरोध करना चाहता था, निर्भय होकर यह कहना चाहता था कि उसने कल्याणी को केवल प्यार किया है, अब भी वह वैसा करता है—जीवन भर करता रहेगा; और उसके प्यार ने सौन्दर्य की उस पवित्र प्रतिमा पर कोई धब्बा नहीं लगाया है। जिस स्वाभाविक आकर्षण से दो हृदयों का संयोग होता है, वह पाप की भित्ति

नहीं, जन्म-जन्मान्तर की सञ्चित साधनाओ के वरदान का अलम्बन है। मगर वह इतना भीरु और पराश्रित हो गया था कि अम्माँ जी की ओर आँख उठा कर देखने की भी उसकी हिम्मत नही हुई। वह इस बार भी कुछ नहीं बोला।

अब अम्माँ जी कुछ मुलायम होकर बोलीं—तुम्हें इस अनाथिनी पर दया भी नही आती बेटा?

यह वह चोट थी, जिससे अन्तू जैसे दुर्बल हृदय वालो की कोमल भावनाएँ अधीर हो उठती हैं। आँखो मे आँसू भर कर वह बोल उठा—मैं उसे प्यार करता हूँ अम्माँ!

"यह तो मैं भी जानती हूँ बेटा!" चटपट अपने आँचर से अन्तू के आँसू पोंछती हुई वह बोलीं—"मुझे क्या तुम्हारे दर्द का पता नहीं है? तुम्हारी यह वात सारे गाँव मे फैल गई है। इसी कलङ्क को मिटाने के लिए तो मै उसे अपनी पतोहू वना रही हूँ। इसमें तुम्हे झिझक किस वात की होती है?"

"सच्ची बात तो यह है अम्माँ!"—अन्तू ने कातर भाव से स्वीकार कर लिया—"कि कल्लो को प्यार करके भी मैं इसे पाने की हिम्मत नहीं रखता। मेरे भीतर वैठ कर जैसे कोई कह रहा है कि 'तुम्हे इसका कोई अधिकार नहीं—तुम इसे न पा सकोगे।' यों तुम्हारी इच्छा हो, इसे साथ

लिवा चलो, मुझे सुख ही मिलेगा—इसे अपनी आँखों के सामने देख कर मैं प्रसन्न ही रहा करूँगा, मगर इसे पत्नी-रूप में अङ्गीकार करने के लिए मुझे तुम तब तक विवश न करना, जब तक इसके लिए मेरी अपनी इच्छा न हो।"

"केवल तुम्हारी ही इच्छा से तो काम नहीं चलेगा बेटा!"—अम्माँ जी ने अपनी जीत की आशा से मन ही मन प्रसन्न होकर कहा—"इस बेचारी लड़की की इच्छा भी तो पूरी करनी होगी। तुम्हें छोड़ कर इस दुनिया में अब इसका आधार ही क्या है?"

"अच्छी बात है अम्माँ!"—अन्तू ने सिर झुका कर स्वीकार कर लिया—"कल्लो की इच्छा ही मेरी इच्छा होगी।"

५

अम्माँ जी के साथ अनन्त के चले जाने पर मालती को वह घर और भी काट खाने लगा—एक महरी और बूढ़े नौकर के सिवाय उस घर में कोई रह नहीं गया था। महरी घर के भीतर का काम करती और बूढ़ा नौकर दरबानी किया करता था। इन्हें और किसी बात से कोई सरोकार नहीं था। मालती एक सप्ताह तक तो उसी तरह रो-रोकर समय काटती रही, मगर अब तो उससे रोया भी नहीं जाता था। मुसीबत की घड़ी आने पर

दुखियो से सिसकने का भी अधिकार छीन लिया जाता है। अबला व्याकुल हो उठी। कई बार उसके जी में आया कि मैके चल दे, मगर यह उसके आत्म-सम्मान के विरुद्ध था। भिखारिन बन कर वह अपने बाप के दरवाज़े पर नहीं जा सकती थी। उसने उन्हें अपनी विपदाओं की ख़बर तक न दी। इसी एकान्त साधना में धीरे-धीरे इक्कीस दिन बीत गए। वह सूख कर काँटा हो गई!

गोपेश नाम का उसका एक ममेरा भाई था। बचपन से ही दोनों में बड़ी प्रीति थी। अपने दुःख-सुख की सारी बातें वह उसे ही सुनाया करती थी। इधर पाँच वर्षों से दोनों का मिलान नही हो सका था। पत्रो के सहारे ही एक-दूसरे को कुशल-समाचार मालूम हो जाया करते थे। दुःख की इन काँपती हुई घड़ियो में एक दिन उसने अपने उसी भाई को पत्र लिखा। पत्र इतनी करुण भाषा में लिखा गया था कि गोपेश पढ़ते ही रो पड़ा। उसी समय उसने मालती के ससुराल की यात्रा कर दी।

दिन का पहला पहर हो आया था। गोपेश ने मालती से कहा—अब मेरी गाड़ी छूट जायगी मालो! मुझे छुट्टी दे दो। भगवान् की इच्छा होगी तो फिर कभी मिल लूँगा।

मालती की आँखों में आँसू भर आए। उसने उसका

हाथ पकड़ कर कहा—जाने के पहले एक बात की प्रतिज्ञा करनी होगी गोपू ! करोगे ?

"मुझसे प्रतिज्ञा कराने की क्या जरूरत है बहिन ?"—गोपेश ने गद्गद् होकर जवाब दिया—"तुम्हारी जो आज्ञा होगी, उसे मैं सिर झुका कर मान लूँगा। कहो, क्या कहती हो ?"

"यही प्रार्थना करती हूँ भैया !"—आँचर से आँसू पोंछती हुई वह बोली—"मेरी इस विपदा की ख़बर भूल कर भी मेरे माँ-बाप को न देना। उनके लिए मैं उसी दिन मर गई, जिस दिन उन्होंने मेरे पति को दस भले आदमियों के बीच में बेइज्ज़त किया। यद्यपि मैं स्वीकार करती हूँ कि मेरी ही ममता के कारण उन्होंने वैसा किया, किन्तु मेरे ख़ातिर उन्हें मेरे देवता का अपमान करना उचित नहीं था। बाबू जी ने यहाँ आना तक छोड़ दिया है। अब तो कोई यह भी नहीं पूछने आता कि मैं जीती हूँ या मर गई ! यह भी मेरे हक़ में अच्छा ही है। अपनी ज्वाला से मैं किसी को भी नहीं झुलसाना चाहती, अपने हिस्से का उपभोग अकेली ही करना चाहती हूँ। इस-लिए मैं वहाँ नहीं जाना चाहती। देखना भाई, भूल कर भी उन्हें मेरी बातें न बताना।"

गोपेश की आँखों से झरझरा कर आँसू की बूँदें गिर

पड़ीं। मालती के बचपन का वह दुलारा साथी आज उसकी इन ऊँची भावनाओं का भक्त बन गया। उसने अपने हृदय के समस्त आवेगों को बलपूर्वक रोक कर रूमाल से आँसू पोंछते हुए कहा—अच्छी बात है बहिन! मैं किसी हालत में उन्हें इसकी ख़बर न दूँगा। मगर इसके बदले तुम्हें भी मेरी एक बात माननी होगी। मानोगी न?

"यह तो तुम जानते हो गोपू!"—मालती ने अपनी मुख-मुद्रा पर अगाध गम्भीरता का भाव फैला कर उत्तर दिया—"मैं इस जीवन में किसी के उपकार का बदला नहीं चुका सकी, मुझमें इतनी सामर्थ्य ही नहीं रह गई है। फिर भी तुम कहो, क्या कहते हो?"

"तुम कुछ दिनों के लिए मेरे ही घर चली चलो।"—गोपेश ने जैसे भीख माँगते हुए कहा—"माँ तुम्हें हमेशा याद किया करती हैं, दो-चार दिन रह कर फिर तुम्हारा जब जी चाहे, चली आना।"

"मामी को तो मैं भी बहुत याद किया करती हूँ गोपू!"—मालती ने रुँधे हुए स्वर में उत्तर दिया—"लेकिन इस समय मैं इस घर को छोड़ कर कहीं जा नहीं सकती। उन्हें मेरा प्रणाम कह देना और कह देना कि मुझ अभागिनी को अगर वे भूल सकें तो बड़ा अच्छा हो। मैं अब धीरे-धीरे सबकी ममता से दूर ही रहना चाहती हूँ।"

"आखिर यहाँ अकेली पड़ी-पड़ी तुम अपने सोने-जैसे शरीर को व्यर्थ ही क्यों गला रही हो मालो ? मेरी इतनी सी विनती भी तुम नहीं मानोगी ?"—गोपेश ने बहुत ही निराश होकर पूछा।

"नहीं भाई ! मैं तुम्हारी विनती न मान सकूँगी। यह शरीर सिर्फ़ गलाने ही के लिए है और किसी मसरफ़ का नहीं। इसी कमरे में मैं अपने अस्तित्व का अन्त किया चाहती हूँ। मुझे शान्तिपूर्वक अपने सोहाग की इसी सेज पर मरने के लिए छोड़ जाओ। जाओ, शायद तुम्हारी गाड़ी छूटने का समय हो गया। अगर हो सके तो मेरे मरने की खबर सुन कर एक बार मुझे याद कर लेना। इस समय जाओ, मुझे एकदम भूल जाओ।"

इतना कह कर मालती उससे कुछ दूर हट गई और आँचर से मुँह ढाँक कर फूट-फूट कर रोने लगी। गोपेश की हालत उससे भी बुरी हो रही थी। उसने अधीर होकर उसे गले से लगा लिया और उसी तरह फूट-फूट कर रोने लगा।

मालती अपना रोना बन्द करके बोली—अब तीसरे पहर वाली गाड़ी से चले जाना, अभी न जाने दूँगी।

गोपेश इस आग्रह को टाल न सका। वह उसी जगह खाट पर लेट रहा। मालती उसके सिरहाने बैठ कर पंखा झलने लगी।

मुश्किल से दो-तीन मिनट बीते होंगे कि धड़धड़ा कर अम्माँ जी उसी कमरे में दाखिल होकर चिल्ला उठीं—क्यो री कलमुँही, मेरे बच्चे को घर से निकाल कर पराए के साथ यह रासलीला करते तुझे शर्म नहीं आती ! देख जा रे अन्तू ! अपनी देवी जी की करतूत देख जा ! अब पता चला है कि क्यों यह डाइन तेरी ओर से मुँह फेरे रहती है ! बप्पा रे बप्पा ! ऐसी औरत तो मैंने आज तक कहीं नहीं देखी थी। इसने मेरा कुल डुबो दिया !!

अनन्त भी यह हल्ला-गुल्ला सुन कर वहाँ आ पहुँचा और मालती की खाट पर उस युवक को देखते ही आग-बबूला होकर बोला—यह इनके भाई साहब हैं अम्माँ ? आज तक बहिन की याद नहीं आई थी, जब यहाँ कोई देखने-सुनने वाला नहीं रह गया, तब पहले ही पहल बेचारे इस घर मे बुलवा कर सेज पर सुलाए गए हैं। चलो, इनके सुख में बाधा मत डालो। ये इस घर मे पहली ही बार आए हैं, तुम इन्हें नहीं जानती।

अनन्त क्रोध से काँप रहा था। मालती और गोपेश को जैसे काठ मार गया था ; वे अविचल भाव से ज्यों के त्यों बने रहे। अनन्त का यह उग्र-भाव देख कर अम्माँ जी बोलीं—बाबू जी ! न हो इन्हें अपने घर लिवा जाइए। आप ही की चीज़ है, मेरा अन्तू तो इसे छोड़ ही चुका है।

इनकी जहाँ मर्जी हो, जायँ ; मगर इस घर में रह कर तो यह रासलीला मैं इन्हें न करने दूँगी।

इसके वाद ही उन्होंने अन्तू की ओर देख कर कहा—पहले तो तुम आए ही नहीं, नहीं तो देखते दोनो जने किस तरह गले से लिपट कर रो रहे थे—कैसी-कैसी लीला हो रही थी !

अन्तू ने क्षुब्ध होकर कहा—जाने दो अम्माँ ! इस सड़ी हुई नारङ्गी को लेकर मुझे अपने मुँह का स्वाद नहीं विगाड़ना है ! मैं इसकी छाया को भी छूना पाप समझता हूँ। इसकी जो इच्छा हो करे, मुझसे कोई मतलब नहीं। अब मैं इस कमरे की ओर झाँकूँगा भी नहीं। चलो, इन्हें के खाने-पीने का प्रवन्ध करो—बेचारी वहुत थक गई हैं।

दोनों के चले जाने पर गोपेश एक लम्बी आह फाड़ कर खाट से उठ खड़ा हुआ और वेदना के असहनीय भार से झुके हुए स्वर में बोला—अब मैं जाता हूँ।

मालती केवल उसकी ओर आँख उठा कर देख सकी। वैठी ही वैठी सिर हिला कर बोली—जाओ।

इस समय उसकी आँखों में आँसू नहीं थे। हाँ, हृदय-श्मशान में सैकड़ों चिताएँ जरूर धधक रही थीं !

६

अनन्त के घर में आते ही कल्याणी ने देखा कि मारे

उत्पात की जड़ अम्माँ जी हैं। उसके हृदय में उनके प्रति गहरी घृणा का भाव भर आया।

अनन्त की दुर्बलता पर उसे दया आती थी और मालती की दुरवस्था पर वह एकान्त मे बैठ कर रोया करती थी। अम्माँ जी जितना उसे उसकी (मालती की) छाया-से बचाने की चेष्टा करतीं, उतना ही वह उसके और नज़दीक पहुँची जा रही थी। यहाँ तक कि दोनो थोड़े ही दिनों के भीतर दूध-पानी की तरह मिल कर एक हो गईं—मालूम होने लगा, जैसे सगी बहिनें हो। अम्माँ जी यह देख कर मन ही मन कुढ़ रही थीं, मगर कल्याणी के आगे उनकी एक न चली। अनन्त को घर-गृहस्थी से जैसे विराग सा हो रहा था। कल्याणी को मालती के साथ इस प्रकार हिली-मिली देख कर उसके मन में कभी विद्वेष का भाव आया ही नहीं; बल्कि इसमे वह एक प्रकार का सुख ही पा रहा था। अन्तू ही अम्माँ जी का एक ऐसा यन्त्र था, जिसे वे जिधर चाहती थी, घुमा दिया करती थीं। आज कल्याणी ने उनकी वह शक्ति भी छीन ली। अब अन्तू उनके इशारे पर नहीं, कल्याणी के इशारे पर नाचने लगा था। अम्माँ जी झुँझला उठी।

और कोई उपाय न देख कर, एक दिन कल्याणी से उन्होंने कहा—जब तुम मेरी कोई बात ही नहीं सुनती हो

तो तुम्हें यहाँ रखने से क्या लाभ ? जाओ, अपने गाँव को लौट जाओ।

कल्याणी ने दृढ़तापूर्वक जवाब दिया—अब तो मैं यहाँ से कहीं टल नहीं सकती, और न कोई मुझे निकाल ही सकता है।

अम्माँ जी क्रोध से तिलमिलाती हुई बोलीं—क्या कहती हो, कोई निकाल ही नहीं सकता है ? देखती हूँ, तुम किस तरह यहाँ रहती हो। झाड़ू मार कर निकाल बाहर न किया तो एक बाप की बेटी नहीं !

"उसी झाड़ू से तुम्हारी भी मरम्मत हो जायगी मौसी, इसे भी तुम अच्छी तरह से जान लो !"—कल्याणी ने भी क्रोध के आवेश में आकर कहना शुरू किया—"मुझे मालती दीदी मत समझ लेना। अब अगर ज्यादा हाथ-पैर चलाओगी तो हड्डी-पसली तोड़ कर एक कोने में बैठा दूँगी। तुम्हारी करतूतें देखते-देखते मेरा जी ऊब उठा है।"

आज तक अम्माँ जी को किसी ने ऐसी बातें सुनाने की हिम्मत तक नहीं की थी। उस छोकरी का यह साहस देख कर उन्हें क्रोध ने आपे से बाहर कर दिया। उन्होंने खींच कर उसकी छाती में ऐसी लात जमाई कि बेचारी लड़की वहीं जगह धड़ाम से गिर पड़ी। मर्मस्थल पर का यह आकस्मिक आघात असह्य था, वह तड़पने लगी !

इसी समय अन्तू भी वहाँ आ पहुँचा। कल्याणी की यह दशा देखते ही उसकी आँखों में खून उतर आया। उसने कठोर दृष्टि से अम्माँ जी की ओर देखते हुए कहा—मुझे मालूम हो गया है कि तुम्हीं मेरे सारे अनर्थों की जड़ हो। अगर तुमने मुझे अपना दूध न पिलाया होता तो आज मै अपने हाथों से तुम्हारा झोंटा पकड़ कर तुम्हें इस घर के बाहर निकाल देता। भला चाहती हो तो अभी यहाँ से अपना मुँह काला करो, नहीं तो मैं वह काम कर बैठूँगा, जिसकी तुम्हें आशा भी न होगी।

अम्माँ जी क्रोध के मारे बावली हो रही थीं, वह दाँत कटकटा कर अन्तू पर टूट पड़ीं। अन्तू ने उन्हें धक्के देकर अपने आँगन से बाहर निकाल दिया और बड़ी आतुरता से चिल्ला कर पुकारा—मालती आओ, अपनी बहिन की जान बचाओ।

कल्याणी को कमरे में ले जाकर मालती होश में तो ले आई, मगर उसकी अवस्था अच्छी नहीं थी। खाँसने की चेष्टा करते ही उसके मुँह से बलबला कर खून उबल पड़ता था।

मालती ने हताश होकर कहा—आखिर तुम भी मेरे ही कारण मर रही हो बहिन! न जाने मेरी क़िस्मत में क्या-क्या देखना बदा है? जिसे अपना सहारा मान लेती हूँ, वही टूट जाता है।

कल्याणी को बोलने में कष्ट हो रहा था, फिर भी वह बहुत ही धीरे-धीरे बोली—मैं तुम्हारा सब कुछ हड़पने आई थी दीदी ! यह उसी पाप का फल है, और कुछ नहीं।

मालती उस लड़की की सहृदयता पर लट्टू हो गई थी। उसे इस प्रकार मरती देख कर उसका हृदय अधीर हो, रो पड़ा। उसने आँखों में आँसू भर कर कहा—ऐसा क्यों कहती हो कल्लो ! तुमने तो यहाँ आकर मेरी खोई हुई निधियाँ खोज दीं। जिस वैभव को मैं अपने आँचल में नहीं टिका सकी थी, उसे तुमने अपनी सहृदयता से बटोर कर एक ठिकाने लगा दिया। उस पर तुम्हारी लोलुप आँखें तो कभी पड़ीं ही नहीं !

"आह ! मर कर भी यदि मैं तुम्हारा दुःख मिटा सकती दीदी !"—कह कर कल्याणी ने बड़ी बेचैनी के साथ उसके झुके हुए कन्धे पर अपना हाथ रख दिया।

"मेरा दुःख-सन्ताप तो मिट चुका था कल्लो !"—मालती ने अपने उमड़े हुए आँसुओं को पोंछ कर कहा—"इसके लिए तुम्हारे मरने की जरूरत नहीं थी। मेरे पति की प्यारी वस्तु होने के कारण तुम मुझे कितनी मीठी मालूम होने लगी थीं, यह मैं बता नहीं सकती हूँ। एक तरह से जैसे तुमने मेरे अस्तित्व को ही अपने में मिला लिया था—मैं, 'तुम' हो गई थी और तुम, 'मैं'। हाय ! तुम्हारे बिना अकेली मैं

किस तरह उनकी रक्षा कर सकूँगी कल्लो ? वे तो मेरी छाया में भी आना पाप समझते हैं !"

"नहीं, वह मेरी भूल थी मालो !"—कह कर एकाएक अनन्त ने उसे खींच कर छाती से लगा लिया और आँखों में आँसू भर कर कहा—"मुझे क्षमा करो, वह मेरी भूल थी। आज तुम मुझे कल्याणी से भी अधिक प्यारी मालूम पड़ रही हो। मैं उस राक्षसी की (अम्माँ जी की) माया मे पड़ कर चौपट हो गया था। अब होश में आ गया हूँ।"

कल्याणी के चेहरे पर प्रसन्नता की लाली दौड़ गई। कुछ देर के लिए मानो उसमें फिर से नए जीवन का प्रवेश हो गया। अन्नू को पास बुला कर उसने कहा—अब मैं बड़े सुख से मर सकूँगी मेरे देवता ! यदि तुम सचमुच मुझे दिल से चाहते थे, तो उसी प्रेम के नाते मै तुमसे यह भीख माँगती हूँ कि मेरी दीदी को सपने में भी कभी मत भूलना। तुम्हारी जीवन-नैया को अगर कोई पार लगा सकता है, तो वह इन्हीं से सम्भव है; और किसी की साधना में इतना बल नहीं, जो तुम्हारे लिए वरदान की प्राप्ति कर सके। इस जन्म में मुझसे तुम्हारी कोई सेवा न हो सकी ; अगर हो सका तो किसी दूसरे जन्म मे अपनी इसी दीदी की दासी बन कर तुम्हारे जूठे बर्त्तन धोया करूँगी, जूतियाँ साफ किया करूँगी। बस, अब मुझे तुम दोनों आशीर्वाद दो !

इतना कहते ही उसने एक बार फिर खाँसने की चेष्टा की और उसी तरह खून का वमन कर दिया। इस बार उसकी सारी चेष्टाएँ शिथिल हो गईं, आँखें पथरा गईं। उसने बड़े यत्न से अपने हाथ जोड़ कर उन दोनों को प्रणाम करने की चेष्टा की, मगर वे उठते-उठते बीच ही में रह गए।

मालती पछाड़ खाकर उसके ऊपर गिर पड़ी और रोती हुई बोली—तुम्हारे अभाव में मेरे इस 'दुर्लभ प्यार' की रक्षा कौन कर सकेगा बहिन ? उठो, मुझे इस तरह अकेली छोड़ कर भाग मत जाओ। तुम्हारे बिना ये सारे वैभव फिर बिखर जायँगे ! अनुराग का दीपक बुझ जायगा और मेरे घर में चोर घुस आएँगे। उठो बहिन, उठो ! मेरे लिए जो वस्तु छोड़ती जा रही हो, उसकी रक्षा का प्रबन्ध बता दो, नहीं तो मैं फिर अनाथिनी हो जाऊँगी।

"मेरे जीते जी अब तुम्हे कोई अनाथिनी नहीं बना सकेगा मेरी रानी !"—अन्तू ने उन्मत्त-भाव से उसे उठा कर छाती से लगाते हुए कहा—"कल्याणी हम दोनों के लिए 'दुर्लभ प्यार' की भेंट लेकर आई थी और वही देकर चली गई। मैं 'उसको' पाने की चेष्टा करते हुए वह वस्तु पा गया हूँ, जिसे जन्म-जन्मान्तर में नहीं खो सकूँगा।"

दोनों कल्याणी की लाश देख-देख कर रो रहे थे और

कल्याणी के कम्पन-हीन अधरों पर अब भी जैसे मुसकान नाच रही थी, अनुराग की ज्योति जगमगा रही थी। वह कितनी स्निग्ध थी, कितनी कोमल और कितनी मधुर !

विद्रोही के चरणों पर

विद्रोही के चरणों पर

"आप चुप क्यों हो रहे मन्त्री जी ?"

"उत्तर सोच रहा हूँ श्रीमन् !"

"उत्तर सोचना भी अभी बाकी ही था ?"—राजा ने कुछ उदास सा होकर पूछा—"मालूम होता है, आप इससे सहमत नहीं हैं, क्यों ?"

"मेरा यह चुप रहना असम्मति का सूचक नहीं है श्रीमन् !"—मन्त्री ने हाथ जोड़ कर बड़ी दीनता से उत्तर दिया—"मैं अपने को इतने बड़े सौभाग्य का विद्रोही नहीं बना सकता।"

"फिर बात क्या है ?"

"केवल यही कि न जाने क्यों मैं इसे एक सपना-सा समझ रहा हूँ।"

"आपका आशय ठीक-ठीक मेरी समझ में नहीं आ रहा है। क्या आपके कहने का मतलब यह है कि मेरी इस बात पर आप अपना विश्वास नहीं टिका सकते ?"

"नहीं श्रीमन् !"—मन्त्री ने उसी तरह नम्र होकर जवाब

दिया—"आपकी इस बात पर नहीं, अपने इतने बं सौभाग्य पर। मैं अब भी समझ रहा हूँ कि राजकुमारी शीलादेवी को अपनी पुत्र-वधू बनाने वाला भाग्यशाली पुरु मेरे-जैसा नहीं हुआ करता। इसी से आपकी दी हुई यह अयाचित कृपा-भीख, राज-सम्मान की यह महिमामयी माधुरी, मुझे आनन्द-विभोर और विस्मय-विमुग्ध बनाए जा रही है। मैं समझ नहीं रहा हूँ, इस अवसर पर मुझे आपकी सेवा में क्या निवेदन करना चाहिए ?"

अपने मन्त्री की इस विनयशीलता पर प्रसन्न होकर राजा ने कहा—वैभव की विषमता ही सब कुछ नहीं है मन्त्री जी, और-और बातें भी ध्यान में लाई जानी चाहिए। कुँवर करुणेन्द्र जैसा रूपवान्, गुणवान् और विद्वान् पुः पाकर कोई भी पिता अपने को उस वैभवशाली सम्राट् से बढ़ कर भाग्यवान् समझ सकता है, जिसके भाग्य में बेटे का मुँह देखना बदा ही न हो।

राजा की अन्तिम वाणी में एक अभाव-जन्य वेदना की करुण अभिव्यक्ति थी, अरमान की ज्वाला में झुलसते हुए हृदय की एक मार्मिक पुकार थी। मन्त्री ने उसको सुना और समझा। राजा का वह कारुणिक सङ्केत किसी की सहानुभूति और सान्त्वना की भीख माँग रहा था। मन्त्री का हृदय द्रवीभूत हो गया। आर्द्र वाणी में उसने

कहा—स्वामिन् ! करुणेन्द्र आपके पुत्र हैं और शीला मेरी पुत्री, आपकी जो आज्ञा होगी, यह दास सिर झुका कर उसका पालन करेगा ।

"इस विनिमय से मुझे बड़ा ही सुख मिल रहा है मन्त्री जी !"—राजा ने एक प्रकार के कृतज्ञता-ज्ञापन का भाव दिखलाते हुए कहा—"यदि मेरा अनुमान ग़लत नहीं है तो मैं आपको विश्वास दिला सकता हूँ कि राजकुमारी शीला और कुँवर करुणेन्द्र एक-दूसरे को चाहते भी बहुत हैं। राजकुमारी की माँ भी इस विवाह-सम्बन्ध के लिए बहुत लालायित हो रही हैं। वे किसी राजघराने में अपनी बेटी का ब्याह नहीं करना चाहतीं, उनकी आँखों में आपके कुँवर साहब समा गए हैं। इन्हीं बातों पर विचार करते हुए मैं इस निर्णय पर पहुँचा हूँ कि राजकुमारी को आप अपनी पुत्र-वधू के नाते अङ्गीकार करने की कृपा करें। वर-कन्या दोनों ही को अपनी-अपनी रुचि की चीज़ मिल जायगी। वे लोग सदैव सुखी रहेंगे और उनके सहयोग से दिनोंदिन यह राज्य समृद्धिशाली होता जायगा।"

"मुझे अपने इस सौभाग्य पर गर्व हो रहा है प्रभो !"—मन्त्री ने गद्गद होकर कहा—"परमात्मा आपकी इच्छा पूरी करें—वह दिन शीघ्र ही आवे, जब राजकुमारी की रूप-किरणों से मैं अपनी वैभवहीन कुटिया को जगमगाती हुई देखूँ।"

राजा कुछ बोलने ही वाले थे कि नौकर ने आकर निवेदन किया—कुँवर साहब बहुत देर से बाहर खड़े हैं, श्रीमान् से मिलने की आज्ञा चाहते हैं।

"आदर-पूर्वक उन्हें यहाँ लिवा लाओ!"—कह कर राजा ने नौकर को विदा किया और मन्त्री की ओर देख कर चकित भाव से पूछा—"बात क्या है? इस समय उन्हें मुझसे मिलने की कौन सी जरूरत आ पड़ी?"

"कह नहीं सकता श्रीमन्!"—कह कर मन्त्री ने सिर झुका लिया। उनका हृदय धड़क रहा था।

"कहिए कुँवर साहब! अरे, आज तुम्हारा चेहरा इतना उतरा हुआ क्यों है बेटा?"—कुँवर करुणेन्द्र के पहुँचते ही राजा ने प्यार के शब्दों में उतावली से पूछा!

"आप यदि इस महल से बाहर निकल कर एक बार अपने राज्य में घूमने का कष्ट करें।"—कुँवर करुणेन्द्र ने निर्भीक भाव से अपनी काँपती हुई वाणी में उत्तर दिया—"तो आप देख सकेंगे कि आपके इस सुव्यवस्थित शासन ने कितने चेहरों की नूर लूट ली है। मेरा चेहरा तो सौभाग्य-वश आपको केवल उतरा हुआ ही नजर आता है, किन्तु औरों के चेहरे पर तो आपको धधकती हुई चिताएँ भी दीख पड़ेंगी। आप देखेंगे कि आपकी प्रजा के वे दमकते हुए मुख-प्रदेश आज श्मशान की तरह काले और भयङ्कर हो रहे हैं।"

मन्त्री की आँखों के आगे अँधेरा छा गया। वे उसी तरह चुपचाप सिर झुकाए बैठे रहे।

राजा ने इन बातों का मर्म जान कर भी अनजान की तरह मन्त्री से पूछा—पता नहीं, कुँवर साहब क्या-क्या कह गए! आप कुछ समझ सके मन्त्री जी?

"क्षमा कीजिएगा श्रीमन्!"—मन्त्री के कुछ कहने के पहले ही मन्त्री-पुत्र ने कहा—"मैं आज आपकी सेवा में कुँवर के नाते नहीं आया, आज मैं एक साधारण प्रजा के नाते, उन अभागों के अपार कष्टों का सन्देशा लेकर आपके आगे खड़ा हूँ, जिनका खून चूस-चूस कर राजकर्मचारी मोटे हुए जा रहे हैं; जिनकी गाढ़ी कमाई से आपका राजकोष भरा जा रहा है; जिनकी आकांक्षाएँ और आवश्यकताएँ उपेक्षा और अत्याचार के चरणों से कुचली जा रही हैं; जो आप लोगों को खिला कर स्वयं भूखों मर रहे हैं और जिनकी पुकार सुनने वाला कोई नहीं है। मुझे दृढ़ विश्वास है कि मेरी ये बातें आप और आपके मन्त्री महोदय खूब अच्छी तरह समझ रहे हैं। मैं इनके उत्तर में सन्तोष की झलक देखना चाहता हूँ।"

युवक की इस निर्भीक गर्जना से राजप्रासाद का वह कमरा गूँज उठा। मालूम होता था, उसकी दीवारें काँप रही हों। मन्त्री के बोलने की शक्ति जैसे किसी ने छीन

ली। अपनी शिकायत सुन कर राजा का अहङ्कार सजग हो उठा। उन्होंने दर्प के साथ अपने स्वर को कुछ कठोर बना कर कहा—तुमसे इस प्रकार की धृष्टता-भरी बातें सुन कर मुझे क्रोध आ रहा है कुँवर! मैं तुम्हें अपने पुत्र की तरह अपना चुका हूँ, इसीलिए इस उभड़े हुए क्रोध पर मुझे शासन करना पड़ रहा है। और कोई होता तो उसे दिखला देता कि मेरी राज-व्यवस्था की झूठी निन्दा करने का परिणाम कितना भयङ्कर हुआ करता है।

"किन्तु मैं तो कोई झूठी निन्दा कर नहीं रहा हूँ"—करुणेन्द्र ने दृढ़ता के साथ कहा—"जो कुछ कह रहा हूँ उसका एक-एक अक्षर सत्य है—वह सत्य, जिसे आप जान कर भी नहीं जानते और जिसके लिए मेरा नम्र निवेदन है कि आप उसे जानें—और शीघ्र ही जानें—नहीं तो अनर्थ हो जायगा।"

"सहनशीलता की भी एक सीमा होती है करुणेन्द्र!" राजा ने क्रोध से तमतमाते हुए चेहरे पर रोब चढ़ा कर कहा—"मुझे भय है, अब मैं तुम्हारी ये विद्रोहपूर्ण बातें शान्ति और धैर्य के साथ न सुन सकूँगा। अतएव आशा करता हूँ, इसके आगे अगर तुम्हें कुछ बोलना हो, तो होश में आकर, बड़ी सावधानी के साथ, शब्दों का उच्चारण करना, नहीं तो अनर्थ की पहली भेंट तुम्हारे ही साथ होगी।"

"इसके लिए तो मैं सब तरह से तैयार होकर आया हूँ श्रीमन् !"—कुँवर साहब ने बड़ी गम्भीरता के साथ जवाब दिया—"और आपको यह विश्वास दिलाना चाहता हूँ कि इस समय, जब मैं आपके साथ बातें कर रहा हूँ, मेरा होश मेरे साथ है। मैं बड़ी सावधानी के साथ अपने शब्दों को सँभाल-सँभाल कर आपके आगे रख रहा हूँ, जिससे सत्य का असली रूप आपकी आँखों के सामने आ जाय।"

"बस, बहुत हो चुका"—राजा ने जोर से कड़कते हुए कहा—"मैं इस सम्बन्ध में अब कुछ नहीं सुनना चाहता। आज न जाने तुम क्यों इस तरह बढ़-बढ़ कर बातें कर रहे हो ! मैं तुम्हें जैसा समझता था, तुम ठीक उसके विपरीत निकले। तुम क्या जानो राज्य की शासन-व्यवस्था किस चिड़िया का नाम है ? मालूम होता है, किसी राज-विद्रोही ने तुम्हें बहका दिया है ? याद कर लो, ये सब विनाश के लक्षण हैं।"

"हाँ भगवन् !"—युवक ने उत्तर दिया—"मैं भी तो यही निवेदन कर रहा हूँ कि ये सब (राज के) विनाश के लक्षण हैं, आपको इन्हें दूर करने का उचित उपाय सोचना चाहिए।"

क्रोध की भभकती हुई ज्वाला ने राजा की नस-नस में आग लगा दी। भूखे शेर की तरह गुर्राते हुए उन्होंने

कहा—तुम इसी दम मेरे सामने से हट जाओ। तुम्हारी सूरत से मुझे घृणा हो गई है। अभी एक क्षण पहले मैं राजकुमारी के साथ तुम्हारे विवाह की बात सोच रहा था, किन्तु अब देखता हूँ, तुम्हारे लिए जहाँ तक जल्दी हो सके, मुझे हथकड़ियों और बेड़ियों का प्रबन्ध करना पड़ेगा।

"राजकुमारी के साथ मेरा व्याह कराके"—कुँवर साहब ने वीर-दर्प के साथ उत्तर दिया—"अथवा मुझे अपने राज्य का अधिकारी बना कर आप वह सुख और शान्ति नहीं पा सकेंगे स्वामिन्, जो सुख और शान्ति मुझे हथ-कड़ियाँ-बेड़ियाँ पहना कर या फाँसी पर लटका कर आप पा सकते हैं। अच्छी बात है, मैं आपके सामने से दूर हट जाता हूँ; अब यदि भाग्य में बदा होगा तो उसी दिन फिर सेवा में उपस्थित हो सकूँगा, जब आप मेरे लिए हथकड़ियों और बेड़ियों का प्रबन्ध कर चुकेंगे।"

इतना कह कर वह युवक तेजी के साथ कमरे से बाहर निकल गया।

राजा ने रोष-भरी आँखें गुड़ेर कर मन्त्री की ओर देखा और उनसे पूछा—सुन लीं इस छोकरे की बातें?

"हाँ स्वामिन्!"—अपराधी की तरह अपनी रोनी सूरत बना कर मन्त्री ने जवाब दिया—"सुन लीं, ठीक उसी तरह

जैसे कोई अबोध बालक किसी बेहोश रोगी का बड़बड़ाना सुन लेता है।"

"मैंने उसे पहचानने में भूल की थी। वह एक विषैला साँप है, जो आज तक फूलों के नीचे छिपा था। उसकी यह पहली ही फुफकार मुझे राज के अमङ्गल की सूचना दे रही है। इसको कुचले बिना काम न चलेगा।"

मन्त्री के होश हवा हो गए। कहाँ तो अभी कुँवर को उपहार में राजकुमारी दी जा रही थी और कहाँ अब उसे कुचल देने की बात सोची जाने लगी!

भयभीत होकर उन्होने कहा—श्रीमन्! उसकी ओर से मैं क्षमा की भीख माँग रहा हूँ। अभी पल भर पहले ही आप उसे अपना पुत्र अङ्गीकार कर चुके हैं। मेरा विश्वास है, आपके इस प्रेम का असर खाली न जाने पाएगा। वह बड़ा ही सहृदय युवक है। मालूम होता है, किसी दुष्ट ने उसे बहका दिया है।

"मै जानता हूँ मन्त्री जी"—राजा ने कहा—"हमारे राज में भी अब धीरे-धीरे ऐसे दुष्टों की संख्या बढ़ती जा रही है। कुँवर करुणेन्द्र भी अगर उन्हीं का साथी बन गया हो तो मुझे अपने कठोर कर्त्तव्य का पालन करना पड़ेगा। अच्छा हो, अगर आप समझा-बुझा कर उसे ठीक रास्ते पर ला सकें, नहीं तो आप मुफ्त में बर्बाद हो जायँगे।

अगर वह मान जाय तो मैं, जहाँ तक जल्दी हो सके, राजकुमारी के साथ उसका ब्याह करा दूँ। सम्भव है, शीला-देवी को पत्नी-रूप में पाकर वह अपने दायित्व को समझ ले और व्यर्थ ही इधर-उधर दृष्टि दौड़ाने का उसे अवसर ही न मिले।"

"मैं शीघ्र ही उसे आपके चरणों पर लोटता हुआ देखूँगा श्रीमन् !"—कह कर मन्त्री ने सिर झुका दिया और घर जाने की आज्ञा माँगी।

राजा ने मन्त्री को विदा किया और एक ऐसी लम्बी उसाँस काढ़ी, जिसमें उनके जीवन भर की वेदना तलमला रही थी। वे व्यथित होकर उसी जगह कोच पर लेट गए। उनकी आँखों के आगे राज्य भर के अत्याचारों की तस्वीरें नाच रही थीं, कानों में कुँवर करुणेन्द्र के वे करुणा और रोष-भरे शब्द गूँज रहे थे, हृदय में बेचैनी की लहरें दौड़ रही थीं।

२

"मेरा क्या अपराध है करुण ?"—राजकुमारी शीला ने आँखों में आँसू भर कर पूछा—"मेरे जन्म-जन्मान्तर के सञ्चित प्यार को तुम इस निर्दयता से क्यों ठुकरा रहे हो ?"

"तुम्हारा अपराध राजकुमारी !"—कुँवर करुणेन्द्र ने अपनी विह्वल भावनाओं को बलपूर्वक दबाते हुए उत्तर

दिया—"केवल इतना ही कि तुम मेरे-जैसे अभागों के लिए नहीं बनाई गई हो। मैं तुम्हारे प्यार को ठुकराने वाला अन्तिम पुरुष होऊँगा। किन्तु वह मेरे भोग की वस्तु नहीं है, उसकी तो मैं उपासना किया करता हूँ और चाहता हूँ कि तुम मुझे अशीर्वाद दो, जिससे जीवन भर मै ऐसा ही कर सकूँ।"

"मुझे भय है, यही आशीर्वाद मेरे लिए अभिशाप का काम करेगा।"

"नहीं, यह भय मिथ्या है। आशीर्वाद कभी अभिशाप नहीं हुआ करता। अभिशाप को आमन्त्रित करने वाली चीज़ तो है आकांक्षा।"

"किन्तु आकांक्षा से दूर हट कर जीवन में कोई स्वाद भी रह जाता है?"

"अपनी-अपनी रुचि के अनुसार लोग जीवन में स्वाद ढूँढ़ा करते हैं राजकुमारी! किसी को त्यागमय, कष्टमय, तपस्यामय जीवन ही स्वादिष्ट मालूम होता है और किसी को वह जीवन, जो सुख, भोग, विलास और वासना की धाराओं में, बिना केवट की नाव की तरह, लापरवाही से बहता चला जा रहा हो। मै नहीं जानता, तुम्हारी आकांक्षा क्या है, और तुम अपने जीवन में कैसा स्वाद बनाए रहना चाहती हो।"

"मेरी आकांक्षा और कुछ नहीं है प्रियतम!"—राज-

कुमारी घुटने टेक कर हाथ जोड़ती हुई गद्गद स्वर में बोली—"मैं केवल इतना ही चाहती हूँ कि तुम्हारी चरण-सीमा से कभी दूर न हटाई जाऊँ। चाहे मेरी यह आकांक्षा अभिशाप ही क्यों न बन जाय, मैं इससे अपने को कभी अलग न कर सकूँगी। ऐसा करने से मेरे जीवन का सारा स्वाद जाता रहेगा।"

कुँवर करुणेन्द्र का छिपा हुआ प्यार आँखों की राह से बाहर छलक पड़ा। रुँधे हुए स्वर में उसने कहा—मुझे विचलित न करो राजकुमारी! उठो, इस तरह मुझ अभागे के सामने घुटने टेक कर न बैठो। मेरा मन अधीर हुआ जा रहा है। मेरी रक्षा करो।

"मैं तो अबला हूँ नाथ! मेरे रक्षक तो आप ही हैं।"

"तुम्हारी यह दीनता मुझे पागल बना रही है राज-कुमारी!"—कुँवर ने बड़ी बेचैनी से कहा—"उठो, मेरे ऊपर दया करो।"

"और तुम भी मेरे ऊपर दया करो देव!"—राजकुमारी खड़ी होकर बोली—"मुझे अब से राजकुमारी कह कर लज्जित न किया करो; मैं तुम्हारे चरणों की दासी हूँ।"

"नहीं, तुम राज-कन्या हो।"

"हाँ, किन्तु केवल पिता जी के राजप्रासाद में, तुम्हारे आगे नहीं।"

"यह क्यों ?"

"नही जानती।"

"इसी को वनना कहते हैं।"

"इसी को वनना कहते हैं ?"—राजकुमारी का नारी-दर्प सजग हो उठा। वेदना-विह्वल वाणी को कम्पित करती हुई वह बोली—"कहते होंगे ; तुम्हारे ही जैसे हृदयहीन पुरुष, नारी-जीवन के इस इकलौते सत्य को 'बनना' कहते होंगे। बचपन से लेकर आज तक साथ रहते हुए भी जो एक अबला के हृदय की भूख नहीं पहचान सका, उसे यह अधिकार है कि वह मेरी इस बिलखती हुई आकांक्षा का अपमान करे, मेरे तड़पने को 'वनना' समझे।"

"क्रोध न करो शीला !"—कुँवर ने उसके दोनो हाथो को अपने हाथ में लेकर कहा—"मैं तुम्हारे क्रोध का पात्र नहीं, तुम्हारी करुणा का भिखारी हूँ, तुम्हारे प्यार का भूखा हूँ ; किन्तु × × × !"

"किन्तु क्या करुण ?"

"किन्तु हम दोनों के बीच जो वाधा आ खड़ी हुई है, उसे दूर होते अभी कुछ दिन लगेंगे। तब तक अपनी-अपनी अधीरता पर हमे कठोर अधिकार रखना पड़ेगा।"

"यह वाधा तो तुम्हारी ही खड़ी की हुई है। तुम चाहो तो पल-भर में दूर हो सकती है।"

"यह तो तुम सुनी बातें दोहरा रही हो शीला !"—राजकुमारी के मुखड़े पर अपनी जीवनमयी आँखों से पुरुषत्व की आभा बिखेरते हुए कुँवर करुणेन्द्र ने जवाब दिया—"तुम्हें क्या मालूम कि इस बाधा का निर्माण करने वाला मैं हूँ या वह, जिसके अत्याचारपूर्ण शासन से आज सारे राज्य में हाहाकार मच रहा है। मेरे लिए यह हाहाकार असह्य हो उठा है। मैं प्राण देकर भी प्रजा की पीड़ाओं का प्रतीकार करूँगा।"

"किन्तु दो-चार दिनों के बाद भी तुम इस काम को शुरू कर सकते हो, और मैं समझती हूँ उस समय तुम बड़ी आसानी से सफलता प्राप्त कर सकोगे।"

"मैं इस काम में बहुत पहले ही से हाथ डाल चुका हूँ शीला !"—कुँवर ने गम्भीर-भाव से उत्तर दिया—"बहुत देर हो गई, अब पीछे नहीं लौट सकता। जिस काम के लिए तुम मुझे दो-चार दिनों तक ठहरने को कह रही हो, वह इस महान् कार्य के आगे अपना कोई महत्व नहीं रखता !"

"मगर मेरी ओर भी तुम देख रहे हो या नहीं ?"

"मेरी आँखें तुम्हारी ओर से फिर न सकेंगी; किन्तु हृदय इस समय प्रेम की मदिरा पीकर बेहोश नहीं होना चाहता, वह कर्त्तव्य की वेदी पर बलिदान होकर अमरत्व की धारा बहाना चाहता है।"

"तुम बड़े ही कठोर हो प्रियतम !"

"ठीक उसी तरह प्रिये !"—कुँवर ने उसका हाथ चूमते हुए कहा—"जिस तरह वह शिला-खण्ड, जिसके नीचे सदैव निर्मल जल का स्रोत उमड़ता रहता है। अच्छा हो, अगर तुम मुझ निष्ठुर को बिलकुल भूल जाओ।"

"कोशिश करूँगी।"

"कोशिश ही नहीं, पूरी तपस्या करनी होगी।"

"करूँगी, अब मैं सब कुछ करूँगी; और केवल इसीलिए कि तुम्हारी मनोकामना पूरी हो, तुम्हारा यह अनुष्ठान सफल हो।"

"ईश्वर तुम्हारी इस इच्छा-शक्ति को अमर बनाए।"

"आशीर्वाद दो"—कह कर राजकुमारी उसके पैरों पर माथा टेकती हुई बोली—"इन चरणों की धूलि मेरे सुहाग की रखवाली करे।"

३

"मैं तुम्हारा अन्तिम निर्णय सुनना चाहता हूँ प्यारे करुण !"

"मुझे बहुत ही दुःख है पिता जी !"—करुणेन्द्र ने विनीत भाव से उत्तर दिया—"मेरे विचार तब तक दूसरे नहीं हो सकते, जब तक भूख की ज्वाला से तड़पने वाले इन करोड़ों निरीह प्राणियों की पीड़ा का पूर्ण प्रतीकार न हो जाय—

जब तक राजकीय अत्याचारों की 'इति' न हो जाय और जब तक मैं राज्य-व्यवस्था के साथ जनता की उमङ्ग-भरी सहानुभूति का मेल न देख लूँ।"

"किन्तु क्या तुम समझते हो"—मन्त्री ने राज-दर्प दिखलाते हुए कहा—"कि तुम इतनी बड़ी राजसत्ता के विरुद्ध घड़ी भर भी खड़े रह सकोगे ? तुम अपने को इतना महान् कब से समझने लगे ?"

"उसी दिन से"—करुणेन्द्र ने कहा—"जिस दिन मुझे मालूम हुआ कि आप लोग केवल ग़रीब प्रजा का रक्त ही चूसना जानते हैं—उसकी सूखी हुई रसहीन हड्डियों में रुधिर की सृष्टि करना बिलकुल नहीं जानते ; उसी दिन से, जिस दिन देखा कि जिनकी कमाई के बल पर राजप्रासादों में मदिरा की नदियाँ बहाई जा रही हैं, उन बेचारों को कहीं पानी पीने का भी ठिकाना नहीं है ; और पिता जी, उसी दिन से, जिस दिन मुझे मालूम हुआ कि महानता का आधार ऐश्वर्य अथवा राजपद नहीं, बल्कि मनुष्यता के प्रति प्रेम है। मैं नहीं जानता, इतनी बड़ी राजसत्ता के विरुद्ध मैं घड़ी भर खड़ा रह सकूँगा या नहीं ; हाँ, इतना जानता हूँ कि मैं सत्य और न्याय की उपासना करने जा रहा हूँ और परमात्मा मेरी सहायता करेंगे।"

"सम्भव है, परमात्मा तुम्हारी सहायता करें, किन्तु

तुम्हारे पिता होने के नाते मेरा भी कर्त्तव्य है कि मै तुम्हें उचित राह पर लाने की चेष्टा करूँ, तुम्हें आग में कूदने से रोकूँ और तुम्हारे कल्याण की चिन्ता करूँ × × ×" कहते-कहते मन्त्री की आँखे डबडबा आईं।

"सच है पिता जी!"—करुणेन्द्र ने अविचलित भाव से कहा—"आप अपना कर्त्तव्य कीजिए, मैं अपने कर्त्तव्य को पहचानता हूँ।"

"और अपने माँ-बाप को अपार कष्ट में डालना ही शायद तुम इस समय अपना कर्त्तव्य समझ रहे हो?"—मन्त्री ने व्यङ्ग किया।

"नहीं, माँ-बाप के माया-मोह की परवा न करते हुए सारे देश को क्लेश-मुक्त करना।"

"नरक मिलेगा—कहे देता हूँ, मुझे रुला कर सुख न पा सकोगे।"

"पिता का आशीर्वाद सिर-आँखों पर; किन्तु देश-सेवा के नाते यही नरक मेरे लिए स्वर्ग होगा। आपको रोते देख मैं कभी सुखी नहीं हो सकता, मगर देखता हूँ आपके रोने का कोई कारण नहीं है।"

"इससे बढ़ कर और कौन-सा कारण होगा"—मन्त्री ने विदग्ध वाणी में कहा—"कि कल ही मैं जिस बेटे को राज-सिंहासन पर बैठाने की बात कर रहा था, उसी को शायद

अब जेल की नरक में सड़ता हुआ देखूँगा। तुम नहीं जानते, राज-धर्म कितना कठोर और निर्मम होता है।"

"जानता हूँ"—करुणेन्द्र ने उत्तर दिया—"राज-धर्म बड़ा ही कोमल और सदय होता है। कठोरता और निर्ममता तो स्वार्थ-पूजा के निमित्त काम में लाई जाती है।"

"अभागे हो"—मन्त्री ने कहा—"राजकुमारी शीलादेवी के साथ-साथ इतना बड़ा समृद्धिशाली राज्य खोने जा रहे हो।"

"इतना ही या और कुछ ?"

"बहुत-कुछ"—मन्त्री ने आँखों में रोष की लालिमा जगा कर उत्तर दिया—"यदि तुम चौबीस घण्टे के अन्दर अपनी विचार-धारा न बदल सके, तो मुझे राजाज्ञा का पालन करना पड़ेगा, तुम्हें पुत्र के रूप में नहीं, राज-द्रोही के रूप में देखने को विवश होना पड़ेगा और मुझे भय है, तुम इस नगर में नहीं रहने दिए जाओगे।"

"बहुत अच्छा"—कुँवर अपने शरीर का वस्त्र उतारता हुआ बोला—"राजाज्ञा का पालन करने के लिए आपको चौबीस घण्टे की लम्बी प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ेगी। लीजिए, मैं इसी समय यहाँ से चला जाता हूँ। अब मुझे दीन-दुखियों के हृदय में अपना वैकुण्ठ बसाना है, आपके इन मूल्यवान् वस्त्रों की आवश्यकता नहीं रह गई। इन्हें भी मैं छोड़े जाता हूँ, मेरे लिए गाढ़े का यह एक टुकड़ा ही बहुत है। प्रणाम × × ×!"

देखते ही देखते, ऐश्वर्य की गोद में पला हुआ वह युवक केवल एक लँगोटी पहन कर उस महल से बाहर निकल गया।

मन्त्री माथा ठोक कर रह गए !

४

"ज्यों-ज्यो विप्लव बढ़ता जा रहा है, त्यों-त्यों आप ढीले होते जा रहे हैं मन्त्री जी !"

"हो सकता है श्रीमन् !"

"क्यों ? क्या मैं इसका कारण जान सकता हूँ ?"—राजा ने अपनी भौंहें टेढ़ी करके पूछा।

"मैं स्वयं नहीं जानता, क्या कारण हो सकता है।"

"क्या आप यह भी नहीं जानते कि आप ही का पुत्र इस विप्लव का प्राण है ?"

"इस विप्लव के प्राण को तो मैं पहचानता हूँ, किन्तु उस पर मेरा अब कोई अधिकार नहीं; वह जनता की चीज़ हो गया है।"

"किन्तु उसे राज-दण्ड देते हुए आपका हृदय तो काँप रहा है न ?"

"इसे मैं अस्वीकार नहीं कर सकता श्रीमन् !"—मन्त्री ने गम्भीर होकर निवेदन किया—"मेरी छाती के भीतर हृदय नाम की एक ऐसी वस्तु है, जो मुझे स्नेह और ममता की ओर खींच लेती है। मैं सब तरह से लाचार हूँ।"

"आपको, जैसे हो, यह विद्रोह दबाना पड़ेगा"—राजा ने क्रोध से काँपते हुए कहा—"नहीं तो इसका परिणाम अच्छा नहीं होगा।"

"यह तो मैं भी देख रहा हूँ श्रीमन्!"—मन्त्री ने नम्रता से उत्तर दिया—"किन्तु इसकी दवा मेरे पास नहीं है। दमन-चक्र चला कर यह प्रलयङ्कर विद्रोह शान्त नहीं किया जा सकता। आपको जनता के सामने झुकना पड़ेगा।"

"मुझे जनता के सामने झुकना पड़ेगा?"—राजा क्रोध से पागल होकर चिल्ला उठे—"मैं सब समझ गया मन्त्री, इस विद्रोह के सञ्चालन में तुम्हारा भी हाथ है। तुम्हीं यह सब करवा रहे हो।"

"मैं इसका विरोध करता हूँ"—मन्त्री ने शेर की तरह गरज कर प्रतिवाद किया—"मैं इस राज्य का सबसे बड़ा हितेच्छु हूँ। मैं वही कह रहा हूँ, जो आपके लिए कल्याण-प्रद समझता हूँ। मगर आपकी आँखें फूट गई हैं, आपके सिर पर विनाश मँडरा रहा है। अत्याचार करने पर आप तुले हुए हैं, यही अत्याचार आपको ले बैठेगा। अब भी समय है, सँभल जाइए।"

"अच्छी बात है"—कह कर राजा ने सीटी बजा दी। बजाते ही पचीस तीस हथियारबन्द सैनिक वहाँ आ खड़े हुए।

राजा ने क्रोध से काँपते हुए कहा—सेनापति ! मन्त्री को गिरफ्तार करो। यह विद्रोहियों का सरदार है।

सैनिकों की तलवारें झनझना उठीं। मन्त्री के हाथो में हथकड़ियाँ डाल दी गईं।

राजा ने मन्त्री की ओर देख कर रोप-भरे शब्दों मे कहा—जाओ, तुम्हारी नमकहरामी का यही पुरस्कार है।

मन्त्री ने हँस कर कहा—नमकहलाली का कहिए श्रीमन् ! अब भी तो सत्य से प्रेम करना सीख लीजिए। मुझे तो अपना पुरस्कार मिल गया, अब आप अपना पाने के लिए तैयार रहिए।

"बस, अब तुम अधिक नहीं बोल सकते"—राजा ने तलवार खींच कर कहा—"बन्दी के मुख से मैं कोई बात नहीं सुनना चाहता।"

"ईश्वर आपको सत्पथ दिखावे !"—कह कर मन्त्री ने तलवार के आगे अपना सिर झुका दिया !

५

"तुम यहाँ कैसे राजकुमारी ?"

"क्या अब भी मैं राजकुमारी ही हूँ ? राजकुमारी भी क्या मेरी ही जैसी राह की भिखारिनी हुआ करती हैं ?"

"वही तो पूछता हूँ, तुमने यह बाना क्यों धारण किया ? राजप्रासाद का सुख छोड़ कर तुम हम विद्रोहियों के बीच

क्योंकर आ गई ? पिता के विरुद्ध तुम्हारा यह आचरण मुझे आश्चर्य-चकित कर रहा है !"

"सच है सरदार !"—करुणेन्द्र को सम्बोधित करके राजकुमारी शीला ने कहा—"(करुणेन्द्र को विद्रोही दल के लोग 'सरदार' कह कर पुकारा करते थे) आज मुझे अपने अत्याचारी पिता के विरुद्ध ऐसा आचरण करते देख आपको आश्चर्य हो रहा है, किन्तु उस दिन अपने ऊपर आपको आश्चर्य न हुआ होगा, जब आप स्वयं अपने पिता का विरोध करके घर से निकल गए थे। आपके हृदय में आज जो आग धधक रही है, उसी ने मेरे अन्तर में भी अब घर कर लिया है। राजा के इस नारकीय अत्याचार का उत्तर देना मैंने भी अपना धर्म समझा और इसी कारण यह बाना धारण कर, आपकी सेवा में आ खड़ी हुई। सरदार ! मैं और किसी लायक़ नहीं हूँ, केवल आपकी सेविका के नाते इस विप्लव की आराधना करने आई हूँ। मेरी पूजा स्वीकार हो !"

"प्रिये !" विद्रोहियों का सरदार प्रेमार्द्र होकर कह उठा—"तुम मुझे 'सरदार' और 'आप' कह कर न पुकारो। मैं तुम्हारा वही 'करुण' हूँ, जो जीवन के इस दारुण संग्राम में लिपटा रह कर भी, तुम्हें कभी एक क्षण के लिए भी अपनी स्मृति से दूर नहीं हटा सका। कदाचित् उसी के

प्रभाव से इस समय तुम मेरे सामने आ पहुँची हो। आओ, पहले तुम्हें एक बार गले लगा कर विप्लव के इस कण्टकाकीर्ण आँगन में तुम्हारा स्वागत करूँ।"

सरदार ने अपनी बाँहें फैला दीं, किन्तु शीला उनसे दो क़दम दूर हट कर बोली—सरदार, होश में आ जाओ। तुम इस समय एक बड़े भारी यज्ञ के पुरोहित बने हुए हो। यह विह्वलता तुम्हें शोभा नहीं देती! यह यज्ञ समाप्त कर लो, फर मुझे गले लगाना। तुम्हारे प्रेम की भीख मेरे कलेजे के भीतर है, उसे इस समय निकाल कर दिखाने की मुझे जरूरत नहीं। आज तो मैं तुम्हें अपने कर्त्तव्य की छवि पर रिझाने आई हूँ। अभी मुझे मत छुओ, पिता के शोणित से मै अपनी माँ का तर्पण कर लूँ, एक सच्ची क्षत्री बालिका की तरह माता के ऋण से उऋण हो लूँ, फिर मेरा कोई काम नहीं रह जायगा, मैं तुम्हारे छूने लायक़ हो जाऊँगी।

"इसका क्या अर्थ शीला?"—सरदार ने सँभल कर, चौक कर, और कुछ लजा कर पूछा।

"इसके अर्थ में अनर्थ की गाथा है।"—राजकुमारी ने क्रोध से काँपते हुए जवाब दिया—"पिता जी—नहीं, इस राज्य के अत्याचारी राजा—के मन में सन्देह हुआ कि मेरी माँ का भी हाथ इस राज-विप्लव में था। वे तुम्हारे साथ हमदर्दी दिखाने के अपराध में चुपके से मार डाली गई! मेरे लिए

भी षड्यन्त्र रचा जा रहा था, किन्तु मुझे मालूम हो गया और मैं चुपके से यहाँ चली आई।"

सरदार तड़प उठा—"क्या, माता जी के साथ भी उस पापी ने यही सुलूक किया ?"

"केवल मेरी माता जी के ही साथ नहीं"—राजकुमारी ने कहा—"तुम्हारे पिता जी भी जेल के भीतर सड़ रहे हैं और तुम्हारी माता जी इसी शोक से चल बसीं।"

"माँ मेरी चल बसीं और पिता जी बन्दी बना कर जेल में डाल दिए गए हैं। यह तो मैं तुम्हारे आने के घण्टे भर पहले ही सुन चुका था, किन्तु इससे मैं विचलित नहीं होने का। राष्ट्रीय यज्ञ में कितनी ही प्यारी और मूल्यवान् वस्तुओं की आहुति देनी पड़ती है। कौन जाने, किस समय हमारे प्राण भी कर्त्तव्य की इसी वेदी पर चढ़ जायँ × × ×"

"अब बिलकुल देर नहीं है"—कह कर इसी समय अचानक राज्य का प्रधान सेनापति उन दोनों के आगे तलवार खींच कर खड़ा हो गया। उसके साथ सशस्त्र सैनिकों की एक टोली भी थी।

"ख़बरदार सेनापति !"—राजकुमारी ने डपट कर कहा—"एक पग भी अगर आगे बढ़ाया तो कुशल नहीं है। राजकुमारी शीलादेवी तुम्हें आज्ञा दे रही हैं कि तुम इसी समय यहाँ से दूर हट जाओ।"

"खेद है राजकुमारी !"—सेनापति ने क्रूरता की हँसी हँस कर जवाब दिया—"अब आपकी आज्ञा का कोई मूल्य नहीं रह गया। मैं राजाज्ञा पाकर आपको और इस 'विद्रोही' को गिरफ्तार करने आया हूँ। भला चाहें, तो शान्तिपूर्वक आप लोग आत्म-समर्पण कर दें। व्यर्थ की बातें बघारने से अब कोई लाभ नहीं होगा।"

"अच्छी बात है सेनापति !"—करुणेन्द्र (सरदार) ने धीरता के साथ कहा—"इस समय हम लोग फँस गए। यहाँ हमारी सहायता करने वाला कोई है नहीं, इसलिए बड़ी आसानी से तुम हमें गिरफ्तार कर लो। मगर अपने राजा से कह देना कि हमारी गिरफ्तारी से यह विप्लव शान्त नहीं होगा, लोग राज-मद को चूर करके ही दम लेंगे।"

"कोई चिन्ता नहीं"—सेनापति ने अकड़ कर कहा—"आगे की बात फिर देखी जायगी। इस समय राज-मद तुम्हारे खून का प्यासा है, चुपचाप चल कर उसकी प्यास बुझाओ।"

"चलो !"—कह कर शीला और करुणेन्द्र ने एक साथ ही अपने हाथ बढ़ा दिए।

६

"तुम्हारे ही कारण राज्य-भर में यह मार-काट मची हुई है, इसे स्वीकार करते हो ?"—राजा ने डपट कर पूछा।

"मेरे कारण नहीं, आपके कारण—आपके इन नारकीय अत्याचारों के कारण !"—विद्रोही करुणेन्द्र ने उत्तर दिया ।

"तुम्हारी इस गुस्ताखी की क्या सज़ा है, जानते हो ?"

"गुस्ताखी नहीं जानता, सज़ा जानता हूँ और उससे मैं डरता नहीं ।"

"अब डर कर भी तुम उससे छुटकारा नहीं पा सकते !"—कह कर राजा ने अमानुषिक रूप से चिल्ला कर आज्ञा दी—"कहाँ है जल्लाद ! ले जाओ, इस नमकहराम कुत्ते को फाँसी पर लटका दो ।"

इसी समय हाँफता हुआ सेनापति राजा के सामने आ खड़ा हुआ और बोला—आप कहीं जाकर छिप रहें हुज़ूर ! बाग़ियों की सेना ने जेल की दीवारें तोड़ दीं ! अब वह महल की ओर दौड़ी आ रही है !

"और तुम्हारी सेना कहाँ गई ?"—राजा ने भयभीत होकर पूछा ।

"मेरी सेना के सभी लोग उसी दल में जा मिले"—सेनापति ने भय-विह्वल होकर कहा—"मैं आपको कहीं छिपा रखने के लिए वहाँ से भाग आया हूँ । अब मेरे हाथ में एक भी सैनिक नहीं रह गया । आप जल्दी करें, कहीं जाकर

छिप रहें। वह देखिए, सेना का समुद्र उमड़ा आ रहा है। भागिए, छिपिए, अपने प्राणों की रक्षा कीजिए !"

"क़िले का दरवाज़ा बन्द करो !"—कह कर राजा रङ्ग-महल की ओर भाग खड़े हुए।

वे अभी भीतर पहुँच भी नहीं सके थे कि विद्रोहियों की सेना क़िले में घुस आई। बेचारा सेनापति पकड़ लिया गया।

"जल्दी बताओ"—विद्रोहियों के एक मुखिया ने सेनापति से पूछा—"वह अत्याचारी, कायर और दग़ाबाज़ राजा कहाँ छिपा हुआ है ? हमें उसके राज-दर्प की प्यास बुझानी है।"

"मैं नहीं जानता"—सेनापति ने कहा।

"नहीं जानते ?"—एक साथ ही बहुत से लोगों ने चिल्ला कर कहा—"झूठे हो ! जल्दी बताओ, नहीं तो बोटी-बोटी अलग कर दी जावेगी।"

"जरूर कर दी जानी चाहिए"—कुछ लोग चिल्ला उठे—"इसी राक्षस ने हमारे सरदार और कुमारी शीलादेवी को धोखे से गिरफ्तार किया था।"

"वह हत्यारा महल में जा छिपा है"—कह कर अचानक विद्रोहियों का खोया हुआ सरदार (करुणेन्द्र) उसी जगह आकर खड़ा हो गया।

उन्हें पाकर उनके हौसले और भी बढ़ गए। जेल में उन्होंने अपने सरदार को बहुत ढूँढ़ा था, पर वे मिले नहीं। लोगों ने समझा, वे फाँसी पर लटका दिए गए। इससे उनकी उत्तेजना और भी बढ़ गई थी। अब अपने उसी सरदार को सामने देख कर वे चिल्ला उठे—महल को मिट्टी में मिला दो। उस शैतान राजा को पकड़ कर उसी फाँसी की डोरी से लटका दो, जो हम लोगों के लिए बनाई गई थी!

"अत्याचार का अन्त कर दो! इसके बाद ही हमें एक राम-राज्य क़ायम करना है!"—कह कर सेना का दल महल की ओर टूट पड़ा।

७

जेल से निकलते ही शीला अपने सरदार (करुणेन्द्र) की खोज में लग गई। मगर उसे कहीं पता न चला। वह मूर्च्छित होकर एक जगह गिर पड़ी। विद्रोहियों का दल बहुत आगे निकल चुका था। करुणेन्द्र के पिता धीरे-धीरे आ रहे थे, उनकी नजर पड़ गई। उन्होंने पहचान लिया। उन्हीं के प्रयास से उसकी बेहोशी दूर हो गई। आँखें खोलते ही उसने पूछा—कँवर साहब का भी कुछ पता है?

"कह नहीं सकता बेटी!"—उस बेचारे ने बड़े कष्ट से उत्तर दिया—"जाकर देख आओ, शायद उसी दल में मिल जायँ। अब मालूम होता है, सारा मामला शान्त हो

गया। आकाश-मण्डल में हर्ष की ध्वनि गूँज रहा है। अगर जा सको तो जाओ, करुणेन्द्र को खोज लो। मैं यहीं बैठता हूँ, उसे मेरे पास ले आना।"

शीला उठी और विद्युत्-वेग से राजमहल की ओर दौड़ पड़ी।

"हटो, रास्ता साफ कर दो!"—पीछे की भीड़ मे से आवाज़ उठी—"राजकुमारी शीलादेवी आ गईं, इन्हें सरदार (करुणेन्द्र) के पास जाने दो।"

"रास्ता आप से आप खुलता जायगा, आप आगे बढ़ती जायँ"—कह कर दो-चार आदमी लोगो को इधर उधर हटाने लगे।

लोगों के हर्ष की सीमा नहीं थी। भीड़ को चीरती-फाड़ती, शीला उस स्थान पर पहुँची, जहाँ एक अत्याचारी राजा की वैभवहीन काया फाँसी पर झूल रही थी और उसका राज-मुकुट लोट रहा था लगोटी पहने हुए उस विद्रोही के चरणों पर!

शीला यह दृश्य देख कर खड़ी न रह सकी। लोगो ने आँखों में आँसू भर कर देखा, वह भी उन्हीं चरणों पर बेहोश होकर गिर पड़ी!

छोटके भैया

दहेज में बड़ी से बड़ी रक़म और अधिक से अधिक चीज़ें पाकर भी वर-पक्ष के लोग सन्तुष्ट हो सके हों, ऐसा कम ही देखा गया है। मेरे विवाह में भी यही बात हुई। उस दहेज के पीछे मेरे बाबू जी तबाह हो गए, फिर भी दहेज पाने वालों की इच्छा भूखी ही रही। बारात की बिदाई के समय हल्दी की थाली में सिर्फ एक सौ एक रुपए देख कर मेरे ससुर साहब के तन-बदन में आग लग गई। यह वह आग थी, जिसने उनके साधारण सौजन्य और शिष्टाचार के भावों को भी जला दिया। लात मार कर, हल्दी की थाली को दूर ठुकराते हुए, क्रोध-कम्पित स्वर में वे ज़ोर से चिल्ला उठे—मुझसे यह अपमान नहीं सहा जा सकता। भला चाहते हो तो अपनी ये सड़ी हुई चीज़ें (थाली, लोटे, गिलास, कटोरे, कलसी, गगरे आदि) मेरे सामने से उठा ले जाओ, नहीं तो मैं इन्हें चूर-चूर करके यहीं मिट्टी में मिला दूँगा।

यद्यपि वे सारी चीज़ें एकदम नई, बहुत ही सुन्दर और क़ीमती थीं, फिर भी मेरे बाबू जी ने उनकी ओर से कोई वकालत न करते हुए बड़ी ही दीनता से हाथ जोड़ कर कहा—ग़रीब की चीज़ें ऐसी ही हुआ करती हैं समधी जी! मैं किस लायक़ हूँ कि आपको कुछ दे सकूँ? इधर-उधर से भीख माँग कर जो कुछ जुटा सका, आपके चरणों पर समर्पित है। इस तरह अगर आप उन्हें ठुकरा देंगे, तो मैं कहीं का न रह जाऊँगा। मेरी लाज बचाइए!

इस करुण विनती से मेरे ससुर जी पसीजने वाले नहीं थे। उन्होने और भी आग-बबूला होकर कहा—लाज उसकी बचाई जाती है, जिसके पास वह हो। आपको अपने लाज-धरम का ख्याल होता तो इस तरह छूछी हल्दी की थाली देकर आप मेरा अपमान न करते। आख़िर मुझे भी तो अपने समाज में अपनी प्रतिष्ठा रखनी है! आपके ये सारे बर्त्तन पुराने हैं। ऊपर से इन पर पॉलिश करवा दिया गया है। इन्हें साथ ले जाऊँगा तो गाँव भर के लोग मेरा उपहास करेंगे। मैं इन्हें छू भी नहीं सकता। जी चाहे, आप उठा कर ले जाइए या यहीं पड़े रहने दीजिए।

मेरे बाबू जी की आँखों में आँसू भर आए। क्रोध और अपमान की चोटों से आहत होकर भी उन्होंने अपनी स्वाभाविक नम्रता से उत्तर दिया—मै तो आपसे निवेदन कर

चुका समधी जी! नई या पुरानी जैसी भी हों, अब ये चीजें आपकी है। मेरे-जैसे भिखारी से आप हल्दी की थाली में और क्या पाने की आशा कर सकते हैं? मेरे पास है ही क्या? गोबर उठाने के लिए मै आपको अपनी बेटी दे सका, यही मेरा अहोभाग्य! आपकी इतनी कृपा न होती तो मेरा उद्धार असम्भव था।

मेरे ससुर जी कुछ बोलने ही वाले थे कि इतने ही में उधर से कोई और सज्जन बोल उठे—रुपए खर्च करने में पीड़ा हो तो बेटी का व्याह ही नही करना चाहिए; रख लेना चाहिए चुपचाप उसको अपने ही घर में।

उनके बाद ही एक दूसरे सज्जन ने कहा—ठीक तो है। बेटी जनमाने के पहले ही अच्छी तरह सोच लेना चाहिए कि उसके लिए कुछ खर्च करने की भी सामर्थ्य है या नहीं।

अब इधर के लोग भी अपने बढ़ते हुए क्रोध को क़ाबू में नहीं रख सके। क्रोध में काँपते हुए बड़के भैया ने बाबू जी से डपट कर कहा—आप भी किन बेहूदों के आगे हाथ जोड़े खड़े हैं! जाइए यहाँ से। जितना ही हम दबे जाते हैं उतनी ही इनकी शेख़ी और भी बढ़ती जा रही है। ले जाइए दहेज की ये सारी चीजें घर; इन्हें देने की कोई जरूरत नहीं। अब इनकी गाली का जवाब गाली से और मार का जवाब मार से दिया जायगा।

"इतनी जल्दी घबरा मत जाओ बेटा !"—कह कर बाबू जी उन्हें शान्तिपूर्वक कुछ समझाना ही चाहते थे कि इतने में मेरे ससुर जी ने बड़के भैया की पीठ पर पड़ाक से एक जूता पटक कर, राक्षसी-स्वर में चिल्लाते हुए, चुनौती दे दी—मार तो मार ही सही। देखें, किन सालों में इतनी हिम्मत है !

बड़के भैया ने भी उसके जवाब में जूता उठाया ही था कि बाबू जी उनसे लिपट गए और अपनी क़सम देकर उनको वैसा करने से रोक लिया।

"निकाल लो तलवार, फरसा और काट दो खीरे की तरह इन बलिदान के बकरों को ! फूँक दो आग इस समूचे गाँव में ! मारो, काटो, लूटो, पीटो, चखा दो मज़ा इन पाजियों को बढ़-बढ़ कर बातें करने का !"—इन्हीं शब्दों का उच्चारण करते हुए मेरे ससुर जी और भी पागलों की तरह चिल्ला-चिल्ला कर ऊधम मचाने लगे।

बड़के भैया की पीठ पर जूता पड़ते ही मेरे गाँव के पचीसों नवजवान लाठी लेकर बारात पर टूट पड़े। ससुर जी झोंक में आकर तलवार-फरसा निकालने की बात तो कह गए, मगर सच पूछिए तो उनके दल में दो-चार लाठियों के सिवाय आत्म-रक्षा के लिए और कोई अस्त्र-शस्त्र था ही नहीं ! सब के सब बेचारे बुरी तरह पिट जाते, अगर छोटके

भैया ने आगे बढ़ कर उन क्रोधोन्मत्त नवजवानों को रोक न लिया होता—"खबरदार! मेरे सम्बन्धियो पर हाथ छोड़ने का किसी को अधिकार नहीं है। उनकी गालियाँ और मार सहने का काम हमारा है। आप लोग व्यर्थ ही रक्तपात करने पर उतारू न हों।"—छोटके भैया के इन शब्दों ने उन्हें लाठी चलाने का मौका ही नहीं दिया।

बाबू जी अब भी मेरे ससुर के पैरो पर लोट-लोट कर अपने आँसू से धरती गीली कर रहे थे। बड़के भैया खड़े-खड़े क्रोध से दाँत पीस रहे थे। छोटके भैया अपनी ओर के लोगों को इस दृढ़ता से रोके हुए थे मानो वे उनके अधिनायक हों। और मैं? हाय! मेरी बाबत कुछ न पूछिए! मैं अपने सिसकते हुए पतिदेव के साथ पालकी के भीतर से ही रो-रोकर यह सब देख रही थी! मन ही मन यह भी सोच रही थी कि यदि मेरा जन्म ही न होता, तो आज इस दारुण लीला की सृष्टि ही किस लिए होती!

भयङ्कर मार-पीट की नौबत तो किसी प्रकार टल गई। मगर मेरे ससुर जी को कोई शान्त न कर सका। वे दौड़ कर मेरी पालकी के पास गए और मेरे पतिदेव को उससे बाहर खींचते हुए बोले—तुम इसके भीतर बैठ कर औरतों की तरह क्यों रो रहे हो? चलो, मैं तुम्हारा दूसरा व्याह करा

दूँगा। इस बेईमान की बेटी अब मेरे घर नहीं जा सकती। इसने हमारा घोर अपमान किया है।

मैंने देखा, अपने बाप की इस अमानुषिक निष्ठुरता का वे किसी तरह भी प्रतिरोध नहीं कर सके। बच्चों की तरह फूट-फूट कर रोने लगे। मुझे ऐसा मालूम हुआ, मानो मेरा सर्वस्व ही छिन गया। मैं भी रोती हुई पालकी से बाहर निकल आई और पछाड़ खाकर वहीं गिर पड़ी। मरी नहीं; अगर उसी समय मर गई होती, तो आज यह दिन न देखना पड़ता। जब मेरी आँखें खुलीं, तो मैंने अपने को छोटके भैया के कमरे में विस्तरे पर लेटी हुई पाया। वे धीरे-धीरे मेरे ऊपर पङ्खा झल रहे थे।

प्यार से माथे पर हाथ फेरते हुए उन्होंने सजल स्वर में पूछा—अब तबीयत कैसी है नीरो ?

मैं क्या जवाब देती ? धैर्य का बाँध टूट गया था, मैं एक बार ही फूट कर रो पड़ी। वे भी उसी तरह रो-रोकर मुझे चुप कराने लगे।

२

सुना, घर जाते ही मेरे पतिदेव भी बीमार होकर चारपाई पर गिर पड़े। पूरे महीने भर, एक दिन छोड़ कर एक दिन, उन्हें ज्वर आता रहा। उसके बाद वे चारपाई से उठ तो जरूर गए, लेकिन केवल नाम-मात्र के लिए।

अच्छे होकर भी वे दिन-रात किसी अगाध चिन्ता में डूबे रहते थे। हँसने-बोलने की तो बात ही क्या, लोगों का कहना है, खाने-पीने की ओर से भी बुरी तरह उदासीन रहने लगे। फल यह हुआ कि उनके खोए हुए स्वास्थ्य के लौट आने की बात तो दूर रही, जो कुछ बच रहा था, उसमें भी धीरे-धीरे घुन लगने लगा। अब वे सप्ताह में चार दिन अच्छे रहते तो तीन दिन बीमार। कॉलेज का पढ़ना तो छुड़ा दिया गया, लेकिन घर पर पुस्तकों के सिवाय और उनका कोई साथी ही नहीं था। उस हालत में भी कभी-कभी रात-रात भर वे किताब लेकर बैठे ही रह जाते थे। लोग लाख समझाते, मगर उसका कोई असर न होता। परिणाम वही हुआ जो ऐसी हालत में हो सकता है—उन्हें क्षय की बीमारी ने अपना शिकार बना लिया। वे कभी अच्छे और कभी बीमार रह कर बड़े कष्ट के साथ जीवन बिताने लगे।

मुझे समय-समय पर बराबर उनके सम्बन्ध की सारी बातें मालूम होती रहती थीं। मगर उनके पिता जी ने भूल कर भी कभी उनकी बीमारी का हाल मेरे पिता जी को नहीं लिखा। अब भी उनकी आँखें न खुलीं और न उनके हृदय का वह अमङ्गल अनुष्ठान ही पूरा हुआ, जिसका आरम्भ करके उन्होंने हम दोनो प्राणियों के असहाय जीवन को एक भयानक अन्धकार से ढँक दिया था। मैं जैसे-जैसे

उनके बारे में सुनती जाती, वैसे ही वैसे मेरा कलेजा भी कटा जाता। मन की यही साध मुझे दिन-रात विकल बनाए रहती कि मैं किसी तरह इस बीमारी में उनके पास बैठ कर उन्हीं की चरण-सेवा में अपना समय बिताऊँ। मगर यह मेरे भाग्य में लिखा ही नहीं था। क्या करती ? भीतर ही भीतर रो-रोकर मैं भी अपने जीवन की उन दारुण घड़ियों का अवसान करने लगी !

इसी तरह एक वर्ष बीत गया। अच्छी होने के बदले दिनोदिन उनकी अवस्था और भी बिगड़ती ही गई। उस दिन जब मैंने सुना कि उनके मुँह से अब और भी अधिक मात्रा में खून गिरने लगा है, उनकी देह में अब ज्वर बराबर बना ही रहता है, वे बहुत ही बेचैन रहने लगे हैं, तब तो मेरे धीरज का बाँध ही टूट गया ! हृदय इस तरह हिल उठा, जैसे इसका सारा अवलम्ब ही टूट गया हो ! मन में आया, अभी-अभी उड़ कर उनके पास पहुँच जाऊँ, मगर देखा तो पङ्ख का पता ही नहीं था ! इच्छा हुई, दौड़ कर उनके चरणों पर जा गिरूँ, लेकिन रास्ता चारों ओर से बन्द था। मैं माथा ठोक कर बैठ गई !

बाबू जी मेरी दशा देख कर रो पड़े। मेरे पास आकर ममता-भरी वाणी में उन्होंने मुझसे कहा—तुम तो देख ही रही हो बेटी ! मै हाथ के फोड़े से कितना विकल हूँ। पीड़ा

के मारे मरा जा रहा हूँ, मुझसे लिखते नहीं बनता। चलो, तुम्हीं मेरी ओर से एक पत्र लिख दो।

मैं समझ गई, उन्हें किसके पास पत्र भेजना था। बाबू जी सचमुच फोड़े की भयङ्करता के मारे लिख नहीं सकते थे। वह उनके दाएँ ही हाथ पर हो गया था और बहुत ही कड़ी यातना दे रहा था। मेरा हृदय भर आया। मैंने बड़ी कठिनता से, अपनी उछलती हुई करुण भावनाओं को दबा कर, उनसे कहा—मैं न लिख सकूँगी बाबू जी, बड़के भैया से कहिए।

उनकी आँखों में आँसू भर आए। बहुत ही दुखित होकर उन्होंने कहा—प्रताप से वहाँ पत्र लिखने के लिए कहते हुए मुझे भय मालूम होता है, इसे क्या तुम नहीं जानती हो नीरो? उसका हठ क्या तुमने देखा नहीं है?

मैंने कहा—आप न कहिए, मैं किसी और से कहला दूँगी।

बाबू जी ने कहा—मेरी बात रख लो, वह देवता का कहा भी नहीं सुनेगा। इस मामले में उसका स्वभाव मैं अच्छी तरह जानता हूँ—सुनते ही झल्ला उठेगा। झूठ-मूठ उसे छेड़ने की जरूरत नहीं।

"तो फिर किसी और से लिखवा लीजिए"—मैंने कहा—"गाँव में और भी तो लिखे-पढ़े लोग है।"

"इस पत्र में मुझे जो कुछ लिखाना है बेटी !"—बाबू जी ने बड़ी गम्भीरता से मुझे समझाया—"वह बाहर विदित हो जायगा तो लोग मेरा उपहास करेंगे। मैं तो इसकी परवाह नहीं करता, लेकिन प्रताप से यह नहीं सहा जायगा। वह क्रोध में आकर गाँव भर का बखेड़ा मोल ले लेगा। जानता हूँ, मुझे तुमसे भी यह काम नहीं करवाना चाहिए; मगर इस समय मैं और कर ही क्या सकता हूँ ? दुःख के इस अथाह पारावार में डूबते हुए अपने बूढ़े बाप को इतना-सा भी सहारा न दे सकोगी बेटी ?"

मैं इसके आगे और कुछ न कह सकी। चुपचाप उठी और उनके कमरे में जाकर काग़ज़-क़लम लेकर बैठ गई !

बाबू जी ने पत्र लिखवाना शुरू किया। वह मेरे ससुर जी के नाम था। मेरे हृदय में बड़े ज़ोर से धड़कन शुरू हो गई ! उन्होंने कहा इसके आगे लिखो, बेटी !

मेरी लेखनी काँपने लगी। वे लिखाने लगे—"आपका अपराधी तो मैं हूँ। मुझे चाहे जो दण्ड दीजिए। कहिए, इसी समय आकर आपके चरणों पर गिर पड़ूँ और आप मेरी नङ्गी पीठ पर चाहे जितने जूते लगा लें। मगर मेरी बेटी का क्या क़ुसूर है ? इसे तो कम से कम एक बार अपने पति का मुँह निहार लेने दीजिए।"

बाबू जी रो-रोकर एक ही साँस में ये सारी बातें कह

गए। जैसे वे पत्र नहीं लिखा रहे थे—साक्षात् किसी से बोल ही रहे थे। मेरे हाथ से लेखनी गिर पड़ी और मैं बाबू जी के गले से लिपट कर जोर-जोर से रोने लगी।

इसी समय किसी ने उनके गले से मेरा हाथ छुड़ाते हुए कहा—इस तरह रो-रोकर तुम भी मत मरो नीरो ! धीरज बाँधो।

ये मेरे छोटके भैया थे। मुझे बरबस रोना बन्द करना पड़ा, नहीं तो वे और भी बुरी तरह रोने लगते।

उन्हें एकाएक कमरे में देख कर बाबू जी को भी ढाढ़स बँध आया। आँसू पोंछते हुए वे बोले—तुम कैसे आगए प्रमोद ! कॉलेज में छुट्टी है ?

उन्होंने बाबू जी के पैर छूते हुए कहा—छुट्टी लेकर आया हूँ ; बहनोई जी को देखने जाना है।

बाबू जी ने सन्तोष की साँस खींच कर कहा—बड़ा अच्छा किया बेटा ! मैं बड़ी उलझन मे पड़ गया था। तुमने उसे दूर कर दी।

"मगर मैं नीरो को भी अपने साथ लिवा जाऊँगा !"—छोटके भैया ने बिना किसी प्रकार के सङ्कोच का भाव दिखाते हुए कहा।

बाबू जी थोड़ी देर तक चुप रहे। फिर उन्होंने कहा—नहीं, यह ठीक न होगा बेटा ! अपमान की इतनी कड़वी

घूँट तुम लोग नहीं पी सकोगे। अच्छा हो, पहले तुम अकेले ही हो आओ। उन लोगों की मार-गाली सह कर भी उन्हें इस बात के लिए राजी कर आओ कि घड़ी भर के लिए ही वे तुम्हारी बहिन को अपने घर बुला लें।

"अच्छी बात है"—कह कर छोटके भैया उसी समय कमरे से निकल गए। मैं इतना भी नहीं कह सकी कि कम से कम वे मुँह-हाथ धोकर कुछ जलपान तो कर लें!

३

उसके दूसरे ही दिन छोटके भैया वहाँ से लौट आए। सीधे बाबू जी के पास पहुँच गए। उनका चेहरा देख कर हिम्मत न हुई कि उनसे कुछ पूछूँ। कमरे के बाहर ही दीवार की ओट में चुपचाप खड़ी होकर उनकी बातें सुनने लगी। सुनने में जितनी पीड़ा हुई थी, सुनाने में इस समय उससे भी बढ़ कर पीड़ा हो रही है। उस समय हृदय पर केवल एक ही चोट पड़ रही थी, आज उसी चोट के सिलसिले में न जाने कितनी चोटें सहनी पड़ रही हैं।

वह मेरा ससुर नहीं, पिछले जनम का कोई प्रतिहिंसक शत्रु था। वह मेरी सास नहीं, मेरे जन्म-जन्मान्तर की वैरिन थी। वह मेरी ननद नहीं, कभी की मुझसे चोट खाई हुई काली नागिन थी। इन सब लोगों ने एक साथ ही मुझसे बदला चुकाया।

छोटके भैया को देखते ही सब के सब कुत्तों की तरह उन पर टूट पड़े। सास और ननद ने गालियों से सत्कार किया और मेरे ससुर देवता उन्हे पीट भी देते, अगर छोटके भैया अपनी असाधारण सहनशीलता और पुरुषार्थ भरी गम्भीरता से काम न लेते। वे इन उत्पातों से बिलकुल विचलित हुए ही नही। अन्त तक नम्रता, शान्ति और सद्भाव का साथ उन्होंने न छोड़ा। और यह सब उन्होंने सिर्फ मेरे लिए किया; नहीं तो उनके जैसा हृष्ट-पुष्ट नौजवान दस आदमियो को अकेले चबा सकता था।

उन्होने बार-बार पैरों पड़ कर विनती की कि एक बार मेरी बहिन को इनका मुँह देखने दीजिए।

ससुर ने कहा—आज तक कहाँ थे?

सास ने कहा—इस कुदिन में उसे यहाँ बुला कर मैं अपना अमङ्गल करूँगी क्या? अभी गौंना का दिन बहुत दूर है।

ननद ने कहा—किस कुघड़ी में मेरे भाई ने उस डाइन के माँग में सेन्दुर डाला कि उसी दिन से अभी तक खाट पर पड़े हुए है! उसे यहाँ बुला कर मैं अपने घर को मसान बनाऊँ तब न?

मेरे भैया सब तरह से निरुपाय होकर अपने बहनोई के कमरे मे गए। उन्हे देखते ही वे बच्चों की तरह फूट-फूट

कर रो पड़े। रोते ही रोते उन्होंने कहा—इन लोगों को आप व्यर्थ ही क्यों समझा रहे हैं? इनके आगे झुकना नम्रता का अपमान करना है।

छोटके भैया ने रोकर जवाब दिया—मुझे एक ही बहिन है, उसमें मेरे प्राण बसते हैं, उसी के लिए मुझे सब कुछ करना पड़ेगा।

"नहीं, अब आप कुछ मत कीजिए"—उन्होंने बड़ी कातरता से कहा—"ये लोग आदमी नहीं, राक्षस हैं। इन लोगों को मेरे ऊपर तो दया ही नहीं आई, पराए की बेटी का दुःख देख कर ये कब पसीजने वाले हैं! मैंने स्वयं इन लोगों से कई बार रो-रोकर विनती की; लज्जा-सङ्कोच छोड़ कर इनके आगे अपना हृदय खोल कर रख दिया; फिर भी इनकी पत्थर की छाती न पसीजी। इसलिए आप अब इनसे अधिक अपमानित न होइए। जाइए, अपनी बहिन को सान्त्वना दीजिए। बड़ी साध थी कि उसे गले लगा कर एक बार रो लेता। पर सब तरह से निरुपाय हो गया हूँ। कह नहीं सकता, उस बेचारी के भाग्य में क्या बदा है!"

इसी समय मेरे ससुर जी कमरे में घुस आए और बोले—आप लोग जो सलाह कर रहे हैं, वह मैंने भी सुन लिया है। अब अगर आप चुपचाप यहाँ से चल नहीं देते, तो मैं कहे देता हूँ, ठीक नहीं होगा।

"अब तो मैं मर ही रहा हूँ बाबू जी !"—मेरे पतिदेव ने कहा—"क्या इस समय भी मुझे थोड़ी देर तक सुखी नहीं रहने दीजिएगा ?"

"वही तो मैं कह रहा था"—ससुर जी ने सिर हिला कर कहा—"चल गया न ससुराल का जादू ! मगर याद रखना, मेरे जीते जी यह नहीं होने पाएगा ।"

"सो तो मैं खूब अच्छी तरह से जान गया हूँ"—उन्होने कहा—"मगर मैं पूछता हूँ, आपके इस अत्याचार का कहीं अन्त भी होगा या नहीं ? मै ऐसी कौन सी बातें कर रहा था, जिनको बन्द करने के लिए आप यहाँ लाठी लेकर आ धमके ? कृपा कर थोड़ी देर के लिए मेरे कमरे से हट जाइए, नहीं तो दीवार में सिर पटक कर मैं इसी समय आत्म-हत्या कर लूँगा ।"

वे जोश में आकर उठ बैठे । ससुर साहब चुपचाप कमरे से बाहर हो गए ।

छोटके भैया ने उन्हें पकड़ कर लिटा दिया और पूछा—तो मैं उसे थोड़ी देर के लिए आपके पास ले आऊँ ?

"नहीं"—उन्होने हाथ जोड़ कर कहा—"ईश्वर के लिए ऐसी ग़लती न कीजिए । यह सच है कि मै उसे देखे बिना सुख से नहीं मर सकता, फिर भी मरते समय मैं अपनी आँखो के सामने उसे अपमानित नहीं होने दूँगा ।"

"मैं उसके अपमान करने वालों की लाश गिरा दूँगा"—भैया ने जोश में आकर कहा।

"इसकी ज़रूरत नहीं प्रमोद भाई !"—उन्होंने बड़ी कातरता से कहा—"आखिर अब वह यहाँ आकर ही क्या करेगी ? जाइए, उसे ढाढ़स बँधाइए। उसकी रक्षा कीजिए, और मुझ पापी की ओर से उससे क्षमा माँग लीजिए।"

"नहीं, आप किसी बात की चिन्ता न करें। मैं उसे एक बार आपके चरणों के पास देखना चाहता हूँ !"—कह कर छोटके भैया आतुरता से उठ खड़े हुए।

उन्होंने भराए हुए स्वर में उत्तर दिया—जाइए, मगर जल्दी आइएगा।

बाबू जी को मेरे दुर्भाग्य की यह करुण गाथा छोटके भैया ठीक इसी तरह रो-रोकर सुना रहे थे, जिस तरह इस समय मैं आपको सुना रही हूँ। बाबू जी की आँखों से भी आँसू का सोता बह रहा था ! और मैं एक अवलम्बहीन लतिका की तरह दीवार से टिकी हुई थी। मेरी आँखों का आँसू उस समय जैसे सूख-सा गया था।

वहाँ की सारी बातें सुना कर अन्त में छोटके भैया ने पूछा—तो मैं अब नीरो को वहाँ ले जाने की तैयारी करूँ न बाबू जी ?

"हाँ"—कह कर बाबू जी ने स्वीकृति दे दी। मेरा हृदय

इस वेग से धड़कने लगा कि मालूम होता था, अब फट ही जायगा। यहाँ तो करम में लिखा हुआ था जन्म जन्मान्तर के करोड़ों पापों का फल भोगना। वह फट कैसे जाता?

खैर, थोड़ी ही देर के भीतर मेरे चलने की तैयारी हो गई। मैं हहरते हुए हृदय और काँपती हुई आशा से पालकी के भीतर जा बैठी।

आँगन से पालकी बाहर निकली ही थी कि इधर से रोते और सिर पीटते हुए, गिरते और पछड़ते हुए मेरे बड़के भैया को कोई सँभाले आ रहा था।

छोटके भैया ने आगे बढ़ कर पूछा—क्या हुआ?

बड़के भैया ने सिर धुनते हुए जवाब दिया—होगा क्या मेरे भाई! हम लोग लुट गए! हमारी सोने की दुनिया जल गई! देखो, यही आदमी वहाँ से अभी यह चिट्ठी लेकर आ रहा है। तुम्हारे आने के बाद ही बहनोई जी चल बसे! हाय, हमारी दुलारी बहिन के जीवन को एकदम सूना करके वे न जाने कहाँ भाग गए!

मेरे आगे एकाएक अँधेरा छा गया। छोटके भैया ने जी कड़ा करके पूछा—कहीं उस राक्षस ने धोखा देने के लिए तो पत्र नहीं भेजा है?

पत्र-वाहक की आँखों में आँसू भर आए। उसने

विश्वास दिलाया—मैं उनके हाथ का पत्र लेकर नहीं आया हूँ बाबू जी ! वे सचमुच राक्षस हैं । मुरली बाबू आपके भाई साहब के दोस्त हैं । मैं उन्हीं की चिट्ठी लेकर आया हूँ । उधर उनकी लाश गाँव से बाहर निकली है, इधर मैं चिट्ठी लेकर यहाँ आया हूँ ।

अब सन्देह के लिए कोई स्थान नहीं था । सब लोग सिर धुन-धुन कर रोने-पीटने लगे । मैं रो नहीं सकी, उसके पहले ही बेहोश होकर गिर पड़ी ! पता नहीं, उस बेहोशी को भी मुझसे कौन सा वैर था, जो थोड़ी ही देर बाद उस रुदन-भरे संसार में मुझे तड़पती हुई छोड़ कर, वह भाग गई । वह भी तो मुझ हतभागिनी के साथ कुछ दया का बर्ताव करती ! पर दुःख में कौन किसका साथ देता है ? फिर उसी को क्या पड़ी थी ?

४

मेरी माँ तो विवाह के पहले ही मर गई थीं । दुर्भाग्य के दिन आते ही बाबू जी भी चल बसे । मेरे वैधव्य-शोक की वह निदारुण यन्त्रणा उनसे सही न गई । मरते समय बड़के भैया से वे कह गए—देखो बेटा ! नीरो को अब तुम्हीं दोनों भाइयों का भरोसा है । इसे किसी तरह का कष्ट न पहुँचने पावे ।

छोटके भैया का व्याह अभी तक नहीं हुआ था । वे

इसके लिए राजी ही नहीं होते थे। कहते थे, कॉलेज की पढ़ाई समाप्त हो जाय, फिर देखा जायगा। घर भी बहुत ही कम आते थे। लेकिन बाबू जी के मर जाने पर वे क़रीब-क़रीब हर एक रविवार को घर आने लगे। केवल इसलिए कि कम से कम सात-आठ दिनों के बाद वे मुझे एक बार देख सकें कि मैं सुख से रहती हूँ या नहीं। भावज का स्वभाव अच्छा नहीं था। बड़के भैया स्वयं उनसे बहुत डरा करते थे। छोटके भैया को यह अच्छी तरह से मालूम था। इसीलिए मेरे सुख-दुःख की ओर वे अपनी खास निगरानी रखते थे।

जब तक मेरे बाबू जी रहे, मुझे भावज की स्वभाव-कटुता का कोई व्यावहारिक अनुभव नहीं था। इसकी नौबत ही नहीं आ पाती थी। उनके मरते ही मेरे प्राण सङ्कट में पड़ गए। रह-रह कर भावज के दुष्ट प्रहारों की वृद्धि होने लगी और मैं बड़ी धीरता के साथ उन्हें सहने लगी। छोटके भैया जब आते, मुझे यही उपदेश दे जाते—देखना बहिन, भूल कर भी अपनी ओर से कोई ग़लती न होने देना। दो बातें सह लेने की आदत न छोड़ोगी, तो जीवन में हर तरह का कष्ट झेल कर भी तुम सुख से रह सकोगी।

उनकी इन बातों का मर्म मैं समझती थी और इसीलिए भौजी के आगे मुझे गरदन झुका कर ही रहना पड़ता था।

मेरी इस नम्रता से उन्होंने बहुत ही अनुचित लाभ उठाना शुरू किया। मेरे झुके हुए कमजोर कन्धों पर उन्होंने धीरे-धीरे घर के सारे काम-काज का भार लाद दिया। मज़दूरिन की तरह मैं दिन-रात कठिन परिश्रम करने लगी। रसोई बनाना, आँगन-घर साफ करना, कपड़े धोना, धान कूटना, चक्की पीसना, बच्चों का मल-मूत्र फेंकना, कोई भी ऐसा काम न था जो मैं न करती होऊँ। फिर भी मीठी बोली सुनने को तरसना पड़ता था। किसी तरह से भौजी के मिज़ाज मिलते ही नहीं थे। बात-बात पर झुँझला उठतीं, गालियाँ बकने लगतीं, और ग़ुस्से में आकर बच्चों को पीटने लगती थीं।

एक दिन सौदा खरीदने गई। दूकान में बड़ी भीड़ थी। घर लौटने में देर हो गई। फिर क्या था? जैसे ही आँगन में पैर रक्खा, भौजी भूखी शेरनी की तरह मुझ पर टूट पड़ीं। बोलीं—दूकान पर कौन यार-भतार बैठा रहता है, जिसके साथ बातें करने में इतनी बेसुध हो जाती हो कि इतना भी ख़याल नहीं रहता कि घर में भी कोई काम-धन्धा है या नहीं?

सब कुछ होता था, मगर यार-भतार की बात सुनने की नौबत आज तक नहीं आई थी। मेरी सारी सहन-शीलता जाती रही। धरती पर सामान की गठरी पटकते

हुए मैंने कड़क कर कहा—ज़रा, सँभल कर बातें करना भी सीखो भौजी ! जितना ही सहती जाती हूँ, उतना ही तुम बढ़ती जाती हो। सब कुछ सह लूँगी, मगर इस तरह की गालियाँ बकोगी तो अच्छा न होगा।

"और उलटे मेरे ही ऊपर ताव जमा रही हो ?"—आग-बबूला होकर वे बोलीं—"घर का सारा काम-धन्धा ज्यों का त्यों पड़ा है और तुम अभी टहलती हुई आ रही हो ! तिस पर ऊपर से यह रोब !"

"काम-धन्धा पड़ा हुआ है तो तुम्हारे हाथ-पाँव क्या गल गए है ? करती क्यों नहीं ? दिन-रात कमाते-कमाते मैं मर जाती हूँ, फिर भी इनका काम ही नहीं पूरा होता; और आप चौबीसो घण्टे सेज ही पर पड़ी रहती हैं।"—इस बार मैंने भी अपने दिल का बुखार निकालते हुए उसी तरह बिगड़ कर जवाब दिया।

"सेज पर सोऊँगी नहीं ?"—उन्होने कहा—"मैंने किसी की सेज छीन ली है क्या ? जिसने जैसा करम किया है, उसको वैसा ही फल मिल रहा है ! तुम्हे तो जनम भर का रोना बदा है, सेज पर सोओगी कैसे ?"

"रोना बदा है तो रोने के लिए दुनिया में और भी जगहें मिल जायँगी। तुम्हारे तलवे की धूल मुझसे अब न झाड़ी जायगी। देख लिया, तुममे कितनी भलमनसाहत है।"

"मेरी भलमनसाहत देख कर तुम क्या कर लोगी ?"—उन्होंने कहा—"जाओ न, जहाँ जाना चाहो। कोई रोकता है ? देखें, किस चूल्हे-भाड़ में जगह मिलती है। किसके इशारे पर आज इस तरह नाच रही हो ?"

"नाचना तो तुम जानती हो"—मैंने जवाब दिया—"मुझे क्या मालूम कि नाचना किसे कहते हैं ? क्यों इस तरह मेरे घाव पर नमक छिड़कती जा रही हो ? कुछ भगवान् का भी डर है या नहीं ?"

"भगवान् का नाम लेकर मुझे इस तरह सरापोगी (शाप दोगी) तो झाड़ू मार कर आँगन से बाहर निकाल दूँगी। डाइन कहीं की ! मेरे ही टुकड़ों से पल रही है और मुझे ही सराप (शाप) भी दे रही है !"—कह कर सचमुच उन्होंने झाड़ू उठा लिया। इसी समय बड़के भैया आकर वहाँ खड़े हो गए। उन्हें देखते ही मैं फूट-फूट कर रोने लगी !

५

सारे दिन की थकावट से देह टूट रही थी। पीड़ा के मारे सिर फटा जा रहा था। रात भर करवटें बदलती रही। सवेरे आँखें झप गईं, मुझसे उठा नहीं गया। क़रीब आध पहर दिन चढ़ आया और मैं नींद में बेहोश पड़ी रही। यह एक ऐसा अपराध था, जिसके लिए भौजी किसी तरह क्षमा नहीं कर सकती थीं। भरी तो रहती ही थीं; उन्हें बर-

सते कितनी देर लगती ? लगीं जोर जोर से चिल्ला कर बकने—पटरानी की तरह, जब देखो बिस्तरे पर पड़ी रहती हैं। इतना बड़ा दिन चढ़ आया और अभी तक इनके लिए रात ही है।

जिस आवाज़ से घर की दीवारें तक हिल उठती थीं, उससे नींद उचटते देर लगती ? मै हड़बड़ा कर उठ बैठी। मेरा समूचा शरीर अब भी अलसाया हुआ, थका हुआ और सूना-सा मालूम हो रहा था। मै कमरे से निकल कर बाहर बरामदे में दीवार से टिक कर बैठ गई।

भौजी ने कड़क कर कहा—इस तरह टिक कर बैठ क्या गई ? चौका-बर्तन योंही जूठा पड़ा है। बच्चे भूख के मारे रो-रोकर मेरे प्राण खा रहे है। इन्हें भी मार कर ही दम लोगी क्या ?

गुस्से के मारे मेरी देह जल उठी। मुँह से आप ही आप निकल पड़ा—मैं इन्हे मारने-जिलाने वाली कौन होती हूँ ? बच्चे तुम्हारे हैं तो प्राण किसके खाए जायँगे ? भूख के मारे रो रहे हैं तो जाकर इन्हें खिलातीं क्यों नहीं हो ?

"खिलाऊँ किस चीज़ में रख कर ? तुम्हारे मुँह में ? बर्तन तो सब के सब जूठे पड़े हुए हैं।"

"सोने के बने हुए हाथ हैं क्या ? उनमें से उठा कर दो-तीन कटोरे धो लेतीं तो वे घिस जाते ?"

"हाँ, अब तुम इतनी बड़ी नवाबज़ादी बन गई हो कि मैं तुम्हारे जूठे बर्तन धो दिया करूँ ?"

"मैंने तो रात में खाया भी नहीं। तुम्हारे ही नवाबज़ादे-नवाबज़ादियों और नवाब साहब के जूठे किए हुए बर्तन हैं।"

न जाने बड़के भैया कहाँ से छिप कर ये बातें सुन रहे थे। मेरा इतना कहना था कि धड़ाक से वे मेरे आगे आ खड़े हुए और अपनी लाल-लाल आँखें तरेरते हुए मुझसे बोले—मैं देखता हूँ, तुम अब बहुत ही बढ़-चढ़ कर बातें करना सीख गई हो। मुझे नवाब साहब कहते हुए तुम्हें शर्म नहीं आती ?

अब मैंने बहुत ही ढीठ होकर जवाब दिया—और मैं भी देखती हूँ, इन बातों के लिए आप सदैव मुझे ही डाँट-फटकार कर रह जाते हैं। उससे कुछ नहीं कहते, जो दिन-रात सत्तू बाँध कर मेरे पीछे पड़ी रहती है।

"तो क्या तुम्हारे ख़ातिर उसे मार कर फेंक दूँ ?"—बड़के भैया ने दाँत पीसते हुए कहा—"तुम्हारे पीछे वह क्या पड़ी रहती है ? काम-धन्धा न करोगी तो कहेगी नहीं ? इतनी देर तक दिन में सोती भी रहती हो और काम करने को कहा जाता है तो गालियाँ बकने लगती हो !"

"हाँ, हमेशा मैं सोती ही रहती हूँ; और घर का सारा काम आप से आप हो जाता है। पूछिए तो श्रीमती जी

से, कभी एक तिनका भी टसकाती हैं? रात-भर खाट पर तड़पती रही वह तो किसी ने नहीं देखा, सवेरे थोड़ी देर के लिए आँख लग गई तो चिल्ला-चिल्ला कर आसमान फाड़ा जा रहा है!"

भैया को इतना गुस्सा चढ़ा जा रहा था कि उनके मुँह का रङ्ग एकदम तमतमा उठा, आँखों से आग की चिनगारियाँ बरसने लगीं। इस बार वे सहसा कुछ बोल नहीं सके। उनकी श्रीमती जी ने हाथ चमकाते हुए कहा—रात-भर तड़पती रही तो देखने कौन जाता? बुला क्यों न लिया किसी को अपने यार-दोस्तों में से, जिनके बल पर साँड़िन की तरह जिससे पाती हो उसी से भिड़ जाती हो?

वह मेरे क्रोध की पराकाष्ठा थी। मैं भूल गई कि बड़के भैया सामने खड़े हैं। उसी तरह चिल्ला कर बोल उठी—तुम्हारा भी खसम मर जायगा तब मेरे बदले तुम्ही ऐसा किया करना। साँड़िन की तरह क्या, उससे भी बढ़ कर भिड़ना तो तुम अब भी बहुत अच्छा जानती हो, तब और जान जाओगी।

"क्यो री हरामजादी! मेरे सामने ही तेरी इतनी हिम्मत?"—कह कर बड़के भैया ने उसी समय मेरी पीठ पर खड़ाऊँ बरसाना शुरू कर दिया। झोटा पकड़ कर, मारते-मारते उन्होंने मुझे धरती पर बिछा दिया। मुझमें रोने की भी सामर्थ्य नहीं रह गई।

भरपेट पीट चुकने के बाद उन्होंने मुझे आज्ञा दी—जाओ, अब सीधे से अपना काम देखो। फिर कभी झगड़ते देखूँगा तो जीती नहीं छोड़ूँगा।

मैं दौड़ कर अपने कमरे में जा घुसी। भीतर से दरवाज़ा बन्द कर लिया और छाती पीट-पीट कर रोने लगी।

प्रायः सारा दिन मैं उसी तरह सिर पटक-पटक कर, छाती पीट-पीट कर, धरती पर लोट-लोट कर, रोती ही रही। बीच-बीच में मैं गालियाँ भी बकती जाती थी, अपने मारने वाले को अभिशाप भी देती जा रही थी।

मालूम होता है, बड़के भैया मुझे मार-पीट कर भूखे ही कचहरी चले गए थे। खाते क्या? खाने-पीने की कोई चीज़ भी तैयार रहती तब तो?

सन्ध्या-समय वहाँ से लौटे तो भूख के मारे झुँझलाए हुए तो थे ही, मुझे अभी तक उसी हालत में पड़ी देख कर उनका क्रोध और भी भभक उठा! पत्नी से पूछा—अभी तक उसका रोना खतम नहीं हो सका है?

"अभी कैसे खतम हो जायगा?"—उन्होंने मुझे सुना कर जवाब दिया—"तभी से यही रट रही हैं कि 'जब तक मेरे मारने वाले की लाश न निकल जायगी, तब तक मैं इसी तरह बैठ कर रोती रहूँगी।' लाख मिन्नतें कीं, पर किवाड़ खोलती ही नहीं हैं।"

"नहीं खोलती है तो अब मैं खोलता हूँ। देखें, पहले मेरी लाश निकलती है या इसकी"—कह कर वे किवाड़ के पास पहुँच गए और उस पर धड़ाधड़ लात मारने लगे। थोड़ी ही देर में उसके दोनों पट दो तरफ़ को हो गए। कमरे मे घुसते ही उन्होंने मेरी पीठ पर धमाधम दो-तीन धौल जमा दिए और भोंटा पकड़ कर घसीटते हुए कहा—"अब भी उठती हो या नहीं ?"

"नहीं उठूँगी ; मुझे मार कर यहीं गाड़ दो !"—मैंने कहा।

"यहाँ नहीं मरने पाओगी"—कह कर घसीटते हुए वे मुझे आँगन में ले आए और बोले—"मरना ही है तो मेरे घर से निकल जाओ, इस काम के लिए कोई दूसरी जगह ढूँढ़ो।"

इससे अधिक और कुछ नहीं हो सकता था। बात यहाँ तक बढ़ जायगी, इसकी आशा कभी नहीं की थी। मैं उठी और आँगन से बाहर निकल गई।

मुझे जाती हुई देख कर भौजी ने कहा—इसे पकड़ कर बाँध रक्खो, नहीं तो यह कुल का नाम डुबो देगी।

"जाने दो"—बड़के भैया ने डपट कर जवाब दिया—"मैं इस राक्षसी से आजिज आ गया हूँ।"

"कहाँ जाऊँ, क्या करूँ" के फेर में पड़ कर मैं गाँव के बाहर एक गाछ के नीचे बैठ गई। जीवन से घोर अरुचि

हो गई थी। इसी समय कानों में रेलगाड़ी की आवाज़ आई। मन में आ गया, क्यों न इसी के नीचे पड़ कर एक ही क्षण के भीतर अपनी सारी यातनाओं का अन्त कर दूँ! दुःख में मृत्यु की कल्पना बड़ी मीठी लगती है। मैं उसके स्वाद पर निछावर होकर उठ खड़ी हुई और तेज़ी के साथ स्टेशन की ओर बढ़ी। मुश्किल से अभी दस गज़ का रास्ता तय कर सकी होऊँगी कि सामने से कोई आता हुआ दीख पड़ा। पास पहुँचते ही उसने पूछा—यह क्या, नीरो!

इतना सुनते ही मैं उसके चरणों पर गिर पड़ी। वह मेरे ही छोटके भैया थे।

६

मैं छोटके भैया के साथ ही शहर में रहने लगी। किराए का छोटा सा पक्का मकान था। बड़ा ही सुन्दर और स्वच्छ, जगह खुली हुई और स्वास्थ्य-प्रद थी। आस-पास में भले-भले लोगों के बँगले और बगीचे थे। पास ही गङ्गा जी की पवित्र धारा बह रही थी।

छोटके भैया ने घर से एकदम अपने को अलग कर लिया। पहले घर ही से उनके पढ़ने का ख़र्च आया करता था, उन्होंने उसे भी लेना बन्द कर दिया। कहा—जिस घर में मेरी बहिन का ऐसा अपमान हुआ, उसकी कोई भी चीज़ मेरे छूने लायक नहीं रह गई।

बड़के भैया कई बार उनके पास आए। मेरे पैरों पर गिर-गिर कर माफी माँगी, हर तरह से उनकी मिन्नतें कीं, लेकिन वे टस से मस नहीं हुए। बड़के भैया की उस अवस्था पर, उस पश्चात्ताप-भरी दीनता पर, उनके उस आत्म-समर्पण की निर्मल कातरता पर मुझे दया आ गई; परन्तु उन्होंने बिना किसी प्रकार की सहृदयता दिखाते हुए, कड़क कर कह दिया—"मुझे आपकी सूरत से घृणा हो गई है। जो अपने ही आश्रय मे रहने वाली एक अभागिनी अबला पर हाथ छोड़ सकता है, वह सब पापियों से बढ़ कर है। कोई भी ऐसा नारकीय कृत्य नहीं, जिसे करते हुए उसकी आत्मा को क्लेश हो। कृपा कर यहाँ से जाइए अपनी श्रीमती जी के पास; मुझे उस पाप की छाया में घसीट कर ले जाने का विफल प्रयास न कीजिए। मैं अपने हिस्से की सारी धन-सम्पत्ति आप ही के लिए छोड़ देता हूँ; मुझे कुछ नहीं चाहिए। जाइए, कृपा कीजिए।" बड़के भैया फिर कभी उनके पास नहीं आए।

कुछ दिनों तक तो बचे-खुचे रुपयों से काम चलता रहा, उसके बाद ही कठिनाई आ खड़ी हुई। लाचार होकर उन्हें कॉलेज की पढ़ाई छोड़ देनी पड़ी। उन्होंने दो-तीन ट्यूशन कर लिए। पत्र-पत्रिकाओं में भी बराबर उनके लेख निकला करते थे। उधर से भी कुछ रुपए आने लगे। सब मिला

कर वे महीने में सो रुपए से अधिक ही कमा लेते थे। खर्च-वर्च का सारा हिसाब मेरे ही जिम्मे रहता था। मैं बहुत साव-धानी से खर्च करने लगी। कुछ महीनों में हम लोगों का अर्थ-कष्ट बिलकुल जाता रहा। कुछ रुपए भी इकट्ठे हो गए।

छोटके भैया दिन-रात लिखने-पढ़ने में लगे रहते थे। कठिन परिश्रम और उद्योग उनकी जीवन-सृष्टि के प्रधान उपकरण थे। जब अपना काम कर चुकते तब वे मुझे पढ़ाया करते थे। धीरे-धीरे मेरे अध्ययन की रुचि और गति बढ़ती गई। अङ्गरेजी और हिन्दी-साहित्य का मर्म समझ सकने लायक़ उन्होंने मुझे बना दिया। मेरा जीवन ही दूसरा हो गया।

दिन के तीसरे पहर का समय था। भैया ट्यूशन पर गए हुए थे। उनके लौटने का वक्त हो रहा था। मैं बिस्तरे पर लेटी हुई प्रेमचन्द जी की 'रङ्गभूमि' पढ़ रही थी। उसकी 'सोफिया' का प्रणय-चित्र मेरी सजल आँखों के सामने फिर रहा था। इसी समय किसी ने बाहर से पुकारा—'प्रमोद!'

आवाज़ सुनते ही मैंने किताब रख दी और उठ कर झरोखे से देखा, सड़क पर वही युवक खड़ा था जो छोटके भैया के पास प्रायः आया करता था। यही एक आदमी उनके मित्रों में था, जिसे वे बहुत प्यार करते थे।

उसे मैंने कई बार देखा था, भैया के साथ जलपान कराया था, मगर बात-चीत कभी नहीं की थी। आज वह मुझे असाधारण रूप से सुन्दर मालूम हुआ। उसकी उस सौन्दर्य-सुषमा ने मेरे हृदय में एक नई आग लगा दी। मैं मुग्ध होकर उसे उसी तरह खड़ी-खड़ी देखती ही रह गई। मालूम होता था, दृष्टि-पथ पर एक देवदूत ही खड़ा है।

उसने फिर पुकारा—प्रमोद!

अब मेरा ध्यान टूटा। मैंने दौड़ कर नीचे जा, किवाड़ खोल दिया और कहा—वे अभी लौट कर नहीं आए हैं।

उसने एक बार मेरी ओर देखा और लाज के मारे आँखें झुका लीं।

मैंने कहा—आते ही होंगे; आइए न, तब तक उनके कमरे में चल कर बैठिए।

बड़े सङ्कोच से उसने उत्तर दिया—अभी जाता हूँ; फिर शाम को आऊँगा।

मैं उसी जगह ज्यों की त्यों खड़ी रही, जब तक वह आँखों की ओट न हो गया।

शाम को मैंने बड़े हुलास के साथ, बड़े ही प्रेम से, जलपान के लिए कई तरह की बहुत ही अच्छी-अच्छी चीजें तैयार कीं। उसके बाद मैं कभी दरवाजे पर जाती, कभी अपने कमरे की उस खिड़की के पास। प्रतीक्षा करते-

करते आँखें थक गईं। लाचार होकर, अकेले छोटके भैया को ही जलपान कराना पड़ा। उस समय उस युवक की अनुपस्थिति ने मेरे हृदय को पागल बना दिया।

मुझसे जलपान की एक भी चीज़ नहीं खाई गई। भैया की थाली में बची हुई कोई चीज मैं कभी नहीं फेंकती थी, उस दिन फेंक दी। उसी समय से मेरा किसी काम में मन न लगता। खिड़की के पास खड़ी रहना ही अच्छा मालूम होता था। इसी उद्विग्नता ने मेरी रात की रसोई बिगाड़ दी। दाल में नमक देना भूल गई थी, तरकारी में हल्दी अधिक गिर पड़ी। चावलों के नीचे का हिस्सा कुछ जल गया। रोटियाँ भी जैसी ही तैसी हो पाईं।

खाते समय भैया ने हँस कर कहा—आज दाल बहुत ही मीठी लगती है नीरो! नमक के बदले चीनी तो नहीं छोड़ दी?

मैंने घबड़ा कर कहा—"ओहो! नमक देना ही भूल गई भैया!" और उनकी थाली में नमक के बदले चुटकी भर मिर्च की बुकनी रख दी!

वे क़हक़हा मार कर हँसते हुए बोले—तो क्या अब दाल को मीठी से तीती बना दूँ?

मुझे अब होश हुआ। लाज के मारे मर-सी गई। मगर अपनी झेंप मिटाने के लिए तुरन्त बोल उठी—अब

अकेले रसोई बनाने में मन नहीं लगता भैया ! मुझे एक सखी ला दीजिए—अब आप अपना विवाह कर लीजिए।

भैया चकित होकर मेरी ओर देखने लगे। मानो इस परिहास के भीतर कोई ऐसा सत्य छिपा हुआ था, जिसे वे आज तक नहीं परख सके थे।

मैंने बिना कुछ समझे-बूझे ही फिर कह दिया—बस, इतनी सी मेरी विनती मान लीजिए भैया ! मुझे एक अच्छी सी भौजी ला दीजिए।

भैया ने चुपचाप सिर झुका लिया। उनकी आँखों से टपाटप आँसू की बूँदें टपकने लगीं।

७

उसी दिन से भैया बहुत उदास रहने लगे। न जाने बैठे-बैठे क्या सोचा करते थे ? मगर मेरे सामने आते ही वे अपनी उदासी और चिन्ता को प्रसन्नता के पर्दे में छिपा देते थे।

धीरे-धीरे इसी तरह दिन बीते जा रहे थे। अब उस युवक के साथ मेरी कुछ-कुछ घनिष्टता-सी हो चली थी। पहले वह उस समय मेरे घर में पाँव भी नहीं रखता था, जब भैया नहीं रहते, अब अवसर ताक कर उसी समय आता और बड़ी रुचि के साथ मुझसे बातें करता था।

एक दिन वह न जाने किस काम से दोपहर का खाना

खाने के बाद ही भैया के पास चला आया। आषाढ़ की धूप थी। पसीने से लथपथ हो गया था। भैया ने उसे देखते ही कहा—तुम बड़े ही हठी हो गए हो अमर! इतना समझाता हूँ कि धूप में बिना छाता के मत चला करो, पैर में जूते पहना करो, मगर तुम मानते नहीं हो। बीमार पड़ जाओगे तो सारी तपस्या हवा हो जायगी।

"तब क्या होगा?"—उसने हँस कर पूछा।

"तब"—भैया ने मुस्कराते हुए उसकी ठुड्ढी हिला कर, गाल पर हलकी-हलकी दो-तीन चपतें जड़ते हुए कहा—"तब इसी तरह मेरी चपतें खाया करोगे, और क्या होगा? नीरो! पङ्खा लेती आओ। देखो तो ज़रा इसकी शकल! मालूम होता है, किसी खेत में हल चला कर आ रहा हो।"

मैं पङ्खा झल रही थी। वे दोनों पढ़ रहे थे। अमर बाबू पढ़ते ही पढ़ते सो गए।

भैया ने पढ़ना बन्द करते हुए कहा—अब यह दो-तीन घण्टे के पहले जागेगा थोड़े ही? जाता हूँ तब तक ट्यूशन पर से हो आऊँ। यह उठे तो इसे जलपान-वलपान करा देना। शायद मुझे लौटने में दो-चार मिनट की देर हो जाय।

आकाश में बादल लटक आए! आस-पास की पुष्प-वाटिकाओं से सौरभ बटोर कर, मदमत्त कर देने वाली ठण्ढी-ठण्ढी हवा मेरे कमरे में उन्माद बिखेरने लगी। मैं

सिर से पैर तक काँप उठी। वहाँ से भागी और फिर उसी जगह पहुँच गई, जहाँ अमर बाबू सोए हुए थे। मैं चुपचाप उनके पास जाकर बैठ गई। आँखें उनके मुखड़े पर बिछ गईं। मेरी सुध-बुध न जाने कहाँ खो गई!

बहुत देर के बाद उन्होंने अपनी आँखे खोलीं। मेरी समाधि टूट गई। फ़ौरन बोल उठी—जलपान ले आऊँ?

"मुँह-हाथ धोने के पहले ही?"—उन्होंने मुस्करा कर पूछा।

मैं लजा कर वहाँ से हट गई। फिर जलपान की थाली और मुँह-हाथ धोने का पानी ले आई।

खाने को कहा तो बोले—प्रमोद के बिना जलपान का लुत्फ़ नहीं आएगा। तब तक रुक जाऊँ तो कोई हर्ज है?

मैंने जवाब दिया—मैं यह सब नहीं जानती, आपको खाना पड़ेगा।

"कोई जबरदस्ती है?"—वे हँस कर बोले।

"हाँ"—कह कर मैं एक गुलाबजामुन उनके मुँह के पास तक ले जाती हुई बोली—"ज़बरदस्ती मुँह में डाल दूँगी।"

उन्होंने मेरा हाथ पकड़ लिया और हँस कर कहा—यही गुलाबजामुन छीन कर अब तुम्हारे मुँह में डाल दूँ?

इसी समय छोटके भैया आकर कमरे में दाख़िल हो गए। मेरे तो सारे होश-हवास गुम हो गए। मैं मूरत बनी वहीं

बैठी रहीं। उन्होंने चटपट वही गुलाबजामुन अपने मुँह में रख लिया।

भैया ने आते ही उनकी खोपड़ी पर एक चपत जमाते हुए कहा—पेट नहीं भरता है तो मुँह भी नहीं दुखता? ज़रा अपने थैले को छोटा बना लो।

"बस इतने ही में घबरा गए?"—उन्होंने रसगुल्ला चाभते हुए जवाब दिया—"कभी दावत-ऊवत तो खिलाते नहीं; सड़ी-सड़ी चीज़ें खिला कर ऊपर से कहते हो पेट छोटा करने को!"

भैया ने हँसते हुए हाथ जोड़ कर कहा—कोप मत कीजिए दुर्वासा जी महाराज, इस अपराध के दण्ड-स्वरूप मैं कल ही आपको एक बड़ी सुन्दर दावत दूँगा।

फिर उन्होंने मेरी ओर देख कर हँसते हुए कहा—नीरो! कल बनाओ तो खूब बढ़िया-बढ़िया पदार्थ। देखें, इनका पेट कितना बड़ा है।

मेरे हृदय की हलचल बहुत-कुछ दबी भी और थोड़ी ही देर में फिर वह धीरे-धीरे बढ़ने भी लगी।

८

उस दिन चार ही बजे सवेरे उन्होंने मुझे जगा कर कहा—जाओ नीरो! जल्दी से नहा आओ। आज पूर्णिमा है, घाट पर बड़ी भीड़ हो जायगी। मैं भी नहाने जाता हूँ।

मैं नहा-धोकर लौटी तो देखती हूँ, दोनों मित्र मुग्ध-भाव से मेरे कमरे में खड़े हैं। भैया उनके ललाट पर तिलक लगा रहे थे।

भैया ने मुझे पास बुला कर, मेरा हाथ उनके हाथों पर रख दिया और अश्रु-गद्गद् कण्ठ से बोले—अमर! मैं अपने जीवन की एक बहुत ही अनमोल निधि तुम्हारे चरणों पर चढ़ा रहा हूँ। आशा है, इसे पाकर तुम सुखी होगे। और मेरी लाड़िली बहिन! तुमने मुझसे एक सखी माँगी थी, उसके बदले में तुम्हें अपना सबसे प्यारा 'सखा' भेंट कर रहा हूँ। परमात्मा सदैव तुम दोनों को सुखी रक्खें।

देखते ही देखते वह काम हो गया, जिसकी कभी आशा तो क्या, कल्पना भी नहीं की थी। हम दोनों आनन्द-विभोर होकर एक साथ ही उनके चरणों पर गिर पड़े।

आँसू पोंछते हुए वे चुपचाप कमरे से बाहर निकल गए। तभी से लापता है। कह नहीं सकती, मरने के पहले उस देव-दुर्लभ भाई को एक बार देख भी पाऊँगी या नहीं!

मधुर पराजय

मधुर पराजय

विमला अपने बाप की इकलौती बेटी थी और मैं था अपने बाप का इकलौता बेटा सामाजिक और धार्मिक मामलों में हम दोनों एक ही तरह के थे, मगर हम दोनों के बाप थे दो तरह के। उसके पिता जी स्त्री-शिक्षा और विलायत-यात्रा के पूरे पक्षपाती थे; मेरे बाबू जी स्त्री-शिक्षा की बात तो भला किसी तरह सुन भी लेते थे, किन्तु विलायत-यात्रा का नाम ही उनके तन-बदन में आग लगा देता था। यह वह आग होती थी, जिसकी विकराल ज्वाला में अपनी तड़पती हुई धर्म-भावनाओं को देख कर वे विकल हो उठते थे—उनकी सारी शान्ति, सारी सहिष्णुता, सारी स्थिरता इस तरह काँपने लगती थीं, मानो किसी ने उनका आधार ही छिन्न-भिन्न कर दिया हो। उनकी समझ से विलायत जाने का साफ-साफ मतलब अपने जाति-धर्म से च्युत होना था, अपने देव-दुर्लभ ब्राह्मणत्व से जन्म-जन्मान्तर के लिए हाथ धो बैठना था, अपने चिर-अर्जित पुण्य

की राशि में पाप के दहकते हुए अङ्गारे फेंक देना था ! उधर विमला के बाप, स्वयं एक प्रतिष्ठित वंश के शुद्ध सनातनी ब्राह्मण होते हुए भी, विदेश-यात्रा को शिक्षा का एक प्रधान अङ्ग मानते थे। उनका विश्वास था कि इसके बिना बीसवीं सदी का कोई भी स्त्री-पुरुष अपने युग-धर्म की पुकार का समुचित उत्तर दे ही नहीं सकता। मेरे बाबू जी शास्त्रीय धर्मों के आगे युग-धर्म का कोई अस्तित्व ही नहीं मानते थे। विमला के पिता जी शास्त्रीय धर्मों पर आस्था रखते हुए भी परम्परागत रूढ़ियों के घोर विरोधी, युग-धर्म के पवित्र उपासक और देश की पुकार का सच्चा मर्म समझने वाले थे। यही कारण था कि विमला के लिए इङ्गलैण्ड जाकर ऊँची शिक्षा पाने का मार्ग जितना सुगम था, मेरे लिए उतना ही दुर्गम।

बचपन से हम दोनों एक ही साथ लिखते-पढ़ते आ रहे थे, कभी पल भर को भी साथ नहीं छूटा था। केवल घर ही दो जगह थे, रहना अधिकतर एक ही जगह होता था। जीवन की उन बेहोश घड़ियों को बेच कर न जाने कितनी उमङ्गें बटोरी गई थीं, कितनी बड़ी-बड़ी आशाएँ मोल ली गई थीं ! होश आते ही वे सब की सब बिखरती और टूटती हुई नजर आने लगीं ! उसके दिल का हाल तो नहीं बता सकता, हाँ, अपने दिल की बेचैनी मैं अभी त

नहीं भूल सका हूँ, और उसे कभी भूलूँगा भी नहीं। वह बेचैनी, वह तड़प मेरे जीवन की एक दुलारी निधि है। उसे अपने कलेजे से बाहर निकालने को जी नहीं चाहता। वेदना एक ऐसी वस्तु है, जिसे मनुष्य भूल कर भी नहीं भूल सकता। फिर मैं ही कैसे अपनी उस पवित्र पीड़ा को भूल जाऊँ? कैसे भूल जाऊँ कलेजे की उस मीठी-मीठी कसक को, निराशा के उस मुस्कराते हुए व्यङ्ग को, बिछोह की उन मदमाती घड़ियों को? मुझे याद है—हाँ, खूब अच्छी तरह याद है—उस दिन जब आँखों में प्यार की नदी बहा कर विमला ने मुझसे कहा था—"अब तो मैं जा ही रही हूँ विजय! पता नहीं ये दिन फिर कब तक लौटेंगे! चलो, फुलवारी में बैठ कर तुम्हारी कविताएँ तो सुनी जायँ!" तब मैं उसे अपनी कविताएँ सुनाने के बदले फूट-फूट कर रो पड़ा था। "पता नहीं ये दिन फिर कब तक लौटेंगे" सुनने का भी कभी अवसर आएगा, इसकी कल्पना ही नहीं की थी। सुख की मदिरा उँड़ेलने वाला मन भला दुःख का हलाहल क्यों छूने जाता? जिसके साथ मुस्कराते हुए शैशव की सन्ध्या बिताई है, उसी के साथ बिलखते हुए यौवन का प्रभात नहीं बिता सकूँगा, यह सोचने की छुट्टी ही किसे रहती है? निराशा का यह करुण सङ्गीत, आने वाले वियोग-दुःख का यह विह्वल सन्देश सुनने के लिए मैं अपने को

अच्छी तरह से तैयार नहीं कर सका था। इसीलिए इन कातर शब्दों की चोट मेरे लिए उस समय और भी असह्य हो उठी! मैं किसी तरह भी अपने रुदन-वेग को न रोक सका।

बेचारी विमला भी मेरे साथ रो रही थी, लेकिन मेरी तरह अधीरता की आँधी उठा कर, आँसू की झड़ी बरसा कर नहीं; वह रो रही थी अपनी वेदना की गहराई में छिप कर, आँसू की एक-एक बूँद को सन्ताप की ज्वाला से सुखाती हुई! मैं रोकर रो रहा था, वह बिना रोए रो रही थी। मेरी आँखों में पानी था, उसके कलेजे में आग थी। बस, इतना ही फ़र्क़ था, नहीं तो रो हम दोनों ही रहे थे।

अन्त में उसी ने कहा—इस तरह अधीर होने से कोई लाभ तो है नहीं विजय, फिर क्यों अपने मन को पीड़ा पहुँचा रहे हो? मैं भगवान् की इच्छा के आगे अपना सिर झुका चुकी हूँ। तुम भी क्या ऐसा ही नहीं कर सकते?

"नहीं विमला! मैं ऐसा नहीं कर सकता।"—रूमाल से अपने आँसू पोंछते हुए मैंने उत्तर दिया।

"क्यों?"

"मेरे भगवान् हैं ही नहीं, इसलिए।"

"हैं ही नहीं, यह मत कहो।"—विमला गम्भीरतापूर्वक मुझे समझाने लगी—"वे तुम्हारे साथ हैं, किन्तु तुम उन्हें

इसलिए नहीं देख रहे हो कि तुम्हारी आँखें किसी दूसरी वस्तु पर हैं। जब जीवन किसी अभाव की उपासना करने लगता है, तभी उसकी भगवान् से भेंट होती है, तभी वह उनकी व्यक्त सत्ता का स्पर्श कर सकता है। इसीलिए जीवन को अभावमय हो जाने का अवसर देना उसे पूर्णता की ओर ले जाना है। प्रत्येक अभाव को परमात्मा की दी हुई भीख समझ कर अङ्गीकार कर लेना ही उनकी इच्छा के आगे सिर झुकाना और अपने को उनके योग्य बनाना है।"

सच कहता हूँ, उस समय उसकी ये तत्व-भरी बातें मेरी समझ में बिलकुल नहीं आईं। आज जितना ही इन पर विचार करता हूँ, उतना ही मेरा हृदय गद्‌गद हो उठता है। उस समय जीवन के इन गूढ़ मन्त्रों पर न तो विचार करने की क्षमता थी, न छुट्टी! मैं मन ही मन झुँझला उठा। मुझे ये बातें बड़ी ही रूखी लगीं। बात असल यह थी कि उस समय मैं अपने और विमला के बीच किसी और की सत्ता स्वीकार करना चाहता ही नहीं था। यौवन का नशा भगवान् ही नहीं, भगवान् के पुरखाओं तक की परवा नहीं करता। और मैं उस समय उसी नशे में चूर-चूर हो रहा था। जानता ही नहीं कि जीवन में 'अभाव' का भी कोई हिस्सा है, और उस हिस्से का बटवारा करने के लिए स्वयं परमात्मा को कष्ट उठाना पड़ता है। इसीलिए

मैं झुँझला कर बोला—मैं 'उनके' योग्य नहीं बनना चाहता और न अपने जीवन को पूर्णता की ओर ले जाना चाहता हूँ। अब यह जिधर चाहे, जाय। मैं इसकी धारा का अवरोध करने में असमर्थ हूँ। जिस चीज़ को आज तक जी-जान से चाहता आ रहा हूँ, जिसे जन्म-जन्मान्तर तक चाहता रहूँगा, उसके अभाव में अब किसी और वस्तु की चाह नहीं करूँगा। मुझे अब और कुछ नहीं चाहिए। मैं तुम्हारी एक आज्ञा चाहता हूँ। कहो, दोगी ?

अपनी अन्तिम बात तक पहुँचते-पहुँचते मेरा गला आँसुओं में उलझ गया। वाणी काँपने लगी, हृदय धड़कने लगा। मेरी सारी झुँझलाहट वेदना की चञ्चल धारा में बह गई !

उसने अपने काँपते अधरों पर सजल मुस्कान की एक हलकी सी रेखा नचा कर कहा—पागल, तुम्हें इस समय आज्ञा की कौन सी जरूरत आ पड़ी ?

हाय ! उसकी उस क्षीण हँसी में जीवन की इतनी करुणा बिलख रही थी, उसके उस 'पागल' सम्बोधन में दुलार-भरे अपनेपन की इतनी अतुल वैभव-राशि छिपी हुई थी कि मुझसे उस समय और कुछ नहीं कहते बना। उसके उत्तर ने मुझे निरुत्तर बना दिया।

मुझे चुप देख कर उसने पूछा—विजय, तुम क्या चाहते हो, कहो न ?

मैंने बड़े कष्ट से उत्तर दिया—आज्ञा !

"किस बात की ?"

"तुम्हारे साथ इङ्गलैण्ड जाकर पढ़ने की।"

"अपने पिता जी की मर्ज़ी के खिलाफ़ ?"

"हाँ, अब भी अगर वे राज़ी न हो सके।"

"नहीं, हरगिज़ नहीं ; तुम्हें मैं ऐसा करने से रोकना चाहती हूँ विजय !"—उसने दृढ़ता से मेरा विरोध किया—"तुम मेरे साथ वहाँ तक नहीं चल रहे हो और वहाँ से मेरे लौटने तक और भी न जाने कितनी बातें उलट-पुलट हो जायँगी—यह सोच कर मुझे कितना दुःख हो रहा है, मैं बता नहीं सकती। तुम्हारे वहाँ ले चलने की जितनी कोशिशें हो सकती थीं, मेरे बाबू जी ने कीं। मगर भगवान् शायद हम दोनो को जीवन-भर एक-दूसरे से अलग ही रखना चाहते हैं। इसीलिए बचपन से आज तक साथ रह कर भी आज मैं तुमसे दूर चली जा रही हूँ। यही कारण है कि मेरे बाबू जी के बार-बार अनुरोध करने पर भी, इतना समझाने-बुझाने पर भी, तुम्हारे बाबू जी इस बात पर राज़ी नहीं हो रहे हैं कि तुम मेरे साथ इङ्गलैण्ड चलो। उन्होंने प्रतिज्ञा की है कि विलायत से वापस आने पर वे तुम्हें हमारी छाया में भी नहीं आने देंगे, हमें जाति से अलग कर देंगे। मैं जानती हूँ, इसमें उनका रत्ती-भर

दोष नहीं है। यह समाज का दोष है, जिसने ऐसी-ऐसी अन्धी रूढ़ियाँ पाल रक्खी हैं। ऐसी हालत में मैं तुम्हें अपने पिता का अपमान करने को नहीं कह सकती। हरगिज़ इस बात को पसन्द नहीं कर सकती कि तुम उनकी इच्छा पर विजय प्राप्त किए बिना ही वह काम कर बैठो, जिससे लोग तुम्हें घृणा की दृष्टि से देखने लग जायँ। मेरे बाबू जी भी इसे पसन्द नहीं करते। इससे तुम्हारे चरित्र पर धब्बा लगेगा और यह हमारे लिए सबसे बड़े दुःख की बात होगी।"

विमला की माँ बचपन में ही चल बसी थीं। उसने अपने पिता की छाती के नीचे माता का विराट् हृदय पा लिया था। उसके पिता ने उसके लिए फ़क़ीरी अख्तियार कर ली थी। वही उनकी एक निधि थी, जिसे वे प्राणों की तरह पाल रहे थे। स्वाभाविक ही था कि उसके हृदय में पितृ-भक्ति की इतनी ऊँची तरङ्गें उठें। बड़े-बूढ़ों का आदर करना मुझे उसी ने सिखाया था। इस बात में वह मुझसे कहीं बढ़ी-चढ़ी थी। किन्तु इस समय उसका यह आदर्शवाद मुझे अच्छा नहीं लगा। भला अपने उस पिता की इच्छा पर मैं कैसे विजय प्राप्त कर सकता था, जो जाति, बिरादरी, समाज और धर्म की रूढ़ियों के नाम पर मेरी सुकुमार से सुकुमार भावनाएँ कुचल देना सदैव अपना पहला कर्त्तव्य

समझते थे। उसे क्या पता था कि रूढ़ियों के पुजारी किसी के हृदय का आदर करना जानते ही नहीं। उसे इसका अनुभव ही कब हुआ था कि सबके पिता सदैव पिता ही की तरह पेश नहीं आते, कभी-कभी वे वह काम भी कर गुज़रते हैं, जो बड़े-बड़े दुश्मनों के किए भी नहीं होता! ऐसे पिताओं की इच्छा पर विजय प्राप्त करना आग की चिनगारियों का चुम्बन करने से भी बढ़ कर है। यह बात विमला कभी जान ही नहीं सकती थी और मुझे उन दिनों पल-पल पर इसी एक बात का अनुभव हो रहा था। मेरे लिए यह एक ऐसा कठोर सत्य है, जिसे स्वीकार करते हुए आज भी मेरी छाती फटी जाती है। मगर मैं इसे अस्वीकार नहीं कर सकता। उस समय भी मै इसे विमला के आगे अस्वीकार नहीं कर सका। मेरी आँखों में विवशता के आँसू उमड़ आए। मैंने कातर स्वर में व्यक्त किया—थोड़ी देर के लिए तुम 'विमला' से 'विजय' हो जाओ, तब शायद जान सकोगी कि मेरी क्या स्थिति है।

इस बार उसकी भी आँखें भर आई। उसने कहा—तुम्हारी स्थिति का स्पर्श करने के लिए मुझे तुम्हारी आँखें नहीं चाहिए विजय, मेरी आँखो में जितनी ज्योति है, इनमें वस्तु-परख की जितनी शक्ति है, वह सब तुम्हीं से तो पा सकी हूँ! तुम्हारी वेदना का मर्म जानने के लिए मुझे

'विजय' बनने की ज़रूरत नहीं पड़ेगी—मेरे तो रोम-रोम में 'विजय' रमा हुआ है। 'अस्तित्व-लय' के बाद भी क्या कभी 'अस्तित्व-विनिमय' हुआ करता है? मैं तुम्हारी स्थिति पर मन ही मन रो रही हूँ, मगर यह कभी नहीं कहूँगी कि मेरे प्रेम के कारण अथवा ऊँची शिक्षा पाने की लालसा से तुम अपने माँ-बाप का अनादर करो। अपनी सारी आकांक्षाओं में आग लगा कर, अपनी समस्त आशाओं की हत्या करके भी अगर तुम अपने माँ-बाप से 'अपनेपन' की भीख पाते रहोगे तो मैं इसे ही अच्छा समझूँगी। उनकी इच्छा पर विजय पाने के लिए तुम्हें तपस्या करनी पड़ेगी, और उस कठिन तपस्या का समय तुम्हारे आगे आ गया है।

इतनी मर्म-भरी बातों के बाद मैं और क्या कहता, चुप हो रहा। मगर बार-बार पोंछते रहने पर भी मेरी आँखें बरसात की नदियाँ ही बनी रहीं।

उसने फिर कहा—तुम्हारी यह दशा देख कर तो अब यही जी चाहता है कि मैं भी न जाऊँ। मगर बाबू जी जहाज़ का टिकट ख़रीद चुके हैं, इसीलिए उनसे कुछ कहते नहीं बनता।

अभी तक मेरे मन में यही कामना थी कि क्या ही अच्छा हो, अगर विमला भी न जाय, मगर उसकी ये विवशता-भरी बातें सुनते ही मेरी यह स्वार्थ-कामना इस तरह भाग

गई, जिस तरह प्रेम का प्रकाश पड़ते ही हृदय की सारी कालिमा निकल भागती है—मेरे अन्तःकरण में एक नई ज्योति जग गई। मैं बोल उठा—नहीं, मेरे लिए तुम्हारे रुकने की जरूरत नहीं है विमला ! तुम जाओ, न जाओगी तो मुझे और भी कष्ट होगा। मैं वही करने की चेष्टा करूँगा, जिसे तुम मेरे लिए उचित समझती हो। अभी मैं भगवान् के योग्य नहीं हूँ, इसलिए उनकी इच्छा पहचानना मेरे लिए कठिन है। हाँ, तुम्हारी इच्छा के आगे मेरा मस्तक सदैव झुका रहेगा। ऊँचे आदर्शों का अनुकरण बहुत ही कठिन है, किन्तु उनकी उपासना बहुत ही सरल। मैं उपासना से शुरू करता हूँ, वहाँ तक पहुँचने या न पहुँचने की बात नहीं जानता।

इस बार मेरी आँखों में आँसू नहीं थे, वाणी में सचाई का सौन्दर्य और हृदय की दृढ़ता थी। विमला के आदर्शवाद के भीतर अब मुझे एक दुर्लभ सौन्दर्य दिखाई पड़ा। कुछ ही देर पहले जो घूँटें कड़वी मालूम हो रही थीं, वे ही अब अमृत की बूँदें बन गईं। विमला—मेरी प्यारी विमला—मुझे पहले की अपेक्षा सहस्र गुना अधिक सुन्दरी मालूम होने लगी।

मेरी बातें सुन कर उसने कहा—ऐसा करके तुम मेरे प्रेम का आदर करोगे। मगर यह तो बताओ, अब तुम्हारा

क्या करने का विचार है ? एम० ए० में नाम नहीं लिखाओगे ?

"नहीं"—मैंने सिर हिला कर मौन भाषा में जवाब दिया।

"क्यों ?"

"अब पढ़ने की छुट्टी ही कहाँ मिलेगी ?"

"क्यों, बैठे-बैठे करोगे क्या ?"

"सामाजिक रूढ़ियों के विध्वंस की चिन्तना"—कहते हुए एक बार फिर मेरी आँखें डबडबा आईं !

विमला ने करुण स्वर में कहा—देखो विजय, फिर तुम पागलों की तरह रोने लगे ! क्या तुम समझते हो तुम्हारे ये आँसू मेरे कलेजे पर कोई असर ही नहीं पैदा करते ?

मैं सँभल गया। ऐसे ही ऐसे मौक़ों पर सच्चा प्रेम शासक का काम कर जाता है। वह हमें एक हलकी सी ठोकर देकर बड़ी-बड़ी ठोकरों से बचा लेता है।

मैंने कहा—कल तुम्हारा जहाज़ कब खुलेगा ?

उसने कहा—साढ़े दस बजे सवेरे।

मैंने कहा—अच्छा, तो अभी जाता हूँ।

उसने सिर हिला दिया, जिसका अर्थ था—'जाओ !'

२

वहाँ से लौट कर ज्योंही अपने आँगन में पैर रक्खा, त्योंही बाबू जी से भेंट हो गई। वे आँगन से बाहर किसी

काम के लिए कहीं जा रहे थे। मुझे देखते ही रुक गए और व्यङ्ग करते हुए बोले—कहिए, चारों ओर घूम-घूम कर सब से कह आए कि नहीं, कि आपका बाप आदमी नहीं, पिशाच है?

मेरे समूचे शरीर में आग भभक उठी। यह एक ऐसी बात थी, जिसने मेरी साधारण मनुष्यता पर आक्रमण किया। मैंने सतेज होकर उत्तर दिया—क्या आप समझते हैं कि मैं आपके बारे में यही धारणा रखता हूँ?

"इसमें समझने-बूझने की क्या बात है!"—उन्होंने कहा—"यह तो तुम्हारी एक-एक बात से पता चलता है। शीशा लेकर देखो तो सही, इस समय तुम्हारी आँखें गुस्से के मारे कैसी लाल हो रही हैं? और क्या तुमने हरदयाल पण्डित से इसी तरह की बातें नहीं की हैं? उनके सामने तुमने अपने बाप को पिशाच नहीं कहा है?"

पण्डित हरदयाल चौबे का नाम सुन कर मैं तो जल बुझा। पण्डित जी हमारे मुहल्ले के उन चुने हुए लोगों में से थे, जो धर्म और पुण्य के नाम पर दिन-रात अधर्म और पाप ही किया करते हैं। पाप और पाखण्ड ही जिनकी जीवन-वृत्ति हो, ऐसे लोग अगर झूठ न बोलें, घर-घर में, बाप-बेटे में, पति-पत्नी में फूट का बीज बोना न जानें, तो भला उनकी रोटी का क्या प्रबन्ध हो? कुछ लोग पाप की

कमाई खाकर जीते हैं। मगर चौबे जी उन लोगों में से थे, जिनका पेट केवल पाप ही से भर जाता है।

मैंने क्रोध से काँपते हुए कहा—जिसे आप पण्डित समझ कर पूजते हैं, उसे मेरे सामने ले आइए तो मैं उसकी चोटी-चोटी काट कर अलग कर दूँ। जो आदमी इतना सफ़ेद झूठ बोलता है, उसकी बातों पर भी आप विश्वास कर लेते हैं, इसका मुझे अफ़सोस है।

इसके आगे बाबू जी इस विषय पर और कुछ नहीं बोल सके। कदाचित् उन्हें मेरी सतेज और निर्भीक वाणी ने विश्वास दिला दिया कि बात बिलकुल झूठी है। और सचमुच इस बात की कोई बुनियाद भी नहीं थी। बाबू जी की ओर से मेरा मन मैला जरूर हो गया था, मगर मैंने किसी के आगे उसे इस रूप में प्रकट नहीं किया था। मैं समझ गया कि वह हरदयाल पण्डित मेरे इस मनोमालिन्य से अनुचित लाभ उठा रहा है। मन ही मन मैं उस भयानक आदमी से डरा भी बहुत। क्या पता, ऐसे लोग कब क्या कर बैठें।

खैर, बाबू जी उस समय चुपचाप आँगन से बाहर निकल गए और मैं अपने कमरे में जाकर उदास-भाव से बैठ रहा।

माँ ने आकर कहा—बेटा! तुम कुछ दिनों के लिए

नानी के घर चले जाओ। हवा-पानी बदल आओ, तबीयत ठीक हो जायगी।

मैंने आँखों में आँसू भर कर कहा—माँ! मेरा मन इस समय स्वर्ग में भी नहीं लगेगा। मैं अभागा हूँ।

मेरी माँ ने खींच कर मुझे कलेजे से लगा लिया। उनकी आँखो से प्यार का अमृत टपक रहा था। उन्होंने रुँधे हुए स्वर में कहा—तुम इतने अधीर क्यों हो रहे हो बेटा? तुम्हारा मन लगाने के लिए मै अपने प्राणो की बाजी लगा दूँगी। स्वर्ग जाकर मन लगाने की बात तुम्हारे दुश्मनो के मन में भी न समाए। वह आदमी के लिए नहीं बनाया गया है। मेरी इस गोद में भी क्या तुम्हारा मन नहीं लग सकेगा बेटा?

माता की गोद में सिर गाड़ कर मैं बच्चो की तरह फूट-फूट कर रोने लगा। माँ मुझे चूम-चूम कर चुप कराने लगीं और मै उनका प्यार पी-पीकर रोने लगा। रोते ही रोते मेरे मुँह से निकल गया—माँ! मैं तेरा नालायक बेटा हूँ। बाबू जी मेरे हृदय के साथ अत्याचार कर रहे हैं।

"जानती हूँ बेटा!"—मेरी माँ ने जवाब दिया—"उनकी ओर से मै इसका प्रायश्चित्त करूँगी। लेकिन अभी नहीं। तुम्हे अगर मेरे ऊपर विश्वास हो तो मेरे लिए, तुम कुछ दिनो के वास्ते अपने हृदय को पत्थर बना लो। हाँ, बेटा!

तब तक उसे इतना कठोर बना लो कि उसके ऊपर गिरने वाला प्रत्येक अत्याचार चूर-चूर होकर बिखर जाय। क्या तुम ऐसा कर सकोगे बेटा ?"

"कर सकूँगा माँ !"—मैंने उनके चरण छूकर कहा—"तुम आशीर्वाद दे दोगी, तभी कर सकूँगा। मेरा हृदय इस समय जर्जर हो रहा है।"

माँ ने मुझे उठा कर गले लगा लिया और प्यार से कहा—चलो, हाथ-मुँह धोकर कुछ खा लो।

मैं अस्वीकार नहीं कर सका। खाकर आया और बिस्तरे पर पड़ रहा। न जाने चुपके से कब नींद आ गई। आँखें खुलीं तो देखा, सूर्य की किरणें मेरे कमरे में नाच रही थीं।

माँ ने कहा—जाओ बेटा ! नहा-धोकर उन लोगों से मिल आओ। वहाँ से अभी एक आदमी आया था।

मैं नहा-धोकर वहाँ पहुँचा तो देखता हूँ, मेरे बाबू जी भी वहाँ मौजूद हैं। वे उन लोगों से मिलने के लिए नहीं गए थे, इसलिए गए थे कि कहीं मैं भी उन्हीं लोगों के साथ चुपचाप जहाज पर न जा बैठूँ ! वैसी अवस्था में वे क्या करते, पता नहीं। मैं क्षोभ और ग्लानि के मारे मर-सा गया। विमला के पिता जी ने मुझे दौड़ कर गले लगा लिया और मेरे बाबू जी की ओर देखते हुए करुण-स्वर में कहा—देखना भाई, मेरे बचुआ को समझने में भूल मत करना। इसे मैंने बहुत

ज्यादा प्यार करके बिगाड़ दिया है। तुम इसे सुधारने की कोशिश मत करना। यह तुम्हारे वंश का दीपक है, इसे हवा के झोके से न बचाओगे तो पछताना पड़ेगा। इतना इसलिए कह रहा हूँ कि तुम मेरे मित्र हो, भाई हो, तुम्हें इतना कहने का मुझे अधिकार है।

मेरे बाबू जी सिर झुका कर ये बातें सुनते तो रहे, पर उन्हे ये अच्छी नहीं लग रही थीं। मेरे प्रति विमला के पिता का इतना प्यार उन्हें काटे जा रहा था।

विमला आई और उसने कहा—बाबू जी ! समय हो गया है, अब चलना चाहिए न ?

सब लोग वहाँ से उठे और साथ ही साथ स्टेशन तक आए। यहाँ से रेल-द्वारा बन्दरगाह तक पहुँचना था। विमला ने मेरे बाबू जी के चरणों पर सिर रख दिया और मैंने देखा, बाबू जी की आँखो से आँसू की दो-चार बूँदें टपक पड़ी। विमला के बाबू जी ने उन्हे छाती से लगा कर कहा—"भाई, मेरा कहा-सुना माफ करना !" उस समय न जाने कौन सी चोट खाकर मेरे बाबू जी रो पड़े।

विमला ने मेरी ओर एक बार सजल आँखो से देखा और गाड़ी पर जा बैठी। उसके बाबू जी ने गाड़ी पर चढ़ते हुए मेरा हाथ चूम कर कहा—चिट्ठी-पत्री बराबर लिखते रहना बेटा ! अच्छी तरह से रहना।

मैंने गाड़ी पर चढ़ने की चेष्टा करते हुए कहा—चलिए, मैं बन्दरगाह तक पहुँचा आऊँ।

"वहाँ जाकर क्या करोगे?"—कह कर उसी समय बाबू जी ने मेरा हाथ पकड़ कर मुझे पटरी से नीचे खींच लिया। गाड़ी खुल गई।

३

इङ्गलैण्ड पहुँचते ही विमला ने पत्र भेजा। उसमें सिर्फ इतना ही लिखा था—"बाबू जी रास्ते ही में बीमार पड़ गए। अब भी इनकी तबीयत अच्छी नहीं है।"

मैं खबर पाकर काँप उठा। बेचारी विमला अकेली ही किस तरह उनकी सेवा-शुश्रूषा कर सकती होगी। परदेश का मामला है। न कोई जान, न पहचान। किस तरह उसकी कोई मदद करता होगा? इन बातों को सोच-सोच कर मेरा मन विकल हो रहा था। अब मेरा शरीर यहाँ था और प्राण विमला के पास। वह यही चाहता था कि किसी तरह उड़ कर उसके पास जा पहुँचूँ। चिन्ता ने धीरे-धीरे मेरे शरीर में घर कर लिया। मैं देखते ही देखते अधमुआ-सा, बीमार सा हो गया। मेरे पिता जी मेरी अवस्था पर कुढ़ते थे और माँ मुझे देख कर मन ही मन रोया करती थी। पिता जी इसलिए कुढ़ते थे कि मैं वकालत क्यों नहीं पढ़ता, इस तरह घर पर बेकार क्यों बैठा रहता हूँ। उनकी समझ में मेरी बेकारी ही

मुझे बीमार बनाए जा रही थी। और माँ? हाय! उस तपस्विनी को भला मेरी बेकारी क्यों अखरती? वह तो इसलिए रो रही थी कि उसे मेरी बीमारी का कारण मालूम था, फिर भी वह उसका इलाज नहीं कर पाती थी। उसके फूल में एक कीड़ा घुस आया था, जिसे उसने घुसते देखा था, पर अब निकालने का साधन उसके पास नहीं था। और था भी तो वह उसे काम में नहीं ला सकती थी।

धीरे-धीरे इसी तरह दिन बीतने लगे। मेरा जीवन मुझे भार-सा मालूम होने लगा।

एक दिन मैं ज्योंही आँगन से बाहर निकल रहा था, ड्योढ़ी पर तार का चपरासी नजर आया। मैं किसी भावी आशङ्का से काँप उठा। तार खोल कर पढ़ा तो भय ठीक ही निकला। तार लन्दन से आया था। विमला ने लिख भेजा था—"बाबू जी मुझे अकेली छोड़ कर चल बसे। अब मेरे चारों ओर अन्धकार ही अन्धकार है।

तार के अन्तिम शब्द तक पहुँचते ही मैं धड़ाम से गिर पड़ा। आँखें खुलीं तो माँ को अपने पास ही पाया। मुझे तार की बात याद हो आई और मैं माता की गोद में सिर रख कर रोने लगा।

माँ ने वेदना-विह्वल स्वर में मुझे सान्त्वना दी—भगवान् की यही इच्छा थी बेटा, कोई इसमें कर ही क्या सकता है?

मैंने अधीर होकर कहा—माँ, अब मैं विमला को एक बार देखे बिना बच नहीं सकूँगा।

माँ ने समझाया—उसे तार दे दो, वह घर लौट आवे।

मैंने कहा—वह लौट नहीं सकती माँ, नहीं तो मैं उसे बुलाने से बाज़ न आता।

मेरी माँ कुछ बोलना ही चाहती थी कि बाबू जी कमरे में घुस आए और बोले—देख लिया न विलायत जाने का परिणाम? ऐसी जगह जाकर मरे कि जहाँ कोई जलाने वाला भी नहीं मिला। धर्म-विरुद्ध आचरण करने का यही फल मिलता है।

मैं अपने क्रोध को न रोक सका। बोल उठा—आप अपने धर्म को लेकर इस समय मेरे सामने से हट जाइए। जिस मित्र का आपके सिर पर मनों उपकार लदा हुआ है, उसी की मृत्यु पर आप इस तरह की टीका-टिप्पणी करते हैं, यह मैं सह नहीं सकता। जाइए, हरदयाल चौबे के ही आगे आपको इन बातों पर दाद मिलेगी। मुझे इस प्रकार की धर्म-चर्चा से नफ़रत है।

"तो अब तुम इस लायक़ हो गए कि मुझे घर से निकाल बाहर करो!"—कह कर बाबू जी भूखे शेर की तरह मुझ पर टूट पड़े। बीच में मेरी माँ न पड़ जातीं तो शायद खा ही डालते।

मैं भी उनके व्यवहारों से आजिज आ गया था। बिना कोई शील-सङ्कोच दिखाए ही कह उठा—तो क्या आप चाहते हैं कि मैं ही यहाँ से चला जाऊँ ?

"जाओ चाहे मरो, मुझे तुम्हारी सूरत से घृणा हो गई है।"

इस बार मेरे बदले मेरी माँ ने उत्तर दिया। माँ के आगे उसके बेटे को कोई मरने को कहे, तो वह प्रलय मचा देती है। उसने क्रोध-कम्पित स्वर में कहा—यह मर जायगा तो फिर घृणा किसकी सूरत से करोगे ? दुनिया भर के लोगों को तो तुम सदैव प्यार ही की निगाह से देखते रहते हो, कोई ऐसी भी तो सूरत रहे जिससे और कुछ नहीं तो तुम्हें घृणा ही हुआ करे।

इस संयत-व्यङ्ग का मर्म समझ कर पिता जी कुछ झेंप से गए। फिर भी उन्होंने कहा—तुम्हीं ने तो इसे सिर चढ़ा रक्खा है, तभी तो इस तरह की बातें करते इसे शर्म नहीं आती। मैंने क्या कहा, जो तुम इस तरह लाल-पीली हुई जा रही हो ?

माँ ने उसी तरह अश्रु-भरे शब्दों में, किन्तु गम्भीरता से, जवाब दिया—मैंने इसे सिर इसलिए चढ़ा रक्खा है कि यह लात से रौंदने की चीज नहीं है। इसकी हया-शर्म में तो तुमने आग लगा दी। और भी कभी इसके मुँह से इस

तरह की बातें सुनते थे ? देखती हूँ, जब कभी आँगन में आते हो, इसे एक ठेस लगाए बिना नहीं जाते। मालूम होता है, इसको मार ही कर तुम्हारे धर्म की प्यास बुझेगी !

"तो क्या इसे विधर्मी हो जाने दूँ ?"

"मैं नहीं जानती विधर्मी होना किसे कहते हैं !"—मेरी माँ ने जवाब दिया—"हाँ, इतना जानती हूँ कि जो विलायत जाता है, वह आदमी से जानवर होकर नहीं लौटता। न वह ऐसा ही होकर लौटता है कि हम उसे छू न सकें। विजय अगर विलायत से विधर्मी होकर भी लौटेगा तो मैं उसे अपना ही बेटा मानूँगी, वह मेरे लिए कुछ और नहीं हो जायगा। जिस तरह तुम धर्म के नाम पर अपने इकलौते पुत्र का बलिदान कर सकते हो, उसी तरह मैं अपने इकलौते पुत्र के लिए महान् से महान् धर्म को ठुकरा सकती हूँ।"

"पुत्र के लिए महान् से महान् धर्म को ठुकराओगी क्यों नहीं !"—दाँत पीस कर मेरे बाबू जी ने कहा—"तुम भी दो अक्षर लिखना-पढ़ना जो सीख गई हो ! अच्छी बात है। जाओ, जो करना चाहो, करो। सिर पर पड़ेगा, तब रोओगी।"

"हाँ, सिर पर पड़ेगा तब देख लूँगी !"—माँ ने वीरता और दर्प के साथ जवाब दिया—"जाओ, तुम अपना धर्म बचाओ, मैं अपने पुत्र को बचाऊँगी।"

बाबू जी ग़ुस्से के मारे कमरे से बाहर निकल गए। आज पहले ही पहल मैंने अपनी माँ का तेज देखा। पहली ही बार मुझे मालूम हुआ कि उसके हृदय के भाव कितने व्यापक, कितने मधुर और कितने बलवान् हैं। मेरी आँखों से आनन्द की धारा बह चली। माँ ने आँचल से मेरे आँसू पोछ कर कहा—बेटा, अब तुम निश्चिन्त हो जाओ। मैं तुम्हें दो हज़ार रुपए देती हूँ। जाओ, ख़ुशी से विलायत हो आओ। मैं बरस-दो बरस तक, यह सुन-सुन कर कि तुम अच्छी तरह से हो, तुम्हारा वियोग-दुःख सह लूँगी; मगर अपनी आँखों के सामने तुम्हारी यह अवस्था अब मुझसे देखी न जायगी। चूल्हे में जाय धरम और भाड़ में जायँ समाज के लोग, मुझे इनसे कुछ मतलब नहीं। मेरे समाज और धर्म तुम्हीं हो। जाओ, सुख से लौट आओ।

माँ का यह त्याग और साहस देख कर मैं दङ्ग रह गया। इतनी दूर तक वह मेरे लिए त्याग कर सकती है, इसका मुझे गुमान भी नहीं था। मैंने पुलकित होकर पूछा—तुम रुपए कहाँ से दोगी माँ?

"रुपए?"—मेरी माँ ने हँस कर कहा—"बहू के लिए मैंने गहने बनवाने को रुपए बटोर रक्खे हैं कि नहीं? उन्हीं में से तब तक उधार ले लूँगी।"

मै लजा गया। साथ ही मेरे चेहरे की प्रसन्नता उद्दीप्त

हो उठी। सहसा मेरे हृदय में माता के इस अपूर्व त्याग की एक मीठी-सी ठेस लगी और मैं थोड़ी देर तक मौन रहने के बाद बोल उठा—नहीं माँ, अब मैं नहीं जाऊँगा।

"नहीं, बेटा! अब तुम्हें जरूर जाना पड़ेगा। आज मैं तुम्हारे बाप की ओर से प्रायश्चित्त करने बैठी हूँ। आरम्भ ही में विघ्न मत उपस्थित करो।"

"मेरे वहाँ जाने से तुम्हें अपार कष्ट होगा माँ!"

"मैं उसे सब से बड़ा सुख समझूँगी बेटा!"

"माँ"—कह कर मैं एक बार फिर रो पड़ा। यह मेरे आनन्द और उल्लास का रोना था!

"बेटा!"—कह कर माँ ने मुझे छाती से लगा लिया। वह आँचल से कभी मेरा और कभी अपना आँसू पोंछने लगी।

उसके तीसरे ही दिन उसने मुझे प्रेमपूर्वक विदा किया।

४

विमला को मैंने अपने आने की सूचना नहीं दी थी। एकाएक मुझे अपने सामने देख वह कुछ देर तक खोई सी खड़ी रही। फिर तो दौड़ कर मेरे गले से चिपक गई और लगी फूट-फूट कर रोने। जीवन में पहली ही दफा मैंने उसे इतनी कातरता से रोते देखा था। बेचारी विदेश में

आकर अनाथिनी हो गई थी। रुपए-पैसे की तो कमी नहीं थी, कमी थी स्वजनों की। अपने बाप की वह लाड़िली बेटी थी। उनका वियोग-दुःख उसके लिए असह्य था। साधारणतः उसे रोने की आदत ही नही थी। दुःखो को दबा देना उसे खूब आता था। लेकिन इस बार उसका सारा धैर्य जाता रहा। यह ऐसी दारुण चोट थी, जिसका असर उसके मर्मस्थल पर हुआ। वह बहुत ही दुबली-पतली और बीमार-सी हो गई थी। करुणा की वह जीती-जागती प्रतिमा जब मुझसे लिपट कर उस तरह रोने लगी, तब मैं उसे किसी तरह भी चुप नहीं कर सका। चुप करता भी कैसे? यहाँ खुद ही रोने से फ़ुरसत नही थी। पेट भर रो लेने के बाद जब दोनों शान्त होकर बैठ गए, तब उसने कहा—बाबू जी मरते दम तक केवल तुम्ही को याद करते रहे।

"और मैं अभागा सब दिन तो उनके साथ रहा"—आँसू पोछते हुए मैंने कहा—"सिर्फ उसी समय उनके दर्शन नहीं नसीब हुए, जब वे मुझे बार-बार याद कर रहे होंगे।"

"हाँ, रह-रह कर नाम लिया करते थे।"

"उन्हे हो क्या गया था?"

"ज्वर चढ़ आया था। पहले तो वह साधारण रहा, फिर एकाएक ऐसा बढ़ा कि उन्हें समाप्त करके ही उतरा। वह ज्वर नहीं, काल था।"

"तुम्हारे और सब प्रवन्ध तो ठीक हैं न ? किसी तरह की तकलीफ़ तो नहीं है ?"

"और सब बातें ठीक हैं। अच्छा, तुम अपना हाल तो बताओ, इतने दुबले-पतले क्यों हो गए हो ? यहाँ आने के लिए सत्याग्रह ठान रक्खा था क्या ?"

"हाँ, बात तो कुछ ऐसी ही थी"—मैंने माथा खुजलाते हुए जवाब दिया—"लेकिन अभी तो यात्रा का थका-माँदा हूँ। शायद इसीसे कुछ चेहरा उतर गया हो।"

"आखिर, तुम यहाँ आ कैसे गए ?"

"माँ की कृपा से और तुम्हारे × × ×"

"ज़रूर तुम अपने पिता जी को रुष्ट करके आए होगे"—उसने मेरी बात पूरी होने के पहले ही अपना अनुमान बता दिया।

"पिता जी से इस सम्बन्ध में मेरी कोई बातचीत ही नहीं हुई"—मैंने उत्तर दिया—"मुझे तो माँ ने तुम्हारे स्नेह-वश यहाँ भेजा है।"

इस बार वह अत्यन्त पुलकित होकर बोली—अच्छा किया, तुम किसी तरह आ तो गए। बाबू जी के अभाव में मुझे सारी दुनिया ही सूनी मालूम होने लगी थी। आज उसमें अब कुछ देख रही हूँ, और उसे देखते हुए मेरे जीवन का स्वाद भी कुछ मीठा होने लगा है। मेरा जी इतना उचट

गया था कि अगर तुम न आ जाते तो शायद मैं यहाँ से शीघ्र स्वदेश लौट जाती। चलो, दोनों जने मिल कर खूब पढ़ेंगे।

"मगर तुम्हारा स्वास्थ्य बहुत गिर गया है!"—मैंने स्नेह-कातर स्वर में कहा—"कुछ अधिक विश्राम करने की आवश्यकता है।"

"अच्छा चलो, पहले तुम्हें जल-पान तो करा दूँ, नहीं तो कहोगे केवल बातों ही से सत्कार कर रही है!"—कह कर वह मुझे जल-पान वाले कमरे में ले गई।

बहुत दिनो के बाद उस दिन हम दोनों ने एक ही साथ बैठ कर जल-पान किया। वह जीवन की एक अनमोल मधुरता थी, जिसकी स्मृति आज उससे भी अधिक मीठी मालूम हो रही है।

५

पूरे तीन साल बाद हम लोग, सारे यूरोप की यात्रा समाप्त करके, स्वदेश लौट आए। आँगन में पैर रखते ही माँ ने हम दोनों को एक साथ ही गले लगा लिया। विमला उसी समय बिदा होकर अपने घर चली गई। मैं अपने यहाँ रह गया। विमला के आगे समाज का कोई बन्धन नहीं था, क्योंकि वह अकेली ही थी। मगर मैं अपने घर में कैसे रह सकता था? समूची बिरादरी में मेरे आने का शोर मच गया। मेरे बाबू जी के प्राण सङ्कट में पड़ गए।

जब मैंने पैर छूकर उन्हें प्रणाम किया, तब उनकी आँखें तो ज़रूर सजल हो आईं, लेकिन हृदय पर समाज का आतङ्क पूर्ण-रूप से छाया ही रहा।

उन्होंने क्षुब्ध होकर पूछा—रहने का कहाँ विचार किया है?

अभी मैंने पैर की धूल तक नहीं झाड़ी थी और मेरे कलेजे में प्रश्न का यह तीखा शूल चुभा दिया गया। मैं अपने आँगन में खड़ा था, और मेरे पिता जी मुझसे पूछ रहे थे कि मैंने रहने का कहाँ निश्चय किया है। मानो उस घर में रहने से मैं इन्कार कर रहा था। क्षोभ के मारे मैं चुप-चाप खड़ा रहा।

बाबू जी ने कहा—इस तरह चुप्पी साधने से तो काम चलेगा नहीं। समाज और धर्म का मामला है। अपने रहने का स्थान ठीक कर लो।

मैंने कहा—अभी चला जाऊँ?

बाबू जी—यह मैं कहाँ कह रहा हूँ!

"आख़िर आपके कहने का मतलब तो यही है न!"—मैंने नम्रता से पूछा—"कि मैं आपके साथ नहीं रह सकता?"

"यह तो मैं तुमसे विलायत जाने के बहुत ही पहले कह चुका हूँ!"—बाबू जी ने कहा—"विधर्मी के साथ रह कर मैं अपना लोक-परलोक तो न बिगाड़ सकूँगा।"

"मगर मैं विधर्मी तो हुआ नहीं हूँ!"

"दुनिया जानती है कि विलायत जाकर किसी की जात-पाँत नहीं बची रहती। पता नहीं, तुम्हीं कैसे इतने पाक-साफ़ रह गए!"

"अगर यही बात है, तब तो सचमुच मैं इस समाज को प्रणाम करता हूँ—लीजिए मैं चला!"—कह कर मैंने क़दम बढ़ाया ही था कि मेरी माँ ने दौड़ कर मेरा हाथ पकड़ लिया।

मैंने सजल स्वर में कहा—मुझे जाने दो माँ! मैं प्रति दिन तुम्हारे चरण छू जाया करूँगा। बाबू जी को मेरी छाया से क्लेश पहुँचने लगा है, क्योंकि उनकी समझ में मैं विधर्मी हो गया हूँ।

"मगर इस घर में मेरा भी तो कुछ अधिकार है बेटा!"—मेरी माँ ने गम्भीरता से कहा—"इसके आधे हिस्से में हम दोनों माँ-बेटे रहेंगे और आधा हिस्सा तुम्हारे धर्मप्राण बाबू जी का रहेगा। उनके हिस्से में धर्म है और मेरे हिस्से में पुत्र!"

वही हुआ। माँ ने सचमुच आँगन के दो हिस्से करवा दिए। बीचोबीच एक लम्बी दीवार खड़ी कर दी गई।

यह सब तो हुआ, लेकिन मुझे यह अच्छा नहीं मालूम होता था। मेरी माँ को यहाँ अनेक कष्ट थे। मुहल्ले

वालों ने पण्डित हरदयाल चौबे की कृपा से मेरी माँ को आग-पानी तक देना भी बन्द कर दिया था। एक तरह से मुझे लोग अछूत ही समझने लगे थे। मैं अपना और अपनी माँ का यह अपमान नहीं सह सका। एक दिन विमला मेरी माँ से मिलने आई। उसे भी इन बातों का पता चल गया था। मैंने भी चर्चा छेड़ दी। उसने कहा—मेरा तो समूचा घर ख़ाली ही पड़ा रहता है। वहाँ क्या सुविधा नहीं होगी?

मैंने भाव-भरी दृष्टि से माँ की ओर देखा। उसने कहा—क्यों बेटा! वहीं चलोगे?

मैंने कहा—हाँ माँ! इस नरक से दूर ही हट कर रहने में सुख है। यहाँ तो मनुष्यता का कोई नाम-निशान भी नहीं दिखाई पड़ता। चलो, वहीं शान्ति और स्वच्छन्दता से रहेंगे।

शाम को हम लोग विमला के घर में पहुँच गए। अपना घर छोड़ते समय मेरी माँ फूट-फूट कर रोई। मगर उसका मूल्य ही क्या था? मुझे भी वह घर छोड़ते हुए कम दुःख नहीं हुआ, किन्तु मैं रोया नहीं। रोकर ही क्या करता? उसे तो बाबू जी जान-बूझ कर मसान बनाने पर तुले हुए थे!

६

"तुमने भी कुछ सुना है बेटा?"—मेरी माँ ने घर आते ही उस दिन बड़ी उत्सुकता से पूछा।

"नहीं माँ! क्या कोई नई बात है?"—मैंने जवाब दिया।

"सुनती हूँ, तुम्हारे बाबू जी तुम्हारे लिए नई अम्माँ ले आए हैं।"

"क्या?"—मैंने आश्चर्य से चौंक कर पूछा।

"तुम्हारे बाबू जी ने दूसरा विवाह कर लिया है।"

"दूसरा विवाह कर लिया?"

"हाँ, सुनती तो हूँ!"—कह कर मेरी माँ उदास हो गई।

मैं उसी समय इस बात का पता लगाने को चल पड़ा। वहाँ पहुँच कर देखता हूँ, दरवाजे पर बैठ कर पण्डित हरदयाल जी चौबे मेरे बाबू जी के साथ खूब हँस-हँस कर बातें कर रहे हैं और पान चबा रहे हैं। मुझे देखते ही बाबू जी की आँखें नीची हो गईं। चौबे जी की भी सुर्खी जाती रही।

मैंने बाबू जी के चरण छुए और लाल धोती देख कर उनसे, बिना किसी सङ्कोच के, साहसपूर्वक पूछा—क्या मैं नई अम्माँ जी को एक बार देख सकता हूँ?

मेरे बाबू जी के माथे पर पसीना आ गया। वे तो कुछ जवाब दे नहीं सके, बीच ही में बोल उठे पण्डित हरदयाल चौबे। उन्होंने दाँत निपोड़ कर हँसते हुए कहा—भला

अम्माँ को देखने के लिए बाप से पूछने की क्या जरूरत है ? यह बात विलायत से सीख कर आए हैं क्या बाबू जी ?

मेरे शरीर में आग लग गई। मैंने कहा—विलायत में तो आप-जैसे बेहूदे रहते नहीं, जो ये बातें सिखा सकें। इन्हें तो आप ही लोगों की कृपा से सीख सकूँगा।

मैंने जान-बूझ कर उसे गाली दी। मुझे मालूम हो गया था कि उसी शैतान ने बाबू जी को विवाह के लिए उत्तेजित किया और अन्त में उसे पूरा ही कराके छोड़ा। मुझे मालूम था कि मुहल्ले भर में जितने अनर्थ होते हैं, उन सबका सूत्रपात करने वाला वही पाखण्डी ब्राह्मण है। इसीलिए मैंने इस प्रकार के अशिष्ट शब्दों का प्रयोग किया कि वह गालियाँ खाकर गालियाँ बकने लगे और मैं उसे भरपूर पीट कर अपने दिल की आग बुझा सकूँ। पर निशान ठीक बैठा नहीं। बातों में पूरी गरमी नहीं आ पाई। उसने कहा—जरा सँभल कर बातें करना सीखो।

मैंने कहा—सँभल कर बातें करना सीखूँ ? और तुम्हारे लिए ? चुपचाप सामने से हट जाओ, नहीं तो पुलिस के हवाले किए जाओगे ; मैं जानता हूँ दिन-रात तुम कौन-कौन से काम किया करते हो ! खबरदार, जो फिर कभी मैंने इस दरवाजे पर तेरी सूरत देखी तो होश ठिकाने कर दूँगा।

पुलिस का नाम मैंने योंही ले लिया था। पर उसी भय

से वह कुछ और न बोल सका। भीगी बिल्ली की तरह वहाँ से चुपचाप चला गया। उसे मालूम हो गया कि मैं उसकी सारी करतूतों से वाक़िफ़ हूँ। इस बात ने उसे और भी दहला दिया। पापी अपने पापों से नहीं, पापों की पोल खुलने से डरते हैं।

बाबू जी उसी तरह सिर झुकाए बैठे थे। मैंने अब अपने क्रोध के भावों को बलपूर्वक दबाते हुए, यथाशक्ति अपनी बातों में नम्रता लाते हुए, उनसे पूछा—आपको यह क्या सूझी?

बाबू जी ने कहा—आख़िर, घर-गिरस्ती सँभालने के लिए मैं दूसरा कौन सा उपाय करता?

"क्यों? मेरी माँ क्या मर गई थी?"

"मेरे लिए सभी मर गए।"

"तो आप ही क्यों जीते रहे? कहीं चुल्लू भर पानी नहीं मिला?"

बाबू जी ने सतेज होकर कहा—हट जाओ मेरे सामने से, नहीं तो अनर्थ कर डालूँगा। मुझे गालियाँ देने आए हो? तुमसे क्या मतलब? मेरा जो मन चाहेगा, करूँगा। किसी से कुछ कहने जाता हूँ? विवाह नहीं करता तो क्या संन्यासी बन कर घर-द्वार छोड़ देता?

"अच्छी बात है"—कह कर मैंने दोनों हाथ जोड़ते हुए

उनसे निवेदन किया—"मुझसे बड़ी भूल हो गई। क्षमा कीजिएगा, आपने बहुत ही अच्छा किया। पण्डित हरदयाल जीते रहेंगे तो आपको इस तरह के यश की कमी न रहेगी।"

"जब अपना आदमी दग़ा दे तो दूसरों की भी छाँह न पकड़ें, यह कैसे हो सकता है?"—मेरे बाबू जी ने जवाब दिया—"हरदयाल की कृपा न होती तो आज अपने हाथ से भोजन बनाने का भी कष्ट दूर नहीं होता। तुमसे तो मेरे लिए वही अच्छा है, और कुछ नहीं तो अपने आदमी की तरह हमेशा हिला-मिला तो रहता है।"

बाबू जी की इस औंधी बुद्धि पर मुझे दया आ गई। मैं सचमुच रो पड़ा। उनसे केवल इतना ही कह कर चल दिया—भगवान् ही आपकी रक्षा करें!

वहाँ से चला तो, पर मेरे क़दम आगे नहीं बढ़ते थे। यही सोच रहा था कि किस तरह माँ के आगे मैं यह कठोर सत्य उपस्थित कर सकूँगा? किस तरह उसे बता सकूँगा कि सचमुच मेरे पचपन वर्ष के बूढ़े बाप ने एक बालिका के साथ ब्याह किया है? क्षोभ, ग्लानि, सन्ताप और रोष के मारे मैं व्याकुल हो उठा। उस समय यही इच्छा हुई कि अपने को किसी ऐसी जगह में जाकर छिपा दूँ, जहाँ मुझे कोई देख न सके। धरती के भीतर समा जाने की आवश्यकता जीवन में पहले-पहल उसी दिन हुई!

माँ के पास पहुँच कर मैं कुछ बोल न सका। मुझे देखते ही वह सारी बातें समझ गई। उस समय उसके आँसू नहीं बरसे, एक अद्भुत् शान्ति और गम्भीरता की ज्योति से उसका समस्त मुख-मण्डल जगमगा उठा।

७

आखिर वह दिन भी आ ही गया। मेरी माँ ने विमला के साथ मेरा व्याह कर दिया। वह एक गर्ल्स-कॉलेज की प्रधान अध्यापिका हो गई और मैं हो गया एक कॉलेज में अङ्गरेज़ी साहित्य का प्रधान प्रोफ़ेसर। बड़े सुख से समय बीतने लगा।

सुख की सारी महत्ता ही चली जाय, अगर उसके भीतर किसी दुःख का प्रवेश न हो। हम लोगो के सुख में भी एक दुःख था। और वह यही कि कभी-कभी मेरी माँ बहुत ही उदास हो जाया करती थी, उसे रह-रह कर बाबू जी की दुरवस्था पर दया आती थी। मैं स्वयं कभी-कभी उनकी बात सोच कर बहुत ही विकल हो उठता था। मगर न मैं ही कुछ कर सकता था, न मेरी माँ ही।

इसी तरह दिन बीतते-बीतते समूचा साल खतम हो गया। एक दिन मैं कॉलेज जाने की तैयारी कर ही रहा था कि इतने में माँ ने आकर कहा—उधर से एक आदमी आया था, सुनती हूँ, बड़ी-बड़ी बातें हो गई हैं। ज़रा देख आओगे?

मैंने घबरा कर पूछा—किधर से आदमी आया था? बाबू जी के मुहल्ले की ओर से?

"हाँ, सुनती हूँ, तुम्हारी नई अम्माँ उनके घर से निकल भागीं और वे खाट पर पड़े हैं।"

मैंने कलेजा थाम कर पूछा—यह कब?

माँ ने उतावली के साथ कहा—जाओ, जरा पता तो लगाओ कि बात क्या है।

मैं उसी दम बाबू जी के घर पहुँचा। वहाँ जाकर देखा तो वे हैजे का शिकार बन कर बेतरह तड़प रहे हैं। उनके चारों ओर गन्दगी पड़ी थी। मालूम होता था, वे रात ही से इसी तरह पड़े हुए थे। कोई देखने भालने वाला नहीं, कोई सेवा-शुश्रूषा करने वाला नहीं। मैंने जल्दी से डॉक्टर बुलाया और उनकी चिकित्सा शुरू करवाई। स्वयं उनके कमरे और बिस्तरे की गन्दगी धोई। उनकी दवा-दारू का पूरा प्रबन्ध करके मैं उन्हीं के पास बैठ गया। दिन भर मैं उनकी सेवा में लगा रहा। सन्ध्या-समय जब मेरी माँ और विमला पहुँच गईं, तब मैं इस बात का पता लगाने चला कि आखिर वे (मेरी नई अम्माँ) गईं कहाँ। उनका मायका वहाँ से दो-तीन मील पर था। वहाँ से भी आदमी लौट आया और बोला कि वे वहाँ नहीं गई हैं।

अब मेरे हृदय में धड़कन शुरू हो गई। मैं समझ गया

कि वे केवल बाबू जी की बीमारी के ही डर से नहीं भागी हैं, उनके भागने का मतलब कुछ और है। मैंने मुहल्ले में घूम कर पता लगाया तो मालूम हुआ कि मेरे बाबू जी के परम प्रिय मित्र पं० हरदयाल चौबे भी ग़ायब हैं। न जाने क्यों मुझे दृढ़ विश्वास हो गया कि इस शैतानी का कारण भी वही है! और सचमुच बात भी ठीक निकली। उसी दिन से किसी ने उनकी सूरत नहीं देखी और न अभी तक मेरी उन नई अम्माँ का ही पता चला।

दो दिन तक तो बाबू जी में बातें करने की ताक़त नहीं थी। तीसरे दिन उन्होंने धीरे-धीरे बोलना शुरू किया। उनकी बातों से मालूम होता था कि वे भीतर ही भीतर अपनी करनी पर बहुत ही लज्जित और दुखित थे।

मेरी माँ उनकी बातों का कोई जवाब नहीं देती थी। उनका काम मौन-भाव से दिन-रात सेवा करना था। मैं कभी-कभी उनसे बातचीत कर लेता था और विमला उनके पास से कभी हटती ही नहीं थी।

भरपूर सेवा-शुश्रूषा करते हुए पूरे दस दिन बीते, तब कहीं जाकर बाबू जी खाट पर से उठे।

जब वे चलने-फिरने लगे, तब एक-एक करके हम लोग अपनी जगह लौट गए। जाते समय बाबू जी ने किसी से भी कुछ नहीं कहा। बीमारी से उठने के बाद वे बहुत ही

गम्भीर हो गए थे। आपदाओं की ज्वाला मनुष्य के हृदय का सारा मल जला देती है—बाबू जी को देखने से यही मालूम होता था।

८

वहाँ से लौटने के दो ही तीन दिन बाद क़रीब दस बजे का वक़्त था। रविवार के कारण छुट्टी थी ही। मैं निश्चिन्त होकर विमला के साथ बातें कर रहा था। इसी समय सहसा बाबू जी की आवाज़ सुन कर चौंक उठा। वे कातर वाणी में किसी से कह रहे थे—मेरा अपराध क्षमा करो, मैंने तुम्हारे साथ बड़ा अन्याय किया है।

कमरे से झाँक कर देखा तो बाहर बरामदे में बाबू जी मेरी माँ के चरणों पर झुके हुए थे और माँ उन्हें दोनों हाथों से पकड़ कर उठा रही थी। मैं उसी जगह खड़ा रह गया, आगे नहीं बढ़ा।

बाबू जी ने फिर कहा—मुझे क्षमा न करोगी?

इस बार मेरी माँ उनके चरणों पर गिर पड़ी और रोती हुई बोली—माफ़ी तो मुझे माँगनी है। मैंने तुम्हें न जाने कितने कष्ट पहुँचाए।

बाबू जी ने मेरी माँ को उठाते हुए कहा—तुमने मेरी आँखें खोल दीं, मैं अन्धा हो गया था!

माँ ने कहा—मैं तुम्हारी दासी हूँ, कहो, क्या आज्ञा है?

"हिम्मत तो नहीं होती"—बाबू जी ने कहा—"मगर मान जाओ, तो यही कहता हूँ कि अब सब लोग वहीं चल कर रहो।"

"यह बात अपने बेटे-पतोहू से कहो"—यह कह कर माँ उन्हें मेरे कमरे की ओर लाने लगी। मेरी छाती धक्-धक् करने लगी।

बाबू जी लपकते हुए आकर मेरे गले से लग गए और स्नेह-गद्गद स्वर में बोले—बेटा! बहू जी से कहो, मुझे माफ कर दें—मैं तुमसे नहीं, उन्हीं से माफ़ी माँगना चाहता हूँ।

इसी समय विमला भी निकल आई और अपने ससुर के पैरों पर गिर पड़ी। थोड़ी देर के लिए वहाँ स्नेह और करुणा की धारा उमड़ पड़ी। वह धारा कितनी निर्मल थी, कितनी पवित्र।

बाबू जी ने आनन्द-गद्गद स्वर में कहा—इस बुड्ढे को कुछ खिला दो बहू! आज दो शाम से कुछ खाने को नहीं मिला है।

विमला दौड़ कर रसोई-घर में चली गई। थोड़ी ही देर में हम दोनों भी वहीं जाकर बैठ गए। बहुत दिनों बाद बाबू जी के साथ बैठ कर भोजन करने का सौभाग्य मिला था। मैं आनन्द-विभोर हो गया।

मेरी माँ की खुशी का ठिकाना नहीं था। उसने बाबू जी से दिल्लगी करते हुए कहा—देखा, अन्त में किसकी विजय हुई ?

बाबू जी ने जवाब दिया—लेकिन सच कहना, तुम्हारी विजय भी क्या उतनी ही मधुर है जितनी मेरी यह पराजय ?

हम सब लोग एक साथ ही हँस पड़े !

अविवाहिता

अविवाहिता

यदेव इस बात पर अड़ा हुआ था कि जब तक उसका विद्यार्थी-जीवन-समाप्त न हो जाय, वह ब्याह न करेगा। अभी [illegible] एम० ए० पास करने में दो साल की देरी थी और उसके बूढ़े माँ-बाप अधीर हो उठे थे। उन्हें ऐसा मालूम हो रहा था, जैसे मरने के पहले वे बहू का मुँह न देख सकेंगे। उनके विश्वास की इस दुर्बलता का कारण भी था। बात असल यह थी कि उनके घर और कोई था नहीं, और जयदेव अपने स्कूल-जीवन से ही ब्याह की अवधि बढ़ाता चला आ रहा था। इन्ट्रेन्स से एफ़० ए०, एफ़० ए० से बी० ए०, और अब बी० ए० से एम० ए० की सीमा तक पहुँचते-पहुँचते वह अपनी तीक्ष्ण अस्वीकृति से कई बार उनकी कोमल अभिलाषा को घायल कर चुका था। अब उस घाव की टीस बहुत बढ़ गई थी, उनका अरमान तड़प रहा था। उन्होंने कातर स्वर में कहा—बेटा जयदेव! क्या हम लोग मर जायँगे तब ब्याह करोगे?

माँ-बाप की इस मिली हुई कातरता ने उसे अस्थिर बना दिया। उसकी आँखें भर आईं और वह माँ की ओर देखता हुआ बोला—"नहीं, ऐसा क्यों होगा माँ?" फिर पिता की ओर देख कर बोला—"दो ही वर्ष की तो बात है बाबू जी, थोड़ा और नहीं ठहर सकते क्या?"

बूढ़े शिवदयाल मिश्र ने आँखों में आँसू भर कर जवाब दिया—ठहरना तो बहुत दिनों तक चाहता हूँ बेटा, पर ठहर सकूँगा या नहीं, कौन जानता है? पका आम बन रहा हूँ, न जाने कब टपक पड़ूँ! अपनी माँ की ओर देखो बेटा, बहू बिना उसे कितना कष्ट हो रहा है।

जयदेव कुछ जवाब न देकर सिर झुकाए चुपचाप खड़ा रहा। उसकी गम्भीर नीरवता के कारण एक दारुण हलचल मची हुई थी!

उसकी चुप्पी को स्वीकृति का आभास समझ कर शिवदयाल बोले—तो क्या कहते हो बेटा, उन्हें वचन दे दूँ? बेचारे दो दिनों से दरवाज़े पर हाथ जोड़े बैठे हैं। उनकी विनती, उनका आग्रह और उनकी अवस्था देख कर, मैं लाज से मरा जा रहा हूँ।

"ये लोग हैं कौन?"—जयदेव ने उसी तरह सिर झुकाए हुए पूछा।

"ये लोग बँसवाड़ी गाँव के कुलीन ब्राह्मण हैं। जिनकी

कन्या की ओर से बातचीत करने आए हैं, उनका नाम बलराम पाठक है! घराना अच्छा है, सुनता हूँ लड़की भी बड़ी अच्छी है!"—शिवदयाल ने आशा की थोड़ी सी ज्योति पाकर बड़े उत्साह के साथ जवाब दिया।

जयदेव कुछ देर तक चुप रहा। फिर सिर उठा कर, बिना किसी प्रकार का सङ्कोच दिखाए, बोला—जब आप लोग किसी तरह नहीं मानते तो मैं भी अब अपने हठ से आप लोगों का दिल नहीं दुखाना चाहता। पर इसके साथ ही मैं आप लोगों के आगे दो शर्तें रखना चाहता हूँ। वे शर्तें, चाहे जैसे हो, मञ्जूर करनी होंगी।

"तुम जो-जो चाहोगे वही होगा बेटा!"—प्रसन्नता से उछल कर जयदेव की माँ बोल उठीं।

"होगा क्यों नहीं?"—उसके पिता जी भी बोल उठे—"बताओ, तुम्हारी दोनों शर्तें क्या हैं?"

"पहली तो यह"—जयदेव ने गला साफ करते हुए कहा—"कि आप लोग कन्या के पिता से दहेज की प्रतिज्ञा न करावें, उनसे जितना देते बनेगा, विवाह हो जाने पर उपहार-स्वरूप स्वयं दे देंगे। दूसरी शर्त यह है कि विवाह के पहले मैं स्वयं अपनी आँखों से कन्या को देख लूँगा। अगर ये दोनों शर्तें मञ्जूर हों तो मुझे आप लोगों का प्रस्ताव स्वीकृत है।"

शिवदयाल ने कुछ उदास होकर कहा—रुपए-पैसे की

तो मैं बात ही नहीं करता बेटा ! न मुझे इसकी कमी है, न चाह। दहेज की प्रथा से मुझे खुद भी घृणा है। पर कन्या देखने की बात लोक-लाज से सम्बन्ध रखती है। लोग इसे अच्छा न समझेंगे और न शायद कन्या-पक्ष वाले ही इस पर राजी होंगे।

"तो ऐसा हुए बिना मैं भी ब्याह नहीं कर सकता !"—जयदेव ने बड़ी दृढ़ता से जवाब दिया—"ऐसी लोक-लाज को मैं पहले तोड़ूँगा, जो वैवाहिक जीवन और सुख के बीच में दीवार बन कर खड़ी रहती है।"

पिता किसी गम्भीर चिन्ता में पड़ गए और माता ने दुलार से कहा—लड़की को अच्छी तरह देखे बिना तो ब्याह हो ही नहीं सकता बेटा! मगर उसे देखने के लिए तुम्हारे जाने की क्या जरूरत है ? यह बात ठीक नहीं होगी ! हाँ, कन्या-निरीक्षण के लिए तुम अपने विश्वासी मित्रों में से, जिनको-जिनको चाहो, भेज दो। तुम खुद जाओगे तो लोग क्या कहेंगे ? इससे हँसी न होती है बेटा !

"मैं इस हँसी की परवा नहीं करता माँ !"—जयदेव ने उसी दृढ़ता से जवाब दिया—"मेरे मित्रों को तो ब्याह करना नहीं है, उस कन्या से ब्याह तो मैं करूँगा। जो चीज उन्हें पसन्द आती है वही मुझे भी आ जाय, यह तो जरूरी नहीं है। लड़की को मैं स्वयं देखूँगा।"

इसके आगे माँ-बाप में से कोई कुछ न बोल सका। पण्डित शिवदयाल जी उठ कर बाहर चले गए। थोड़ी देर बाद वहाँ से लौटे तो उनका चेहरा खिला हुआ था। कन्या-पक्ष के लोगों ने जयदेव की शर्त स्वीकार कर ली थी।

उसके दूसरे ही दिन जयदेव अपने दो-तीन चुने हुए मित्रों को लेकर कन्या-निरीक्षण करने गए। देख कर मोहित हो गए। वह देव-कन्या की तरह सुन्दरी थी। उसकी एक तस्वीर उतार ली और उछलते हुए हृदय से घर लौटे। रास्ते भर मित्र उन्हें बधाइयाँ देते आए—रास्ते भर उनका हृदय आनन्द और एक नई बेचैनी से उछलता रहा। घर आए तो लोग इनकी ओर देख-देख कर कलियुग को कोसने लगे। किसी ने अपने कपार में चोट दी, कोई पृथ्वी ध्वस्त हो जाने की भविष्य-वाणी उगलने लगा। स्वयं अपनी आँखों से भावी बहू का मुँह देख आना, उसकी तस्वीर उतार लाना, परम्परागत लोक-लज्जा की छाती पर खड़ा होकर समाज की मूढ़ता का अपमान करना था। चारों ओर इसकी खब आलोचना हुई। पर जयदेव के माँ-बाप कुछ न बोले। वे प्रसन्न थे। माँ ने पूछा—कहो बेटा, मेरी बहू कैसी है?

जयदेव ने लजा कर हँसते हुए कहा—अब तुम बड़ी खुशी से विवाह का दिन निश्चित कर सकती हो माँ, मैं वचन दे आया हूँ।

२

विवाह की तैयारी इतनी धूमधाम से हुई कि देखने वाले दङ्ग रह गए। किशनपुर गाँव से आज तक ऐसी बारात निकली ही नहीं थी। जयदेव इस धूमधाम के विरोधी थे, पर माँ के आगे इस बात पर उन्हें हार खानी पड़ी। एकलौते, तिस पर इतने पढ़े-लिखे, बेटे का व्याह था, घर में खाने-पीने की कमी थी नहीं, मिश्र जी ने अपने उल्लास की धारा को वेगवती बनाने के लिए रुपए-पैसे को पानी बना दिया! प्रायः देखा जाता है कि बेटे के व्याह में लोग बेटी के बाप का गला मरोड़ा करते हैं, उनसे दहेज में लम्बी-लम्बी रक़में लेकर व्यर्थ की धूमधाम में रुपयों का श्राद्ध किया करते हैं। शिवदयाल मिश्र ने रुपए तो बहुत बरबाद किए, लेकिन बेटी के बाप का खून चूस कर नहीं, अपनी निजी तहवील खाली करके। बारात जब बँसवाड़ी गाँव में घुसी तो वहाँ के लोग विस्मय-विमुग्ध हो गए। सारे गाँव में वैभव की ज्योति जग उठी, ऐश्वर्य की आभा फैल गई! चारों ओर चहल-पहल, गाना-बजाना, धूम-धड़ाका, हास-परिहास आदि के मारे एक नई ही दुनिया नज़र आ रही थी। सब के सब उल्लास की धारा में बहे जा रहे थे। अगर कोई स्थिर था तो जयदेव, जिसके हृदय में एक ऐसी हलचल मच रही थी जिसे वह स्वयं नहीं पहचान सकता था;

जिसके आनन्द-सागर में ज्वार भी था और भाटा भी, जिसे गाने की भी इच्छा हो रही थी और रोने की भी ! उत्सव और उल्लास की वह पराकाष्ठा देख कर मानो उसके मन में उनकी वास्तविकता और चिरन्तनता के प्रति अविश्वास की आँधी उठ रही थी ! वह बड़ी बेचैनी के साथ विवाह-घड़ी की प्रतीक्षा कर रहा था।

प्रतीक्षा का अन्त हुआ, जयदेव विवाह-मण्डप में बुलाए गए। धड़कते हुए हुलास के साथ उन्होंने मण्डप में प्रवेश किया। विवाह की वेदी पर कन्या चुपचाप सिर गाड़े बैठी थी। वे भी उसी के समीप बैठा दिए गए। स्त्रियों की चञ्चलता नाच रही थी, उनका परिहास किलकिला रहा था, उनकी सङ्गीत-धारा उमड़ रही थी ! समस्त वातावरण सङ्गीतमय, सुखमय, मङ्गलमय हो रहा था। सहसा जयदेव की दृष्टि सामने ही खड़ी एक बालिका पर जा पड़ी। उसके मुखड़े पर विषाद की छाया भड़क रही थी। जयदेव का हृदय बड़े ज़ोर से धड़कने लगा ! अरे, यह तो वही लड़की है, जिसे मैं उस दिन देख गया हूँ ! हाँ, ठीक वही है, उसको छोड़ और कोई हो नहीं सकती ! या मैं ही भूल रहा हूँ ? नहीं, यह कैसे हो सकता है ? यह सूरत तो मेरी आँखों में समाई हुई है, रास्ते भर तो इसी को देखता आया हूँ ! पल भर के लिए भी तो यह छवि नहीं भूली ! तब फिर मैं इसे

अपने से दूर इस तरह खड़ी क्यों देख रहा हूँ ? कहीं यह उसकी बहिन तो नहीं है ? सम्भव है, दोनों का रूप-रङ्ग एक ही सा हो। ऐसा होना तो कोई असम्भव नहीं है; पर नहीं, यह वही लड़की है जसे मैं देख गया हूँ ! × × × सोचते-सोचते जयदेव पसीने तर हो गया। उसी क्षण उसने अपने पास बैठी हुई कन्या की ओर दृष्टि घुमा दी। थोड़ी देर तक उसने तीक्ष्ण दृष्टि से उसे देखा और जान लिया कि विवाह की वेदी पर उसके जीवन-सुख का बलिदान होने वाला है ! वह घबड़ा कर खड़ा हो गया और व्याकुल स्वर में बोला—मेरी तबीयत न जाने कैसी हो रही है, मैं ज़रा बाहर जाऊँगा।

कई स्त्री-पुरुष एक ही साथ कह उठे—ब्याह किए बिना कैसे बाहर जाइएगा ?

"मैं ज़रूर जाऊँगा"—कह कर जयदेव तेज़ी के साथ चल पड़े। चारों ओर खलबली मच गई। लोगों ने उन्हें ज़बर्दस्ती पकड़ रक्खा। इसी समय एक हाथ में डण्डा लिए पं० बलराम पाठक भी आ पहुँचे। उनके साथ दो-तीन और लाठी वाले थे। उन्होंने कहा—"भागे कहाँ जाते हो ? चलो सीधे से लड़की के माथे में सिन्दूर दे दो।"

जयदेव ने घबड़ा कर कहा—मेरी तबीयत बहुत ख़राब हो रही है, शौच जाना चाहता हूँ।

"अच्छी बात है, चलो !"—कह कर बलराम पाठक पकड़ कर उसे पास की एक गली में बैठा आए। खुद लाठी लेकर सिर पर खड़े रहे और चारों ओर से आठ दस लाठी वालों को घेर कर खड़े रहने की आज्ञा दी। बेचारा जयदेव आध घण्टा तक उसी तरह बैठा रहा। आखिर बलराम पाठक से रहा नहीं गया। क्रोध से उसका हाथ पकड़ कर खचते हुए वे बोले—"विवाह की घड़ी टल जायगी तब उठेगा क्या ? जल्दी चल, नहीं तो यहीं ढेर कर दूँगा।"

जयदेव डर के मारे थर-थर काँप रहे थे। वे कुछ कर न सके। लोग उन्हें पकड़ कर विवाह-मण्डप में ले गए और उसी तरह लाठी तान कर बोले—चुपचाप लड़की के माथे में सिन्दूर दे दो, नहीं तो लौट कर नहीं जाने पाओगे !

जयदेव अचेत होकर गिर पड़े। उसी हालत में उनके हाथ से सावित्री के माथे पर सिन्दूर छिड़कवा दिया गया !

२

सावित्री के चेहरे की बनावट बुरी नहीं थी, पर उसका रङ्ग इस लायक नहीं था कि वह सुन्दरी कही जा सके। यह दूसरी बात है कि सौन्दर्य के आध्यात्मिक तत्व को प्यार करने वाले लोग उसे भी सुन्दरी कह दें। पर सभी लोग ऐसा न कहेंगे। कम से कम हम तो उसे सुन्दरी मानने को तैयार नहीं हैं। हमीं क्यों, बँसवाड़ी गाँव के सब लोग यही

कहते थे कि वहाँ अगर कोई कुरूप लड़की थी तो सावित्री ही। उसी सावित्री के साथ जयदेव के ब्याह की बात चली और जब उसने कन्या देखने पर बड़ा ज़ोर दिया तो बलराम पाठक एक चाल चल गए—सावित्री को न दिखा कर उन्होंने निरोजा नाम की एक दूसरी लड़की को जयदेव के सामने कर दिया।

निरोजा का उसी गाँव में ननिहाल था। उस दिन वह सावित्री से भेंट करने उसके घर चली गई थी। वहीं बलराम और उनकी स्त्री के भुलावे में पड़ कर उसे सावित्री का प्रतिनिधित्व स्वीकार करना पड़ा। पीछे जब असली रहस्य मालूम हो गया तो उसे बड़ी पीड़ा होने लगी। उसके माँ-बाप भी इस पर बहुत नाराज़ हुए।

सावित्री के विवाह की वह अमानुषिक लीला समाप्त हो जाने पर जब जयदेव ने बलराम पाठक पर मुकदमा चलाया तो वही लड़की गवाह बनी। बँसवाड़ी गाँव के बहुत से लोग बलराम के विरुद्ध हो गए। निरोजा के बाप ने जयदेव की ओर से मुक़द्दमे की पैरवी की। जयदेव का पक्ष बहुत ही बलवान् था। सत्य जिसके पक्ष में था, न्याय भी उसीके पास आया। बलराम को जेल की सज़ा मिली। उसकी जायदाद बिकवा कर सरकार ने जयदेव को हरजाने की रक़म दिलवाई। सावित्री अविवाहिता क़रार कर दी गई।

निरोजा के बाप पं० काशीराम जी पटने के नामी वकील थे। घर के जमींदार थे। जयदेव को वे बहुत पहले ही से जानते थे। कई बार उसके ओज-भरे भाषण सुन चुके थे, कई पत्र-पत्रिकाओं में उसकी कविताएँ और कहानियाँ पढ़ चुके थे। मन ही मन वे उस पर रीझे रहते थे, उसे किसी तरह अपना बनाना चाहते थे। इस मुक़दमे ने उन्हें उसे अच्छी तरह अपनाने का अवसर दिया।

मुक़दमा समाप्त हो जाने पर जब जयदेव पं० काशीराम जी को धन्यवाद देने गए, तब बात ही बात में वकील साहब उनसे पूछ बैठे—कहिए जयदेव बाबू, विवाह के लिए अब क्या तय किया?

जयदेव ने उदास होकर जवाब दिया—अभी कुछ नहीं।

"क्यों?"—वकील साहब ने व्यग्र भाव से पूछा।

"अभी इतनी जल्दी कैसे क्या तय करूँ? अब तो सोचता हूँ, ब्याह करूँ ही नहीं। शायद भगवान् भी यही चाहते हैं।"—जयदेव अपनी विदग्ध वाणी में बोले।

"नहीं भाई, ऐसा क्यों कहते हो?"—वकील साहब कहने लगे—"जो कुछ हो गया, उसे भूल जाओ। कम से कम अपने बूढ़े माँ-बाप के ख़ातिर ब्याह तो करना ही होगा, करना ही चाहिए।"

जयदेव ने नम्रता से कहा—जी हाँ, यह तो ठीक है।

परिस्थिति को अनुकूल आते देख, वकील साहब चटपट बोल उठे—जयदेव बाबू, सच्ची बात तो यह है कि मैं अपनी निरोजा आपको देना चाहता हूँ। अगर आप कृपा कर मेरी यह प्रार्थना स्वीकार करें तो मैं आपका बड़ा उपकार मानूँ। मेरी बेटी आप ही के योग्य है।

जयदेव को यह आशा नहीं थी। आनन्द से उसका हृदय उत्फुल्ल हो उठा। सिर झुका कर उसने कहा—रूप बाबू जी से पूछ लिया जाय?

इसके एक ही सप्ताह बाद निरोजा जयदेव की जीवन-सङ्गिनी हो गई। जो अभी तक उसकी आँखों में ही बसी हुई थी, वही अब उसके हृदय की रानी भी बन गई।

४

सावित्री अदालत से तो अविवाहिता क़रार कर दी गई, पर समाज की हृदय-हीनता भी उसे वही समझे तब तो? बात चारों ओर फैल गई थी और सब लोग यही कह रहे थे कि चाहे जिस तरह हो, उसकी माँग में सिन्दूर तो पड़ गया। विवाह और कहते किसको हैं? इस तरह समाज की दृष्टि में वह बेचारी 'अविवाहिता' नहीं 'परित्यक्ता' थी। उसके साथ अब किसी का ब्याह नहीं हो सकता। जन्म-भर उसे इसी तरह रहना पड़ेगा। क़ानून चाहे जो कहे, समाज का 'सनातनधर्म' यह कभी नहीं

कह सकता कि सावित्री का वह ब्याह, ब्याह नहीं—ब्याह का अपमान था ! जो ऐसा कहेगा तो उसे फिर रहने की जगह कहाँ मिलेगी ? सत्य, न्याय और सहृदयता के साथ अगर उसने इस तरह सहानुभूति दिखानी शुरू की तो फिर उसे पूछेगा कौन ? मानवता की इन व्यापक भावनाओं के साथ अगर वह सहयोग करने लगे, तो समाज की अन्धी और अमानुषिक रूढ़ियों का पालन-पोषण कौन करेगा ? वही इतना उदार हो जायगा तो बात-बात पर धर्मशास्त्र की दुहाई देने वाले पाप के व्यवसायी, पृथ्वी पर 'पुण्य' का प्रसार कैसे करेंगे ? कैसे वे स्वयं बचेंगे और कैसे बचावेंगे दूसरे लोगों को कलियुग के भीषण प्रहार से ? ये सारी बातें ऐसी हैं, जिन पर विचार करने के बाद कोई भी भला आदमी उस समाज को बुरा न कहेगा, जिसमें सावित्री जैसी अभागिनी को जन्म लेने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है ! सब लोगों ने एक स्वर से 'शास्त्रीय वचन' दे दिया कि उसे भाग्य में जो होना था हो चुका, अब इसके बाद कुछ नहीं हो सकता। जो कोई उसके साथ ब्याह करेगा, वह धर्म-च्युत समझा जायगा।

यह विपत्ति तो थी ही, एक और सुनिए। सावित्री की अपनी माँ उसी समय मर चुकी थी, जब वह लगभग पाँच साल की रही होगी। उसके सिर पर थी एक सौतेली माँ,

जिसने आज तक उसे 'सविया' छोड़ कर 'सावो' नहीं कहा। पहले ही से बहुत बुरा हाल था, अब तो क्या कहना है! बलराम पाठक की जेल-यात्रा के दिन से तो गङ्गादेवी दिन-रात उमड़ती ही रहती हैं! सविया से भूल कर भी कभी कोई ऐसी बात नहीं कहतीं, जिसमें एक अच्छी-सी गाली न मिली हो! कोई भी ऐसा काम नहीं करवाती, जिसके लिए बीच-बीच में उन्हें कृपापूर्वक उसकी पीठ पर झाड़ू या लात पटकने का कष्ट न स्वीकार करना पड़ता हो! गृहस्थी का सारा काम-काज वही करती थी, फिर भी उसे पेट भर भोजन और शरीर भर वस्त्र नहीं मिलता—स्नेह और सहानुभूति तो भला वह कहाँ से पावेगी!

एक दिन दोपहर के समय काम-काज से छुट्टी पाकर वह 'रामायण' पढ़ रही थी। पढ़ते-पढ़ते जब उस जगह पर पहुँची, जहाँ जानकी के वियोग में रामचन्द्र जी विह्वल होकर जङ्गल में चारों ओर इधर-उधर भटक रहे हैं, तब लाख चेष्टा करने पर भी वह अबला अपने दिल को क़ाबू में न रख सकी। रह-रह कर उसका हृदय फटने लगा, रह-रह कर उसकी आँखों से आँसू की धारा बहने लगी। हाय! इस पृथ्वी पर कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं, जो उसके वियोग में अपने को पल भर के लिए भी विह्वल बना सके; कोई ऐसा हृदय नहीं, जिसे इसकी वेदना द्रवीभूत कर सके;

कोई ऐसा कलेजा नहीं, जिसमें इसकी यातना एक टीस भी उठा सके! सोने की लङ्का में तड़पने वाली सीता के राम थे, मगर मिट्टी पर पड़ी-पड़ी बिलखने वाली सावित्री के कोई सत्यवान नहीं! ये बातें रह-रह कर उसके कलेजे को मसोस रही थीं। वह चाहती थी कि जी भर कर एक बार खूब अच्छी तरह रो ले। मगर अपनी स्नेहमयी माँ (!) के भय से बेचारी रो भी नहीं सकती थी। रुदन भी उसके लिए उतना ही मँहगा था जितना सुख। डर था कि कहीं माँ ने देख लिया तो अनर्थ हो जायगा। इसी डर से न वह सिसकती थी, न बुक्का फाड़ कर रोती थी। आँचर से आँसू पोछती जाती थी और रामायण पढ़ती जाती थी।

इसी समय उसी घर में कुछ गिरने की आवाज़ हुई, जिसमें गङ्गादेवी सो रही थीं। आवाज़ के साथ ही देवी जी चिल्लाती हुई घर से बाहर निकलीं—कहाँ गई री सविया! मर गई क्या? इसी तरह चीज रक्खी जाती है? अभी तो बच गई, नहीं मेरा माथा ही चूर-चूर हो जाता!

सावित्री झटपट किताब बन्द कर उठ ही रही थी कि इतने में वे धड़धड़ाती हुई पास जा पहुँचीं। देखते ही छाती पर हाथ पटक कर दो क़दम पीछे हटती हुई बोलीं—बाप रे बाप! तू क्या करने पर तुली हुई है सविया? तुझे पचीसों बार मना किया कि इस तरह पोथी-पत्रा मत पढ़ा

—साँकल—

"अभी आग भी नहीं सुलगाई गई?"—गङ्गादेवी ने आश्चर्य और क्रोध से स्वर को ऊँचा करके कहा—"तो अभी तक तू सबेरे से कर क्या रही थी? जानती नहीं थी कि मेरे बच्चे ने रात भी कुछ नहीं खाया है? अभी सोकर उठेगा तो खायगा क्या तेरा सिर?"

गङ्गादेवी का बच्चा रामकिशुन अभी सिर्फ चौदह वर्ष का था। अपनी माँ के प्रायः सभी गुण उसमें आ गए थे—जो नहीं आए थे, वे आ रहे थे। गाँव भर की शैतानी का ठेकेदार वह अबोध बच्चा (!) आठ-नौ बजे से पहले सोकर नहीं उठता था। पढ़ने-लिखने से तो उसे कोई मतलब था नहीं, न उसकी माँ इसे पसन्द ही करती थी। सोकर उठते ही वह पहले नियमपूर्वक भोजन माँगता था। थोड़ी सी भी देरी हो जाने पर माँ के सात पुरखों का उद्धार करने लगता और अगर आवश्यक समझता था तो सविया को भी एक-आध दर्जन अपनी अनमोल वाणी सुना कर ज़ोर-ज़ोर से हाथ-पैर पटकने लगता और घर के बर्तनों की मरम्मत में जुट जाता। सोकर उठते ही उसे ताज़ा खाना मिलना चाहिए—रात की बची हुई कोई चीज़ वह छूता भी नहीं था। थोड़ा सा चना-चबेना लेकर भी सन्तुष्ट हो जाय, यह बात भी नहीं। इस-लिए बेचारी सावित्री को प्रायः प्रतिदिन आठ-साढ़े आठ बजे सबेरे तक रसोई अवश्य तैयार कर रखनी पड़ती थी। जिस

दिन इसमें थोड़ी सी भी गड़बड़ी हो जाती, उसके प्राण सङ्कट में पड़ जाते थे। आज भी वही हुआ।

गङ्गादेवी का वह गर्जन सुन कर काँपती हुई वह बोली—लकड़ी एक भी नहीं है माँ! कैसे क्या करती?

"कैसे क्या करती?"—दाँत पीस कर गङ्गादेवी ने कहा—"लकड़ी नहीं थी तो तेरा सिर तो था? बैठी-बैठी करती क्या रहती है? थोड़ी सी लकड़ी बगीचे से ले क्यों नहीं आती? इज्जत उतर जायगी क्या? इतने पैसे कहाँ हैं कि तेरे लिए मैं रोज लकड़ी खरीद सकूँ? जा, अभी जा, थोड़ी सी लकड़ी बटोर ला और घण्टे भर के भीतर रसोई तैयार कर दे।"

सावित्री के लिए कोई दूसरा उपाय नहीं था। वह चुपचाप लकड़ी चुनने चली गई। इसी समय रामकिसुन गालियाँ बकता हुआ बाहर निकला कि उसे लोग खाना क्यो नहीं दे रहे हैं।

सब कुछ होता था, पर अभी तक जङ्गल जाकर लकड़ी चुनने की नौबत नहीं आई थी। सावित्री गाँव के बाहर वाले बगीचे में (बगीचा क्यों, वह एक छोटा सा जङ्गल ही था) पहुँची तो एकान्त पाकर फूट-फूट कर रोने लगी। उस अरण्य-रोदन से उसकी वेदना बहुत-कुछ कम हो गई। बहुत देर तक बिलख-बिलख कर रोने के बाद उसने धीरे-धीरे लकड़ी

चुनना आरम्भ किया। कई जगह उसके पैर में काँटे चुभ गए, हाथ का चमड़ा खुरच गया। बड़े कष्ट के साथ उसने थोड़ी सी लकड़ी बटोर ली। अभी वह और बटोर ही रही थी कि बड़े ज़ोर से वृष्टि होने लगी। उसी तरह भीगती-काँपती, गिरती-पड़ती, वह सिर पर लकड़ियों का गट्ठर रक्खे घर पहुँची ! वहाँ माँ-बेटे में संग्राम छिड़ा हुआ था। आँगन में टूटे-फूटे बर्तन बिखरे पड़े थे। माँ बेटे की मरम्मत कर रही थी, बेटा माँ की पूजा कर रहा था !

सावित्री को देखते ही गङ्गादेवी भूखी शेरनी की तरह टूट पड़ीं ! उसकी पीठ पर दो-तीन लात जमाती हुई दाँत पीस कर बोलीं—तू ही मेरे घर की चुड़ैल है, तेरे ही कारण मेरी यह हालत हो रही है ! इतनी देर से वहाँ क्या कर रही थी ? यही एक मुट्ठी लकड़ी चुनने में तुझे तीन घण्टे लग गए ? और इन्हें भी पानी में भिगो कर ले आई है ?

यह आघात असह्य था। सावित्री चिग्घाड़ मार कर वहीं गिर पड़ी। गङ्गादेवी ने उसे घसीट कर उठाते हुए कहा—मरना है तो मेरे आँगन से बाहर जाकर मर। जा, भाग जा मेरे सामने से।

सावित्री रोती हुई बाहर निकल गई।

५

जयदेव एम० ए० पास करके पटना-कॉलेज में प्रोफे-

सर हो गए हैं। उनके माँ-बाप भी उन्हीं के साथ वहीं रहते हैं। योंही कभी हुआ तो हवा-पानी बदलने के लिए किसन-पुर भी चले जाते हैं, नहीं तो अब असली घर पटने ही में हो गया है।

निरोजा में और सब गुण तो हैं, पर वह गृहस्थी का एक भी काम नहीं सँभाल सकती। मिज़ाज में अमीरी है और शरीर में सुकुमारता। रसोई बनाने से तो वह कोसों दूर भागती है। इसमें उसकी सास का भी दोष है, क्योंकि वह उसे जरूरत से ज्यादा प्यार करती है। जब से वह गृहिणी बन कर आई है, उसके सास-ससुर ने उसे एक तिनका तक नहीं उठाने दिया है। जयदेव मन ही मन उससे बहुत खिन्न रहा करते हैं। उन्हें यह अच्छा नही लगता कि उनकी गृहिणी बैठ कर किताबें पढ़ा करे और उनकी माँ चूल्हे की आग फूँका करे। माँ से भी उन्होंने कई बार कहा कि वे क्यों इस तरह उसे काम-काज से दूर किए रहती हैं, पर उन्हें स्नेह-सिञ्चित मुस्कान के साथ बराबर यही उत्तर मिलता—जय, तू भी किसी की माँ और सास होता तो जानता कि मुझे इसमें कितना सुख मिलता है।

जयदेव यह उत्तर पाकर चुप हो जाते, पर उनके हृदय को शान्ति नहीं मिलती थी। वे समझते थे, और उनका समझना सच था कि निरोजा अपने सास-ससुर के प्यार

का दुरुपयोग कर रही है। जितना वे लोग उससे काम नहीं करवाना चाहते, उससे कहीं अधिक वह स्वयं काम करने से भागती है।

एक दिन उनसे न रहा गया। उन्होंने निरोजा से कहा—तुम्हें कुछ सङ्कोच भी नहीं मालूम होता है क्या? और कुछ नहीं तो कम से कम भोजन भर तो बना लिया करो।

"बना कैसे लिया करूँ?"—निरोजा ने तमक कर जवाब दिया—"माँ तो मुझे किसी तरह चौके में घुसने नहीं देतीं और तुम रह-रह कर मेरे ही ऊपर बिगड़ते रहते हो!"

"घुसने नहीं देतीं—क्या कह रही हो?"—जयदेव ने भी ज़रा आँखें तरेर कर जवाब दिया—"यह क्यों नहीं कहतीं कि उपन्यास पढ़ने से छुट्टी नहीं मिलती?"

"हाँ, नहीं मिलती है तब?"—निरोजा ने क्रुद्ध स्वर में कहा।

"नहीं मिलती है तो उस काम से छुट्टी लेनी होगी"—जयदेव ने दृढ़तापूर्वक कहा—"तुम्हें गृहस्थी का भी थोड़ा-बहुत काम सँभालना पड़ेगा। तुम केवल मेरे ही सुख की चीज़ नहीं हो, जिनकी गोद में पल कर मैं तुम्हारा हो सका हूँ, उनका भी तुम्हारे ऊपर कुछ ऋण है। उसे चाहे जैसे हो, थोड़ा-थोड़ा करके चुकाना होगा।"

इसके आगे निरोजा कुछ न बोल सकी। वह सिसक-

सिसक कर रोने लगी। रोने की आवाज सुनते ही जयदेव की माँ दौड़ पड़ी। वहाँ पहुँच कर अपनी दुलारी बहू को रोती देख, उन्होंने अपने बेटे से डाँट कर पूछा—तू इस तरह इसे डाँटा-डपटा क्यों करता है जय ?

जयदेव ने अपने तमतमाते चेहरे पर थोड़ी सी विषाद की छाया नचाते हुए जवाब दिया—मुझे यह सब अच्छा नहीं लगता माँ, या तो इन्हें चौके में जाने दो या मुझे ही कहो, मैं होस्टल में जाकर रहूँगा।

बेटे की होस्टल में जाकर रहने की बात बूढ़ी शारदा-देवी के दिल में घाव कर गई। उन्होंने और कुछ बोलना अच्छा नहीं समझा। वे खूब जानती थीं कि बहू के रहते माँ को काम-धन्धा करते देख उनका जय बहुत ही क्षुब्ध रहा करता है। आज किसी कारण से उसका यह क्षोभ असीम हो उठा है। इसीसे वह इतना नाराज है। थोड़ी देर तक चुप रहने के बाद उन्होंने कहा—बेटा, मेरी बहू से तो यह सब काम होगा नहीं। तू किसी ब्राह्मण या ब्राह्मणी को ला दे। मै चौके का भार उसी के जिम्मे सौंप दूँगी।

"यह फिर देखा जायगा माँ!"—जयदेव ने कहा—"तब तक इन्हीं से काम लो। मैं उस आदमी को पसन्द नहीं करता, जो काम से जी चुरावे। इन्हे भी कुछ सीख लेना चाहिए।"

जयदेव की यह दृढ़ता सास और पतोहू दोनों के हृदय पर असर कर गई। शारदा देवी गद्गद हो उठीं। निरोजा की दृष्टि में उसके पति बहुत ही ऊँचे उठ गए। वह समझती थी, उसके स्वामी उसे विवेक की आँखें बन्द करके प्यार करते हैं, उसके सौन्दर्य पर मरते रहते हैं, उसी के इशारों पर चलते हैं। उसका ऐसा समझना ठीक नहीं था, यह बात नहीं है। जयदेव सचमुच निरोजा को अपने प्राणों की तरह प्यार करते थे। किन्तु उनका प्यार उनके कर्त्तव्य को कुचल नहीं सकता था, उन्हें पथ-भ्रष्ट नहीं कर सकता था। यौवन के अधीर उन्माद और वासना के प्रमत्त झोकों में पड़ कर वे दाम्पत्य जीवन को अपावन बनाना नहीं जानते, अपने प्रेम और अधिकार के द्वारा पत्नी के हृदय में कर्त्तव्य-भावना की सृष्टि करना जानते हैं। उनके प्रेम में केवल तरलता ही नहीं, पुरुषोचित दृढ़ता भी है।

निरोजा गौरव और ग्लानि से झुक कर पति के पैरों पर गिर पड़ी और रोती हुई बोली—मुझसे भूल हो गई, मैं माफी माँगती हूँ। रसोइए की जरूरत नहीं, मैं खुद भोजन बनाया करूँगी।

९

निरोजा की जीवनचर्या ही बदल गई है। नियमपूर्वक

गृहस्थी का सारा काम करती है, सास-ससुर की सेवा भी करती है और समय पाकर लिखती-पढ़ती भी है। तीन ही दिनों के भीतर उसमें यह परिवर्त्तन आ गया है। इस परिवर्त्तन से सबके मन में खुशी भर आई है, स्वयं वह भी वहुत अधिक प्रसन्न दीखती है। कर्त्तव्य और श्रम का सबसे वड़ा पुरस्कार है आत्म-सन्तोष, और यही आत्म-सन्तोष सारी प्रसन्नता का मूल है। चार दिनों तक बड़े आनन्द से वह काम-धन्धा करती रही। मगर इस सहसा परिवर्त्तन और श्रम का परिणाम यह हुआ कि निरोजा के सिर में चक्कर आने लगा, उसकी आँखें जलने लगीं! आग के पास वैठने और गृहस्थी के काम-धन्धो के करने का अभ्यास तो उसे था नहीं, दूसरे ही दिन से उसका सिर चकराने लगा। पर उसने किसी से इसकी शिकायत न की। समझा, अभ्यास पड़ जाने पर एक-दो दिनों में आप ही सब ठीक हो जायगा। ऐसा हुआ नहीं। पाँचवें ही दिन वह चूल्हे के पास वेहोश होकर गिर पड़ी!

शारदा देवी ने डाँट कर कहा—देखो जय, फिर कभी बहू को चूल्हे के पास भेजने कहोगे तो अच्छा न होगा।

जयदेव ने कहा—नहीं माँ! अब ऐसी ग़लती न होगी। किसी रसोइए को रखना पड़ेगा।

निरोजा ने सास की ओर मुँह करके कहा—ज़रा गर्मी

अधिक थी माँ, इसीसे ग़श आ गया ! मुझे कोई तकलीफ़ नहीं है। रसोइए की ज़रूरत नहीं—अब कभी ऐसा न होगा।

ख़ुशी के मारे सास की छाती फूल उठी। उसने कहा—अच्छा बेटी ! जब तेरी इच्छा हो, तू भी शाक-भाजी बना लिया करना। मगर एक रसोइए को ज़रूर रखना होगा।

इतना कह कर बेटे-पतोहू को छोड़, शारदा देवी वहाँ से चली गईं।

अभी वे दोनों जने आपस में कुछ बातचीत कर ही रहे थे कि इतने में वे फिर लौट आईं और बोलीं—बहू, देखो तो बाहर कोई लड़की तुम्हें बुला रही है। मैंने कितना कहा कि भीतर चलो, पर वह आ ही नहीं रही है। पता नहीं कौन है, कहाँ से आई है। बहुत मुरझाई सी दीखती है।

निरोजा घबड़ाई हुई बाहर निकली और जाकर देखा कि ड्योढ़ी के पास एक पन्द्रह-सोलह वर्ष की लड़की सिर झुकाए चुपचाप उसकी राह देख रही थी। उसका मुँह मुरझाया हुआ था, शरीर के वस्त्र फटे हुए और अत्यन्त मैले थे। देखते ही निरोजा ने पहचान लिया और व्याकुल होकर कहा—तुम यहाँ कैसे सावो ? तुम्हारी हालत ऐसी क्यों हो रही है ?

सावित्री इसके जवाब में धड़ाम से उसके पैरों पर गिर

पड़ी और फूट-फूट कर रोने लगी। बड़ी मुश्किल से निरोजा उसे उठा कर अपने कमरे में ले आई।

जयदेव ने पूछा—यह कौन है ?

"मेरे ननिहाल की"—कह कर निरोजा ने उन्हें कमरे से बाहर चले जाने का इशारा किया।

जयदेव की छाती धड़कने लगी। एक ऐसी स्मृति सजग हो आई कि देखते ही देखते बेचैन हो उठे। खूँटी से टोपी उतारी, हाथ में छड़ी ली और बाहर निकल गए।

एकान्त पाकर निरोजा ने उससे कहा—सावो, कहो क्या बात है ?

सावित्री ने अपनी सारी कहानी सुना कर बड़ी कातरता से कहा—अब मेरे लिए कहीं जगह नहीं है नीरो, तुम्हीं अपने चरणों के पास रख लो। इसीलिए सारी लोक-लाज त्याग कर सीधे तुम्हारे ही पास आई हूँ।

उसकी बातें सुन कर, उसकी अवस्था देख कर, उसके सारे जीवन पर एक हलकी सी दृष्टि दौड़ा कर, निरोजा का हृदय करुणा से ओत-प्रोत हो उठा। उसका ऐसा मन कर रहा था कि अपना सारा सुख, सम्पूर्ण सौभाग्य वह उस अभागिनी लड़की को समर्पित कर दे। पर यह हो कैसे सकता था ? सावो की एक-एक बात नीरो के कलेजे को बुरी तरह घायल कर रही थी, उसे ऐसा मालूम हो रहा

था जैसे वही उसके सारे दुःखों का कारण है। वह विह्वल होकर बोली—बहिन, तुम्हें कैसे बतलाऊँ कि इस समय मेरे ऊपर क्या बीत रही है! यों तो वड़े सहृदय हैं, पर तुम्हें यहाँ रखना वे उचित समझेंगे या नहीं, इसमें सन्देह है। मैं अपनी शक्ति भर उन्हें मनाने की चेष्टा करूँगी। अच्छा हो, अगर तुम भी स्वयं उनसे मिलो।

कुछ-कुछ अँधेरा हो चुका था जब जयदेव ने अपने पढ़ने के कमरे में प्रवेश किया। उनका चेहरा उतरा हुआ था। एक किताब लेकर वे आराम-कुर्सी पर लेट गए। उसी समय निरोजा आई और काँपते हुए कण्ठ से बोली—जानते हो वह कौन है?

"अनुमान कर सकता हूँ"—बड़ी उदासी से जयदेव ने जवाब दिया।

"वह यहाँ आश्रय चाहती है"—निरोजा ने डरते-डरते कहना शुरू किया—"उसे रख लेना चाहिए, सब तरह से अनाथिनी हो गई है!"

"उसे कुछ रुपए देकर विदा कर दो"—जयदेव ने लम्बी साँस खींच कर कहा—"मैं बला नहीं पालूँगा।"

"वह बला नहीं, अबला है मेरे स्वामी!"—निरोजाने गिड़गिड़ा कर निवेदन किया—"वह हम लोगों की समस्त दया, सारी सहानुभूति की अधिकारिणी है। हमीं लोगों के

कारण उसका सारा जीवन नष्ट हो गया। हमे इस रूप में भी तो उस पाप का प्रायश्चित्त करना चाहिए।"

"ये सब बातें मुझे भी मालूम हैं नीरो"—जयदेव ने वेदना-विद्ध वाणी में जवाब दिया—"पर तुम यह नहीं समझ रही हो कि उसे यहाँ रखने का क्या अर्थ होता है। मैं हरगिज़ ऐसा न करूँगा। उसे कहीं रहने की जगह नहीं है तो कह दो अनाथालय चली जाय, मैं महीने में कुछ रुपए दे दिया करूँगा।"

इसी समय सावित्री भी वहाँ पहुँच गई और जयदेव के पैरों पर गिर पड़ी। निरोजा चुपचाप कमरे से निकल गई

जयदेव हड़बड़ा कर खड़े हो गए और घवड़ा कर बोले—यह क्या किया ?

सावित्री की आँखों में आँसू नहीं थे। उसने कहा—कुछ नहीं, दुनिया के आगे लोक-लाज खोने के पहले उसे एक बार आपके चरणो पर चढ़ा दिया। मै आपके आगे भिखारिन बन कर खड़ी हूँ। और कुछ नहीं माँगती, सिर्फ यही चाहती हूँ कि आप मुझे नीरो की दासी बन कर रहने की आज्ञा दें। उसके जूठन से पेट की आग बुझा लूँगी, उसके फटे-पुराने वस्त्रों से अङ्ग की लाज ढक लूँगी। क्या इस अभागिनी के लिए आप इतनी भी कृपा न कर सकेंगे ?'

इस याचना में न लज्जा थी, न बेचैनी, किन्तु यह इतनी नुकीली थी कि जयदेव का कलेजा छिद गया। आँखें उठा कर वे उसकी ओर देख नहीं सकते थे। उन्होंने हाथ जोड़ कर कहा—आप कृपा कर यहाँ से चली जायँ। मुझे आपके लिए बहुत दुःख हो रहा है; पर मैं सब तरह से लाचार हूँ।

इस पर सावित्री एक शब्द न बोली। तेजी के साथ कमरे से निकल गई।

जब वह चली गई, उसके थोड़ी देर बाद निरोजा ने आकर कहा—भोजन न करोगे?

"नहीं, तबीयत ठीक नहीं है। वह चली गई क्या?"

"जब यहाँ नहीं है तो गई ही होगी और क्या?"

"मैंने समझा तुम्हारे पास है।"

"रहने तो आई थी, पर तुमने रहने कहाँ दिया।"

"अच्छी बात है, मैं उसे ला देता हूँ।"—कह कर जयदेव पागलों की तरह दौड़ कर बाहर निकल गए। निरोजा भौंचक्की होकर खड़ी-खड़ी ताकती रही।

थोड़ी ही देर में जयदेव लौट आए और घबड़ाए हुए स्वर में बोले—वह तो इसी जगह ड्योढ़ी के बाहर जमीन पर अचेत पड़ी है। मालूम होता है, उसके सिर से खून भी बह रहा है। यह देखो, मेरा हाथ लाल हो गया। चलो, जल्दी करो।

होश आने पर सहसा सावित्री
पड़ा—हाय! इस दुनिया में तो मेरा
मैं इस समय कहाँ हूँ? और यह पङ्खा
तुम......नहीं......आप......? उफ़ :.

जयदेव के हाथ से पङ्खा नीचे गिर प
होकर वहाँ से हट गए।

निरोजा ने उसके माथे पर हाथ फेरते हुए कहा—
मैं हूँ बहिन, तुम अपने ही घर में अपनी नीरो के पास हो!

७

सिर्फ पन्द्रह दिनों के भीतर ही सावित्री उस घर पराई से अपनी हो गई। उसके शील-स्वभाव, चाल-ढाल, बातचीत, काम-धन्धों पर सभी लोग मोहित हो गए। स्वयं जयदेव के हृदय में भी उसके प्रति स्नेह और ममता की एक तीव्र धारा बहने लगी। पर वे बड़ी सतर्कता से अपनी भावनाओं को छिपाए रखते थे। उन्हें मालूम होता था, जैसे वे अपने हृदय में इन भावनाओं को पालने के अधिकारी नहीं हैं। जैसे-जैसे वे उसके ऊपर मुग्ध होते जाते थे, वैसे ही वैसे उनकी वेदना बढ़ती जाती थी।

सावित्री ने गृहस्थी का सारा काम सँभाल रक्खा है। किसी काम में किसी और को हाथ नहीं लगाने देती—सब कर लेती है। पर रसोई बनाने के काम में निरोजा उस

इस याचना में न लज नहीं रहती। जबरदस्ती चौके म घुस
चुकीली थी कि जयदेव व मिल कर भोजन तैयार करती हैं।
कर वे उसकी ओर देख ह आई है, जयदेव का कमरा कुछ दूसर
कर कहा—आप कृपा तावों पर नाम-मात्र को भी धूल नहीं
लिए बहुत दुःख हो व साफ रहता है; सब चीजें अपनी-अपनी
इस पर सजाई रहती हैं: जूतों का पॉलिश कभी फीका
क ीं पड़ने पाता; कपड़े अच्छी तरह तह किए हुए रहते
हैं; फूलों का गुच्छा कभी सूखने नहीं पाता, इत्यादि। यही
आक नहीं ाके नहलाने-धुलाने और कपड़े कचारने का काम
ा ने अपना लिया है। यहाँ तक कि सवेरे उनके उठने के
पहले ही वह रोज शौचालय देख आती है कि वह खूब
साफ़ सुथरा है या नहीं। नहीं होता है तो उसमें स्वयं एकाध
बालटी पानी छोड़ देती है और उनके लोटे में पानी भर कर
वहाँ रख आती है। यह सब तो करती है, पर उनका सामना
बहुत बचाती है, बोलती तो उनसे प्रायः है ही नहीं।

उसकी यह कार्य-पटुता, एकाग्रनिष्ठा और गम्भीर अनु-
रक्ति देख कर जयदेव बाबू भीतर ही भीतर घुले जा रहे
थे। त्याग, साधना, संयम और सेवा का यह सम्मिलित
सौन्दर्य उन्हें पागल बना रहा था। वे उसके सामने सिर
ऊँचा करके चल नहीं सकते थे, सामने खड़े नहीं रह सकते
। यहाँ तक कि उन्होंने हवेली के भीतर ...